पुस्तक प्राप्ति-स्थान

(१) श्री अमोल जैन ज्ञानालय,
तेली गली, पो० धूलिया
(पश्चिम खानदश)

(२) प० रतनलाल सघवी
पो० छोटी सादड़ी,
वाया-नीमच (सी. आई)

प्रथम आवृत्ति १५००
मूल्य २॥।)

मुद्रक
कन्हैयालाल पृ शाह, दी ओरिएण्ट प्रिंटिंग हाउस, नईवाड़ी-
दादी सेठ अग्यारी लेन, बम्बई न. २

समपण

तपो निधि, बाल ब्रह्मचारी, साहित्य सेवी,
आचार्य प्रवर, पूज्य गुरु देव श्री १००८ श्री;
स्वर्गीय अमोलक ऋषि जी महाराज के
पुनीत चरण कमलो में—

परम आराध्य देव !

आप ही की सत् कृपा से मेरी यह आत्मा मोक्ष-पथ की पथिक बन सकी है, सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र की आराधना करने वाली हो सकी है, दुर्लभ मुनि पद और वीतराग-वाणी को प्राप्त कर सकी है, इस प्रकार आप जैसे महान् सन्त और गुरु देव के अनन्य उपकार और सात्विक प्रेम से आकर्षित होकर श्री सघ तथा जनता की सेवा के लिए आप के पवित्र चरण कमलो में श्रद्धा के साथ यह ग्रंथ समर्पित है ।

रायचूर
दीपमालिका २००७

लघु-सेवक
मुनि कल्याण ऋषि.

धन्यवाद

इन प्रेमी सज्जनो ने उदारता पूर्वक ज्ञान प्रचार के लिये और धार्मिकता के विकास के लिये इस ग्रथ के प्रकाशन के लिये निम्न प्रकार से आर्थिक सहायता प्रदान की है, जिसके लिये धन्यवाद के साथ अपना आभार प्रकट करता हूँ।

६२५) श्री बोहरा ब्रदर्स, रायचूर,
३७५) श्री माणकचद जी पूसालालजी, रायचूर.
३७५) श्री जैन सघ, सिंधनूर (जिला-रायचूर)
२५०) श्री बस्तीमलजी मूथा की धर्म पत्नी श्री पतासा बाई की ओर से, रायचूर.
२५०) श्री राजमलजी खेमराजजी भडारी, रायचूर,
२५०) „ तेजमलजी उदयराजजी रूणवाल, रायचूर
२५०) „ गुलाब चन्दजी, चौथमलजी बोहरा रायचूर
२५०) „ जैन सघ, गजेन्द्रगढ (जिला धारवाड़)
२५०) श्री रवीवराजजी चौरडिया की धर्मपत्नी श्री भंवरीबाई की ओर से, मद्रास.
२५०) श्री सलहराजजी राका की धर्मपत्नी श्री दाखाबाई की ओर से, मद्रास.
२५०) श्री जयवतमलजी चौरडिया के सुपुत्र श्री मोहनलालजी, मद्रास
१२५) श्री कालुरामजी चॉदमलजी मूथा, रायचूर.
१२५) „ नेमिचद जी हीरालाल जी, रायचूर
६२॥) „ लालचद जी वाघमार की धर्मपत्नी श्री सूरजबाई की ओर से, रायचूर
६२॥) श्री सज्जनराजजी किशनलालजी, रायचूर.

निवेदक
सपादक.

प्रतियां—परिचय और सूचना

[जिन आगम-प्रतियो से ये सूक्तियां सकलित की गई है, उनका परिचय और तत्सम्बन्धा सूचनाऐं इस प्रकार है]

१—दशवैकालिक सूत्र और २ उत्तराध्ययन सूत्र

पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा सपादित और लाला ज्वाला प्रसाद जी तथा जैन शास्त्र माला कार्यालय लाहौर द्वारा क्रम से प्रकाशित।

३—सूयगडाङ्ग सूत्र.

स्वर्गीय आचार्य श्री जवाहिरलाल जी महाराज द्वारा सपादित और श्री सघ राजकोट द्वारा प्रकाशित।

४—आचाराङ्ग सूत्र.

सिद्ध-चक्र साहित्य प्रचारक समिति वम्वई द्वारा प्रकाशित।

५—उववाइ सूत्र, ६ ठाणांग सूत्र और ७ नंदी-सूत्रः

स्वर्गीय आचार्य श्री अमोलख ऋषि जी महाराज द्वारा अनुवादित और लाला जैन-शास्त्र भंडार हैदरावाद द्वारा प्रकाशित।

सूचनाऐं

१—सूयगडाङ्ग-सूत्र की सूक्तियाँ केवल प्रथम श्रुत स्कध मे से ही और उत्तराध्ययन सूत्र की सूक्तियाँ प्रथम से वतीस अध्ययन में से ही सकलित का गई है।

२—आचाराग सूत्र की सूक्तियाँ, वम्वई की प्रति में जिस क्रम से रख दिया गया है, उसी क्रम से सख्यानुसार उद्धृत की गई है।

३—उववाई-सूत्र की सूक्तियाँ केवल सिद्ध—वर्णन में से ही ग्रहण की गई है।

४—नदी सूत्र की केवल प्राथमिक मंगलाचरण की गाथाओ में से ही कुछ एक सूक्तियाँ ली है।

५—ठाणाङ्ग सूत्र की सूक्तियाँ स्थूल दृष्टि कोण से ही एकत्र की गई है।

६—इन सात सूत्रो में सग्रहित सूक्तियो के अलावा और भी अनेक सूक्तियाँ है, जिन्हे यथा समय सुविधानुसार अन्य सूत्रो की सूक्तियो के साथ द्वितीय भाग में सकलित करने की भावना है।

संकेत-परिचय

द.	दशवैकालिक	सूत्र
उ.	उत्तराध्ययन	,,
सू.	सूयगडाङ्ग	,,
आ.	आचाराङ्ग	,,
उव	उववाइ	,,
ठाणा	ठाणाङ्ग	,,
न.	नदी	,,

'सूत्र वाचक' "अक्षर" के आगे पहली संख्या "अध्ययन" का नम्बर कहलाती है और दूसरी सख्या उसी अध्ययन की गाथा का नवर समझाती है।

उ	उद्देशा
उ. १ =	उद्देशा पहला
उ २ =	उद्देशा दूसरा
उ ३ =	उद्देशा तीसरा
उ ४ =	उद्देशा चौथा
उ ५ =	उद्देशा पाचवा
उ ६ =	उद्देशा छट्ठा

इसी प्रकार 'उ" के आगे "उद्देशा" के नवर के आगे की सख्या उसी उद्देशा के उस सूत्र का क्रम नवर समझाती है।

= गद्य

सख्या = नदी सूत्र की प्रारभिक गाथाओ के क्रम नवर को समझाती है।

= उववाइ सूत्र का सिद्ध वर्णन।

सिद्ध. सख्या = उववाइ सूत्र के सिद्ध-वर्णन सबधी गाथाओ के क्रम नवर समझना।

ठा० सख्या = ठाणांग सूत्र के ठाणो का क्रम नवर समझना।

ठा० सख्या-सख्या= ठाणाङ्ग सूत्र के ठाणो के सूत्रो का क्रम नवर है।

मेरा निवेदन

—०—

सम्माननीय पाठक गण !

आज आपकी सेवा मे यह जैनागम सूक्ति सुधा प्रथम भाग प्रस्तुत करते अपूर्व आनद अनुभव हो रहा है ।

पुस्तक का प्रमुख और सर्वोत्तम ध्येय जनता का नैतिक धरातल ऊँचा उठाना और वास्तविक आत्म-शाति का अनुभव कराना है । जिससे कि चारित्र शीलता के साथ जन साधारण की सेवा-प्रवृत्ति का विकास हो ।

और जैन दर्शन की मान्यता है कि विना चारित्र शीलता के जनता की सेवा वास्तविक अर्थ में नही हो सकती है । चारित्र-शीलता, अनुशासन-प्रियता, और सेवा-वृत्ति ही किसी भी राष्ट्र की स्थायी नाव होती है, जिसके आधार पर ही राष्ट्र की सभ्यता, सस्कृति, शाति और समुन्नति का सर्वतोमुखी विकास हो सकता है । नैतिक धरातल के अभाव मे राष्ट्र का पतन ही होता है, उन्नति नहा हो सकती । आज भारतवर्ष का जो नानाविध आर्थिक, सामाजिक और अन्य कठिनाइयो का गभीर अनुभव हो रहा है, उसके मूल में नैतिकता का और सात्विकता का अभाव ही कारण है । जैन धर्म निवृत्ति का जो उपदेश देता है, उसका तात्पर्य जीवन में निष्क्रियता या अकर्मण्यता से नहा है, बल्कि अनासक्तता और सात्विकता पूर्ण नैतिकता वाला जीवन व्यतीत करते हुए जनता की सर्व-विधि सेवा करना जैन धर्म के अनुसार सच्ची प्रवृत्ति है, और ऐसी प्रवृत्ति ही आत्म-शाति प्रदान कर सकती है । ऐसी प्रवृत्ति वाले के लिए कहा गया है कि:—

"जे आसवा ते परिस्सवा" और "समिय ति मन्नमाणस्ससमिया वा असमिया वा समिआ होई।" अर्थात् जिन्हे साधारण तौर पर आश्रव कहा जाता है और जिसे मिथ्यात्व माना जाता है, वे ही कार्य और प्रवृत्ति "अनासक्त और नैतिकता" वाले के लिये सवर तथा सम्यक्त्व बन जाया करते है। अतएव जैन धर्म की निवृत्ति का अर्थ अकर्मण्यता एव निष्क्रियता नही माना जाय।

महात्मा गांधी का जीवन अनासक्त और निवृत्ति वाला होता हुआ भी महती प्रवृत्ति वाला ही था, इसी तरीके से जीवन का व्यतीत करना, जीवन में उच्च से उच्च गुणो को स्थायी रूप से विकसित करना, नैतिकता तथा सात्विकता को आधार बना कर जीवन को आदर्श बनाना, यही इस पुस्तक का तात्पर्य और उद्देश्य है। आशा है कि पाठकगण इससे समुचित लाभ उठावेगे।

पुस्तक-रचना के समय यह दृष्टिकोण रक्खा गया है कि बालक, विद्यार्थी, अध्यापक, श्रावक, श्राविका, साधु, साध्वी, व्याख्याता, उपदेशक, लेखक और जन साधारण सभी के लिये पुस्तक उपयोगी हो। इसीलिए टीका, छाया और पारिभाषिक शब्द कोष (व्याख्या-कोष)—की रचना की गई है। प्राकृत शब्द कोष सार्थ और मूल सूक्तियो की सस्कृत—छाया भी देने का पूरा विचार था। परन्तु पुस्तक की पृष्ठ-सख्या आशा से अधिक बढ जाने के कारण यह विचार अभी स्थगित ही रखना पडा है। प्राकृत-शब्द कोष तैयार किया जाकर प्रेस में दिया ही जाने वाला था, परन्तु अन्तिम समय मे उसे रोक देना पडा।

सभी सूक्तिया अकार आदि क्रम से—कोष पद्धति से—परिशिष्ट न. १ मे दी है जिससे कि स्वाध्याय करने वालो के लिये और अनुसधान करने वालो के लिए सुविधा रहे।

मूल शाब्दिक स्वरूप समझाने के लिये शब्दानुलक्षी अनुवाद भी दिया है। टीका को व्यवस्थित समझाने के लिए टीका में आये हुए पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या भी दी है।

इस प्रकार जन साधारणके लिये यह पुस्तक उपयोगी प्रतीत हुई तो दूसरे संस्करणमे—संस्कृत छाया और प्राकृत शब्द कोष भी जोड़ने का विचार है । सूक्तियो की प्रामाणिकता के लिये और मूल स्थान का अनुसधान करने के लिये प्रत्येक सूक्ति के नीचे आगम–नाम, और अध्ययन का नंबर तथा गाथा का नंबर तक दे दिया गया है । जिससे कि व्याख्यान देते समय और निबन्ध–लेख आदि लिखते समय सूक्तियो का समुचित उपयोग किया जा सके ।

पुस्तक में अनेक स्थानो पर विषय का पिष्ट-पेषण सा प्रतीत होता है, इसका कारण अनेक सूक्तियो की सदृश स्थिति है, जिससे कि विवशता है ।

पुस्तक के निर्माण करने मे श्री वीर वर्धमान श्रमणसंघ के प्रधान जैनाचार्य पंडितवर श्री आनन्द ऋषिजी महाराज के आज्ञानुवर्ती मुनिश्री कल्याण ऋषिजी महाराज और मुनिश्री मुलतान ऋषिजी महाराज और महासतीजी प्रवर्तिनीजी श्री सायर कुंवर महाराज का सहयोग और सहानुभूति प्राप्त रही है, अतएव इन संतो का मै आभारी हूँ ।

यदि इनका कृपा—पूर्ण सहयोग नही होता तो पुस्तक इस रूप में शायद ही उपलब्ध हो सकती थी । मुनि श्री कल्याण ऋषिजी महाराज बाल ब्रह्मचारी है, विनयी है, साहित्यानुरागी है और भद्र प्रकृति के साधु है ।

इसी प्रकार मुनि श्री मुलतान ऋषिजी महाराज योग्य सलाहकार, दीर्घ-दर्शी, विवेकी और व्यवहार कुशल है ।

जैनाचार्य कविवर श्री नागचन्द्रजी महाराज की भी समय समय पर उत्तम सलाहे प्राप्त होती रही है, अतएव उन्हे भी धन्यवाद है ।

पुस्तक की छपाई सम्बन्धी सभी प्रकार की व्यवस्था करनेके "जैनप्रकाश बम्बई" के सहसपादक श्रीयुत रत्नकुमारजी 'रत्नेश' ने काफी श्रम उठाया है, इसके लिये उनका भी आभार प्रदर्शित करता हूँ।

जिन सात आगमोकी प्रतियो से ये सूक्तियाँ सग्रहित की गई हैं उनके सपादको का और प्रकाशको का भी मैं कृतज्ञ हूँ।

कलापूर्ण छपाई और शुद्धि की ओर मेरा खास ध्यान रहा है, और इसके लिये प्रयत्न तथा अपेक्षाकृत अधिक खर्च भी किया है, फिर भी त्रुटियो का रह जाना स्वाभाविक है, इसके लिये पाठक गण क्षमा करे, और उन्हे सुधार कर पढनेकी कृपा करे।

पुस्तक की त्रुटियो और अशुद्धियो के सबधमें पाठक गण मुझे लिखने की कृपा करेगे तो मै उनका परम कृतज्ञ रहूँगा, तथा सूचनानुसार दूसरी आवृत्ति मे सुधारने का प्रयत्न करूँगा।

अन्तमे यही निवेदन है कि यदि इस पुस्तक से पाठको को कुछ भी लाभ पहुँचा तो मै अपना यह श्रम साध्य सारा प्रयत्न सफल समझूगा। ॐ शान्ति!

विजयदशमी,
सवत् २००७

विनीत

—०—

विषय--सूची

(सूक्तियाँ-संबंधी)

—०—

नोट —कुल सूक्तियों की संख्या ९२५ है ।

परिशिष्ट

शुद्धि-पत्र

सूचना :—१—पुस्तक में ध्यान पूर्वक प्रुफ संशोधन करनें पर भी कई एक त्रुटियां रह गई है, अतएव कृपालु पाठक सुधार कर पढने की कृपा करें।

२ :—छपते समय चलती मशीन में भूमिका भाग मे और पुस्तक मे "काना, मात्रा अनुस्वार, रेफ, ऋ," आदि कई एक चिह्न अत्यधिक मात्रा में अनेक स्थानो पर टूट गये है, यदि इन त्रुटित-मात्राओ का शुद्धि पत्र तैयार किया जाता तो बहुत बड़ा शुद्धिपत्र तैयार हो जाता, इसलिये ध्यान पूर्वक मात्राओको यथा स्थान पर जोड़ते हुए सुधार कर पढने का प्रार्थना है।

३:—शुद्धि-पत्र में नीचे पृष्ठ की पक्तियो की गणना में " पृष्ठ सख्या, सूत्र सख्या, और सबध निर्देश भी" एक एक पक्ति के रूप मे गिने है, यह बात ध्यान में रहे।

भूमिका भाग

पृष्ठ संख्या	पक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
२	८	वज्ञान	विज्ञान
४	२२	आसाधारण	असाधारण
५	२	वग	वर्ग
६	२	विश्क	विश्व
८	५	दाव	दान
९	२३	प्रेमा	प्रेमी
९	२३	बखूबा	बखूबी

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
१०	२७	रूपान्तर	रूपान्तर है
११	१२	अनतनत	अनंतानत
११	२९	वकास	विकास
१२	७	अ त	अनत
१२	२३	मक्त	मुक्त
१२	२५	होती	होती है
१४	१	४१	१४
१४	१८	नता	जाता
१६	१५	इम	इस
१६	२३	सहचरी	सहचारी
१६	२६	अनित्य	अनित्यत्व
१७	४	जता	जाता
२०	२०	पराक्षण	परीक्षण
२३	२	दृश्ययान	दृश्यमान
२४	२६	सा	सो
२४	२७	जावन	जीवन
२५	२४	शली	शैली
२६	३	में	मे
२६	१७	२००९	२००७

———

पुस्तक-भाग

पृष्ठ सख्या	पक्ति सख्या	अशुद्ध	शुद्ध
३	८	सट्ठे	सेट्ठे
४	१२	वधू	बधू
४	२५	णदो	णदो
५	२२	मुणा	मुणी
८	१३	कृति	आकृति
२८	१२	सासार	ससार
२९	२०	लसएज्जा	लूसएज्जा
३६	२५	विइं	विरइ
३९	१०	स्थिति	स्थित
४२	१९	सिद्ध	सिद्धे
५१	१६	विदित्तण	विदित्ताण
५१	२३	रज्जमण	रज्जमाण
५१	२३	वरज्जइ	विरज्जइ
५५	२	अणुत्तर	अणुत्तरे
५७	३	लभज्जा	लभेज्जा
६३	११	एभूहि	भूएहि
६४	१६	अणयाण	अणियाण
७५	३	स	मुस
७७	३	आलाव	आलावे
७७	११	पोलना	बोलना
८०	८	ज०	द०
८३	११	काया	मन, वचन, काया
८४	१०	इत्थाण	इत्थीणं

पृष्ठसंख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
८४	१८	मुवयति	मुवयति
८५	२२	तो	तो भी
८६	१३	आहार	आहार
८९	३	म	मे
९०	२२	निवड्य	निवड्य
९३	१२	हुवन्ति	हवन्ति
९४	८	तमं	तुम
९४	२३	अभिपत्थएज्ज	अभिपत्थएज्जा
९५	२४	कर्मण्य	कर्त्तव्य
१०६	१८	वयवी	वेयवी
१०६	२५	धम्म	धम्म
१११	३	सविज्ज	सेविज्ज
११४	१६	अवह	अवराह
१२२	३	सव	सव्व
१२४	९	धितिम	धितिम
१२४	१९	सवएज्जा	सवएज्जा
१२७	१९	अससत्त	अससत्तं
१२९	३	मव	मेव
१३२	१७	अत्तामण	अत्ताण
१३४	३	वण्ण	वण्ण
१३४	२३	माइवट्टेज्ज	माइ वट्टे ज्जा
१३५	११	घोर	और
१३५	१३	सणे	सेणे
१३५	२२	म	मे
१३९	१५	अभिसधए	अभिसधए
१४१	२६	ठाण	ठाणं

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
१४२	१०	धर्म ध्यान	धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान
१४३	२२	मार्यदा	मर्यादा
१४३	२६	एगत	एगंत
१४३	२७	वज्झिज्ज	वुज्झिज्ज
१४३	२७	लायस्स	लोयस्स
१४४	१५	रीतो	रोति
१४४	२४	आर्त्तध्यान	आर्त्तध्यान आर रौद्र ध्यान
१४५	३	गाच्छिज्जा	गच्छिज्जा
१४५	७	भावनाओ से	भावनाओं से से दूर रहो
१४५	१०	अप्पग	अप्पगं
१४७	२४	अणुक्कसई	अणुक्कसाई
१४८	२१	असक्ति	आसक्ति
१५४	४	समाहिपत्त	समाहि पत्ते
१५४	१८	सधए	सधए
१६०	४	सजमे	सजमे
१६५	५	अपनी	अपने
१६६	२४	हुरिम	हिरिम
१६६	२४	पडिसंलणे	पडिसंलीणे
१६७	१७	श्राद्धावान्	श्रद्धावान्
१६८	२२	मोहावी	मेहावी
१७०	५	रय	रय
१७१	६	कम्मेहि	कम्मेहिं
१७३	२४	सया	सया

ऊ

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
१७५	२४	पडा समाणे	पडाग समाणे
१८१	२५	पणाए	पणए
१८२	१३	माहिय	माहिय
१८७	३	रूव	रूव
१८८	२४	वचन को	वचन और काया को
१९१	२७	जा	जो
१९१	२८	अकलियं	अकालिय
१९३	१०	समहि	समाहि
११९३	१८	इदिए	इंदिए
१९३	१९	सु	सु
१९८	२०	मुल	मूल
१९८	२१	कर्त्त	कर्त्ता
२००	१०	पर	पर
२०१	१४	मध्य	मध्यम और उत्कृष्ट
२०१	२४	वदति	वेदति
२०४	९	अमणुन्ना	अमणुन्न
२०४	९	मह्नु	माहु
२०४	२३	कुत्ता	वुत्ता
२०४	२५	उ, २३,	उ, २३; ५२,
२०६	३	वेराणु बधीणि	वेराणु बधीणि
२०७	३	पडिग्घाओ	पडिग्घाओ
२०८	३	दसी	दसी
२०८	१४	आत्तणं	अत्ताण
२०८	१४	समुक्कस	समुक्कसे
२१०	२२	दसा	दसी
२१०	२४	मी	मी

पृष्ठ सख्या	पक्ति सख्या	अशुद्ध	शुद्ध
२१०	२६	अविना भाव	अबिना भाव
२१६	८	इम	इमे
२१९	५	काम भोगणु	काम भोगाणु
२१९	१९	इत्थसु	इत्थिसु
२२०	३	फला	फला
२२०	२८	जत	जति
२२२	१९	कलुमार	कलुसाहमा
२२४	१३	थम्मा	थम्भा
२२६	१५	उ, १ ३४,	उ, १, १४,
२२८	६	पहुचना	पहुंचाना
२२८	८	चरमणो	चरमाणो
२२९	१७	मल	मूल
२३१	१८	वभव	वैभव
२३३	७	तष्णा	तृष्णा
२३३	१२	लोभ	लोभ
२३७	७	समारम	समारभ
२३७	१९	भोगण	भोगाण
२४०	१६	परियट्टइ	परियट्टई
२४१	१३	भोगा	भोगो
२४५	३	परिभवइ	परिभवई
२४५	१०	पावया	पाविश्रा
२४५	१७	वत्ति	वृत्ति
२४८	२५	दिट्ठो	दिट्ठी
२५२	७	मड़ारभयाए	महारभयाए
२५२	९	कुणिम	कुणिमा
२५४	१४	मढे	मूढे
२५५	८	लुष्पन्ति	लुप्पन्ति

पृष्ट संख्या	पक्ति सख्या	अशुद्ध	शुद्ध
२५५	१५	नइतुट्टति	नाइतुट्टति
२५६	५	मढे	मूढे
२५६	१६	तिस्कार	तिरस्कार
२५६	१८	वाहरिय	वाहिरिय
२५७	२१	सू•, २१	सू०, २, २१
२५८	४	त	त
२५८	११	मरणहिं	मरणेहिं
२५८	२६	वद्धामो	वुद्धामो
२५९	२२	उज्जाणसि	उज्जाणसि
२६०	२०	पकुव्वमाणे	पकुव्वमाण
२६१	२७	इन्द्रीय	इन्द्रिय
२६२	१३	सू, १, ११७,	सू०, १, १७,
२६२	२६	उ०, १०,	सू०, १०,
२६४	२४	सू, १, २२,	सू, १, २३,
२६५	१०	दुक्ख	दुक्खे
२६६	३	उज्झमाणं	उज्झमाण
२६७	३	नाएसु	नरएसु
२७१	२३	असविभागी	असविभागी
२७४	१३	उ, २३, २६,	उ; २३, २६
२७९	१४	कुग्गाहिए	वुग्गाहिए
२८१	४	सा।ध्वियो	साध्वियो
२८२	१०	विकह्राओ	विकहाओ
२८२	१७	झाण	झाणे
२८२	२२	वव्वे	कव्वे
२८५	३	लोर	लोग

भूमिका

मानव संस्कृति में

जैन-दर्शन

का

योग-दान

★

भूमिका की विषय सूची

मानव संस्कृति में जैन दर्शन का योग-दान

विषय-प्रवेश :

विशाल विश्व के विस्तृत साहित्यिक और सास्कृतिक प्रागण में आज दिन तक अनेक विचार धाराऐ और विविध दार्शनिक कल्पनाऐं उत्पन्न होती रही है, और पुन काल क्रम से अनन्त के गर्भ में विलीन हो गई है। किन्तु कुछ ऐसी विशिष्ट, शातिप्रद, गभीर तथा तथ्य युक्त विचार धाराऐं भी समय समय पर प्रवाहित हुई है, जिनसे कि मानव-सस्कृति मे सुख-शाति, आनन्द-मगल, कल्याण और अभ्युदय का सविकास हुआ है।

इन दार्शनिकता और तात्विकता प्रधान विचार धाराओ मे जैन दर्शन तथा जैन-धर्म का अपना विशिष्ट और गौरव पूर्ण स्थान है। इस जैन-विचार धारा ने मानव-सस्कृति मे और दार्शनिक जगत् मे महान् कल्याणकारी और क्राति-युक्त परिवर्तन किये है। जिससे मानव-इतिहास और मानव-संस्कृति के विकास की प्रवाह-दिशा ही मुड गई है। जैन-धर्म ने मानव-धर्मों के आचार-क्षेत्र और विचार-क्षेत्र, दोनो में हा मौलिक क्राति की है, दोनो ही क्षेत्रो मे अपनी महानता की विशिष्ट और स्थायी छाप छोड़ी है।

चौबीस तीर्थकरो सबधी जैन-परपरा के अनुसार जैन धर्म की प्राचीन मीमासा और समाक्षा नही करते हुए आधुनिक इतिहास और विद्वानों द्वारा मान्य दीर्घ तपस्वी भगवान महावीर स्वामी कालीन इतिहास पर विचार पूर्वक दृष्टिपात करे तो प्रामाणिक रूप से पता चलता है कि उस युग मे भारत की सस्कृति वैदिक रीति-नीति प्रधान थी। उत्तर भारत

और दक्षिण भारत के अधिकांश भाग में वैदिक यज्ञ-याग करना, वेद-मंत्रों का उच्चारण करके जीवित विभिन्न पशुओ को ही अग्नि मे होम देना, बलिदान किये हुए पशुओ के मास को पका कर खाना और इसी रीति से पूर्वजो का यज्ञ के मास द्वारा तर्पण करना ही धर्म का रूप समझा जाता था। ईश्वर के अस्तित्व को एक विशिष्ट शक्ति के रूप में कल्पना करके उसे ही सारे विश्व का नियामक, कर्त्ता, हर्त्ता और स्रष्टा मानना, वर्ण-व्यवस्था का निर्माण करके शूद्रो को पशुओ से भी गया बीता समझना, इस प्रकार की धर्म-विकृति महावीर-युग में हो चली थी।

समाज पर और राज्य पर ब्राह्मण-सस्कृति का प्राधान्य हो चला था, वेदानुयायी पुरोहित वर्ग राजा-वर्ग पर अपना वर्चस्व स्थापित कर चुका था, और इस प्रकार समाज मे ब्राह्मण तथा क्षत्रिय ही सर्वस्व थे। धर्म-मार्ग "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" के आधार पर कलुषित तथा उन्मार्ग गामी हो चला था। ऐसी विषम और विपरीत परिस्थितियो में दीर्घ तपस्वी महावीर स्वामी ने इस तपोपूत ऋषि-भूमि भारत पर आज से २५०६ वर्ष पूर्व जैन-धर्म को मूर्त्त रूप प्रदान किया। चूकि वर्तमान जैन-दर्शन की धारा भगवान महावीर-काल से ही प्रवाहित हुई है, अतएव इस निबन्ध की परिधि भी इसी काल से सबधित समझी जानी चाहिये, न कि प्राक् ऐतिहासिक काल से।

महावीर स्वामी ने इस सारी परिस्थति पर गभीर विचार किया और उन्हे यह तथाकथित धार्मिकता विपरीत, आत्म-घातक, पाप-पंक से कलुपित और मिथ्या-प्रतीत हुई। उन्होने अपने आसाधारण व्यक्तित्व के बल पर मानव जाति के आचार-मार्ग में और विचार क्षेत्र में आमूल चूल ऐतिहासिक क्राति करने के लिये अपना सारा जीवन देने का और राजकीय तथा गृहस्थ सबधी भोगोपभोग जनित सुखो का बलिदान देने का दृढ निश्चय किया।

इनके मार्ग मे भयकर और महती कठिनाइयाँ थी, क्योकि इन द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली क्राति का विरोध करने के लिये भारत का तत्कालीन

सारा का सारा ब्राह्मण वर्ग और ब्राह्मण वग का अनुयायी करोडो की सख्या वाला भारतीय जनता का जनमत था। राज्य-सत्ता और वैदिक अध-विश्वासों पर आश्रित अजेय शक्ति-युक्त जन-मत इनके क्राति मार्ग पर, पग पग पर, काटे बिछाने के लिये तैयार खडे थे।

निर्मम और निर्दय हिंसा प्रधान यज्ञो के स्थान पर आत्मिक, मानसिक तथा शारीरिक तप-प्रधान सहिष्णुता का उन्हे विधान करना था, मासाहार का सर्वथा निपेध करके अहिंसा को ही मानव-इतिहास मे एक विशिष्ट और सर्वोपरि सिद्धान्त के रूप में प्रस्थापित करना था। ईश्वरीय विविध कल्पनाओ के स्थान पर स्वाश्रयी आत्मा की अनत शक्तियो का दर्शन कराकर वैदिक मान्यताओ में एव वैदिक विधि-विधानो में क्राति लाना था। ईश्वर और आत्मा संबंधी दार्शनिक विचार धारा को आत्मा की ही प्राकृतिक अनतता में प्रवाहित करना था।

इस प्रकार असाधारण और विपमतम कठिनाइयो के बीच तप, तेज, और त्याग के वल पर भगवान महावीर स्वामी द्वारा प्रगति दिया हुआ विचार-मार्ग ही जैन-धर्म कहलाया।

इस प्रकार भगवान महावीर स्वामी का महान् तपस्या पूर्ण बलिदान बतलाता है कि उन्होने अपनी तपोपूत निर्मल आत्मा में धर्म का मौलिक स्वरूप प्राप्त किया, जिस के वल पर उनका आध्यात्मिक काया-कल्प हो गया। ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा, आत्म विश्वास और भूतदया के अमूल्य तत्त्व उनकी आत्मा में परिपूर्णता को प्राप्त हो गये।

उनके महान् ज्ञान ने उन्हें सपूण ब्रह्माड के अनादि, अनन्त और अपरिमेय एवं शास्वत् धर्म-सिद्धान्तो के साथ सयाजित कर दिया। जहा संसार के अन्य अनेक महात्मा इतिहास मे खडे है, वहीं हम प्रात स्मरणीय महावीर स्वामी को अपने अलौकिक आत्म तेज से असाधारण तेजस्वी के रूप में देखते है। उनका तपस्या से प्रज्वलित जीवन, सत्य और अहिंसा के दर्शन के लिये किया हुआ एक अत्यत और असाधारण शक्तिशाली सफळ प्रयत्न दिखलाई पडता है। सत्य और अहिंसा की समस्या को उन्होनें अपने आत्म वलिदान द्वारा सुलझाया। आज के इस वैज्ञानिकता प्रधान

विश्व में हम में से प्रत्येक को उसे अपने लिये सुलझाना है। उनका आदर्श, उनकी कष्ट सहिष्णुता, और ध्येय के प्रति उनकी अविचल दृढ निष्ठा हमें बल और सकेत प्रदान करती है। हमारे धैर्य को सहारा देती है, और बतलाती है कि यही मार्ग सच्चा है। इसी मार्ग द्वारा हम अवश्य सफल हो सकते है, बशर्ते कि हमारे प्रयत्न भी सच्चे हो। अब हमे यह देखना है कि भगवान् महावीर स्वामी ने जैन-धर्म के रूप मे विश्व-सस्कृति के आचार-क्षेत्र तथा विचार-क्षेत्र को क्या २ विशेषताऐ प्रदान की है।

अहिंसा की प्रतिष्ठा

मानव—जाति का आज दिन तक जितना भी प्रामाणिक और विद्वत् मान्य इतिहास का अनुसधान पूर्ण पता चला है, उससे यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि भगवान महावीर स्वामी द्वारा सचालित जैनधर्म के पूर्व इस पृथ्वी पर सपूर्ण मानव-जाति मॉसाहारा थी, विविध पशुओ का मास खाने मे न तो पाप माना जाता था और न मासाहार के प्रति परहेज ही था एव न घृणा ही। ऐतिहासिक उल्लेखानुसार सर्व प्रथम "मानव-जाति में से मासाहार को परित्याग कराने की परिपाटी और परपरा" प्रामाणिक रूप से तथा अविचल दृढ श्रद्धा के साथ जैन-धर्म ने ही प्रस्थापित की।

ज्ञान-बल पर और आचार-बल पर मानव-जाति को मासाहार से मोडने का सर्व-प्रथम श्रेय जैन-धर्म को ही है। इस प्रकार विश्व-धर्मों की आधार-शिला एव प्रमुखतम सिद्धान्त अहिंसा ही है तथा अहिंसा ही हो सकती है। ऐसी महान् और अपरिवर्तनीय मान्यता मानव-जाति में पैदा करने वाला सर्व-प्रथम धर्म जैन-धर्म ही है, इस ऐतिहासिक तत्त्व को विश्व के गण्य मान्य विद्वानो ने सर्व सम्मत सिद्धान्त मान लिया है। जैनेतर धर्म अहिंसा की इतनी सूक्ष्म, गभीर और व्यवहार योग्य योजना प्रस्तुत नही करते है, जैसी कि जैन-धर्म करता है।

जैन धर्म ने अपने कठिन तप-प्रधान आचार-बल के आधार पर और अकाट्य तर्क सयुक्त ज्ञान-बल के आधार पर सपूर्ण हिन्दूधर्म बनाम वैदिक धर्म पर और महान् व्यक्तित्व शील बौद्ध धर्म पर ऐसी ऐतिहासिक अमिट छाप डाली

कि सदैव के लिये "अहिंसा ही धर्म की जननी है" यह सर्वोत्तम और स्थाई सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया। जैन धर्म की इस अमूल्य और सर्वोत्कृष्ट देन के कारण ही ईसाई, मुस्लिम, आदि इतर धर्मों मे भी अहिंसा की प्रकाश युक्त किरणें प्रविष्ट हो सकी है।

जैन-सस्कृति सदैव अहिंसावादिनी, सूक्ष्म प्राणी की भी रक्षा करने वाली और मानव-जीवन के विविध क्षेत्रो मे भी अहिंसा का सर्वाधिक प्रयोग करने वाली रही है। इस दृष्टिकोण से जैन-धर्म ने जीव विज्ञान का अति सूक्ष्म और गभीर अध्ययन योग्य विवेचन किया है। जो कि विश्व साहित्य का एक सुन्दर, रोचक तथा ज्ञान-वर्धक अध्याय है।

इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि जैन धर्म की अहिंसा सबधी देन की तुलना विश्व-साहित्य में और विश्व-सस्कृति में इतर सभी धर्मो की देनो के साथ नही की जा सकती है। क्योंकि अहिंसा सबधी यह देन बेजोड है, असाधारण और मौलिक है। यह उच्च मानवता एव सरस सात्विकता को लाने वाली है। यह देन मानव को पशुता से उठा कर देवत्व की ओर प्रगति कराती है। अतः मानव इतिहास मे यह अनुपम और सर्वोत्कृष्ट देन है।

आजके युग के महापुरुष, विश्व-विभूति, राष्ट्रपिता पूज्य गाधी जी के व्यक्तित्व के पीछे भी इसी जैन-सस्कृति से उद्भूत अहिंसा की शक्ति ही छिपी हुई थी, इसे कौन नही जानता है?

जैन धर्म का मानव-व्यवहार

अहिंसा के महान् व्रत और असाधारण सिद्धान्त का मानव-जीवन के लिये व्यवहारिक तथा क्रियात्मक रूप देने के लिये दैनिक क्रियाओ सबधी और जीवन सबधी अनेकानेक नियमो तथा विधि विधानो का भी जैन-धर्म ने सस्थापन और समर्थन किया है। जिन्हे बारह व्रत एव पच महाव्रत भी कहते है। जिनका तात्पर्य यही है कि सम्पूर्ण मनुष्य जाति में अच्छी वृत्तियो का, अच्छे गुणो का और उच्च गृहस्थ धर्म का विकास हो। इस प्रकार मानव-शांति बनी रहे और सभी को अपना अपना विकास करने का सुन्दर एव समुचित-सयोग प्राप्त हो।

उपरोक्त ध्येय को परिपूर्ण करने के लिए इन्द्रियो पर निग्रह करने का, सत्य का आचरण करने का, स्वाद को जीतने का, ब्रह्मचर्य के प्रति निष्ठावान् बनने का, और पात्रता का ध्यान रख कर उदार बुद्धि के साथ विभिन्न क्षेत्रो मे दान आदि देने का जैन-धर्म में स्पष्ट विधान है।

श्री महावीर स्वामी के युग मे लगाकर विक्रम की अठारहवी शताब्दि तक पूजीवाद जैसी अर्थमूलक और शोपक व्यवस्था पद्धति की उत्पत्ति नही हुई थी, अतएव आज के युग-धर्म रूप समाजवाद जैसी विशेप अर्थ-प्रणालि की व्यवस्था जैन-धर्म में नही पाई जाने पर भी समाजवाद का अर्थान्तर रूप से उल्लेख और व्यवहार जैन-धर्म मे अवश्य पाया जाता है, और वह पाँचवे व्रत में अपरिग्रह वाद के नाम से स्थापित किया गया है।

अपरिग्रह वाद की रूप रेखा और इसके पीछे छिपी हुई भावना का तात्पर्य भी यही है कि मानव समाज में धन वाद का प्राधान्य नही हो जाय। जीवन का केन्द्र-चक्र केवल धन वाद के पीछे ही नहीं घूमने लग जाय। जीवन का मूल आधार धन ही नही हो जाय। धन वाद द्वारा मानव-समाज में नाना विध बुराइयाँ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रविष्ट नही हो, बल्कि मानव-समाज धन वाद की दृष्टि से एक ऐसे स्तर पर चलता रहे कि जिससे मानव-जाति अपनी पारमार्थिकता समझ सके और तृष्णा के जाल से दूर ही रह सके। अतएव जैन-धर्म मानव-जाति की त्रैकालिक सुव्यवस्था की ओर सुलक्ष्य देता हुआ महान् मानवता का प्रचार करता है। इस प्रकार प्रकारान्तर से धन वाद की विशेपता को धिक्कारता हुआ समाजवाद बनाम अपरिग्रह वाद पर खास जोर देता है। उपरोक्त कथन से प्रमाणित है कि जैन-धर्म परिपूर्ण अहिंसा की आधार शिलापर, नैतिकता द्वारा जीवन में अपरिग्रह वाद की बनाम समाजवाद की स्थापना करके अपने आपको विश्व-धर्म का अधिष्ठाता घोपित कर देता है। इस प्रकार मानव को आहार में निरामिप भोजी और व्यवहार मे समाज वादी एव विचार मे स्याद्वादी बनाकर यह धर्म ऐतिहासिक क्रान्ति करता हुआ विश्व धर्मों का केन्द्र स्थान अथवा धुरी-स्थान बन जाता है। यह है जैन धर्म की उदात्त और समुज्ज्वल देन, जो कि अपने आप में असाधारण और आदर्श है।

जैन धर्म वर्ण व्यवस्था की विकृति को हेय-दृष्टि से देखता है, इसके विधान में मानव मात्र समान है। जन्म की दृष्टि से न तो कोई उच्च है और न कोई नीच, किन्तु अपने अपने अच्छे अथवा बुरे आचरणो द्वारा ही समाज में कोई नीच अथवा कोई उच्च हो सकता है। छूत-अछूत जैसी घृणित वर्ण-व्यवस्था का जैन-धर्म कट्टर शत्रु है। मानव-मात्र अपने आप में स्वयं एक ही है। मानवता एक और अखड है। सभी प्रकार के सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक विधि-विधानो का मानव-मात्र समान अधिकारी है।

जाति, देश, रग, लिंग, भाषा, वेश, नस्ल, वश और काल का कृत्रिम भेद होते हुए भी मूल मे मानव-मात्र एक ही है। यह है जैन-धर्म की अप्रतिम और अमर घोषणा, जो कि जैन-धर्म की महानता को सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा देती है।

जो व्यक्ति जैन-धर्म को केवल निवृत्ति-प्रधान बतलाता है, वह अपरि-मार्जनीय भयकर भूल करता है। जैन-धर्म सात्विक और नैतिक प्रवृत्ति का विधान करता हुआ, सस्कृति तथा जीवन के विकास के लिये विविध पुण्य के कामो का स्पष्ट उल्लेख और आदेश देता है। कुशल शासक, सफल सेना-पति, योग्य व्यौपारी, कर्मण्य सेवक, और आदर्श गृहस्थ बनने के लिये जैन धर्म में कोई रुकावट नही है। इसीलिये विभिन्न काल और विभिन्न क्षेत्रो में समय समय पर जैन-समाज द्वारा संचालित आरोग्यालय, भोजनालय, शिक्ष-णालय, वाचनालय, अनाथालय, जलाशय और विश्राम-स्थल आदि आदि सत्कार्यो की प्रवृत्ति का लेखा देखा जा सकता है।

लावण्यता और रमणीयता सयुक्त भारतीय कला के सविकास में जैन सस्कृति ने अग्र भाग लिया है, जिसे इतिहास के प्रेमी पाठक बखूबी जानते है।

आत्म तत्व और ईश्वरवाद

ईस्वी सन् एक हजार वर्ष पूर्व से लगा कर ईस्वी सन् बीसवी शताब्दि तक के युग में यानी इन तीन हजार वर्षो मे भारतीय साहित्य के ज्ञान-सम्पन्न प्रागण मे आत्म तत्त्व और ईश्वरवाद के सम्बन्ध में हजारो ग्रंथो का निर्माण

किया गया। कुल मिलाकर लाखो ऋषि-मुनियो ने, तत्त्व चिंतकों और मनीषियो ने, ज्ञानियो एव दार्शनिको ने इस विषय पर गम्भीर अध्ययन, मनन, चिंतन और अनुसधान किया है। इस विषयको लेकर भिन्न २ समयमें सैकड़ो राज्य-सभाओ मे घन-घोर और तुमुल शास्त्रार्थ हुए हैं। इसी प्रकार इस विषय पर मत-भेद होने पर अनेक प्रगाढ पाडित्य सपन्न दिग्गज विद्वानो को देश निकाला भी दिया गया है। शास्त्रार्थ में तात्कालिक पराजय हो जाने पर अनेक विद्वानो को विविध रीति से मृत्यु-दड भी दिया गया है। इस प्रकार भारतीय दर्शन-शास्त्रो का यह एक प्रमुखतम और सर्वोच्च विचारणीय विषय रहा है।

जैन दर्शन ईश्वरत्व को एक आदर्श और उत्कृष्टतम ध्येय मानता है, न कि ईश्वर को विश्व का स्रष्टा और नियामक। अतएव इस पर अपेक्षाकृत अधिक लिखना अप्रासगिक नही होगा।

जैन-दर्शन की मान्यता है कि सपूर्ण ब्रह्माड मे यानी अखिल लोक मे केवल दो तत्त्व ही है। एक तो जड रूप अचेतन पुद्गल और दूसरा चेतना शील आत्म तत्त्व।

इन दो तत्त्वो के आधार से ही सपूर्ण विश्व का निर्माण हुआ है। सारे ही ससार के हर क्षेत्र, हर स्थान, और हर अश में ये दोनो ही तत्त्व भरे पडे है। कोई स्थान ऐसा नही है जहाँ कि ये दोनो तत्त्व घुले मिले न हो। इनकी अनेक अवस्थाऐं हैं, इनके अनेक रूपान्तर और पर्याये है, विविध प्रकार की स्थिति है, परन्तु फिर भी मूल मे ये दो ही तत्त्व है। तीसरा और कोई नही है।

जड पुद्गल अनेक शक्तियो मे बिखरा हुआ है, इसकी सपूर्ण शक्तियो का पता लगाना मानव-शक्ति और वैज्ञानिको के भी बाहिर की बात है। रेडियो, वायरलेस तार, टेली विजन, रेडार, वाष्पशक्ति और विद्युत-शक्ति, अणुबम, कीटाणुबम, हाईड्रोजन बम, इथर तत्त्व, कास्मिक किरणें आदि विभिन्न शक्तियाँ इस जड तत्व की ही रूपान्तर। इस प्रकार की अनतानत शक्तियाँ इस जड तत्त्व में निहित है, जो कि स्वाभाविक, प्राकृतिक

और कालातीत है । इसमें विपरीत चेतन तत्त्व है । यह भी सम्पूर्ण संसार के हर क्षेत्र, हर स्थान और हर अश मे अनेकामूर्त रूप से मानो लोहे के परमाणुओ के समान पिंडीभूत है । जैसे समुद्र के तल से लगाकर सतह तक जल ही जल भरा रहता है और तल-सतह के बीच मे कोई भी स्थान जल से खाली नही रहता है, वैसे ही अखिल विश्व मे कोई भी स्थान ऐसा खाली नही है, जहाँ कि चेतना तत्त्व अनतानत मात्रा मे न हो । जैसे जल के प्रत्येक कण मे जो कुछ तत्त्व और जो कुछ शक्ति है, वैसा ही तत्त्व और वैसी ही शक्ति समुद्र के सम्पूर्ण जल मे है । इसी प्रकार समूह रूपेण पिंडी भूत सम्पूर्ण चेतन तत्त्व मे जो जो शक्तियाँ अथवा वृत्तियाँ है, वे ही और उतनी ही शक्तियाँ एव वृत्तियाँ भी एक एक चेतन कण मे अथवा प्रत्येक आत्मा मे है । ये वृत्तियाँ अनत.नत है, स्वाभाविक याना प्राकृतिक है, अनादि है, अक्षय है, और तादात्म्य रूप है ।

ये शक्तियाँ प्रत्येक आत्मा के साथ सहजात और सहचर धर्म वाली है, सासारिक अवस्था में परिभ्रमण करते समय आत्मा की इन शक्तियो के साथ पुद्गलो का अति सूक्ष्मतम से सूक्ष्मतम आवरण अनिष्ट वासनाओ और सस्कारो के कारण समिश्रित रहता है । इस कारण से ये शक्तियाँ मलीन, विकृत, अविकसित, अर्ध विकसित और विपरीत विकसित आदि नाना रूपो मे प्रस्फूटित होती हुई देखी जाती है ।

चेतन तत्त्व सामुहिक पिड में सबद्ध होने पर भी प्रत्येक चेतन कण का अपना अपना अलग अलग अस्तित्व है । समूह से अलग होकर वह अपना पूर्ण और सागोपाग विकास कर सकता है । जैसा कि हम प्रति दिन देखते है कि मनुष्य, तिर्यंच आदि अवस्थाओ के रूप में विभिन्न चेतन कणो ने अपना अपना विकास कर इन अवस्थाओ को प्राप्त किया है, और यदि विकास की गति नही रुके तो निरन्तर विकास करता हुआ प्रत्येक चेतन कण ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है, जो कि विकास और ज्ञान, पवित्रता एव सर्वोच्चता का अतिम श्रेणी है । "यह परम तम सर्व श्रेष्ठ विकास शील अवस्था" प्रत्येक चेतन-कण में स्वाभाविक है, परन्तु उसका विकास कर सकना अथवा विकास नही कर सकना यह प्रत्येक चेतन कण का अपने अपने प्रयत्न और

किया गया। कुल मिलाकर लाखो ऋषि-मुनियो ने, तत्त्व चिंतको और मनीषियों ने, ज्ञानियों एव दार्शनिको ने इस विषय पर गम्भीर अध्ययन, मनन, चिन्तन और अनुसधान किया है। इस विषयको लेकर भिन्न २ समयमे सैकड़ों राज्य-सभाओं मे घन-घोर और तुमुल शास्त्रार्थ हुए है। इसी प्रकार इस विषय पर मत-भेद होने पर अनेक प्रगाढ पाडित्य सपन्न दिग्गज विद्वानो को देश निकाला भी दिया गया है। शास्त्रार्थ मे तात्कालिक पराजय हो जाने पर अनेक विद्वानो को विविध रीति से मृत्यु-दड भी दिया गया है। इस प्रकार भारतीय दर्शन-शास्त्रो का यह एक प्रमुखतम और सर्वोच्च विचारणीय विषय रहा है।

जैन दर्शन ईश्वरत्व को एक आदर्श और उत्कृष्टतम ध्येय मानता है, न कि ईश्वर को विश्व का स्रष्टा और नियामक। अतएव इस पर अपेक्षाकृत अधिक लिखना अप्रासगिक नही होगा।

जैन-दर्शन की मान्यता है कि सपूर्ण ब्रह्माड मे यानी अखिल लोक मे केवल दो तत्त्व ही है। एक तो जड रूप अचेतन पुद्गल और दूसरा चेतना शील आत्म तत्त्व।

इन दो तत्त्वों के आधार से ही सपूर्ण विश्व का निर्माण हुआ है। सारे ही ससार के हर क्षेत्र, हर स्थान, और हर अश मे ये दोनो ही तत्त्व भरे पडे है। कोई स्थान ऐसा नही है जहाँ कि ये दोनो तत्त्व घुले मिले न हो। इनकी अनेक अवस्थाए है, इनके अनेक रूपान्तर और पर्यायें है, विविध प्रकार की स्थिति है, परन्तु फिर भी मूल में ये दो ही तत्त्व है। तीसरा और कोई नही है।

जड पुद्गल अनेक शक्तियो में बिखरा हुआ है, इसकी सपूर्ण शक्तियो का पता लगाना मानव-शक्ति और वैज्ञानिको के भी वाहिर की वात है। रेडियो, वायरलेस तार, टेली विजन, रेडार, वाष्पशक्ति और विद्युत-शक्ति, अणुवम, कीटाणुवम, हाईड्रोजन वम, इथर तत्त्व, कास्मिक किरणें आदि विभिन्न शक्तियाँ इस जड़ तत्व की ही रूपान्तर। इस प्रकार की अनतानन्त शक्तियाँ इस जड तत्त्व में निहित है, जो कि स्वाभाविक, प्राकृतिक

और कालातीत है। इसमें विपरीत चेतन तत्त्व है। यह भी सम्पूर्ण संसार के हर क्षेत्र, हर स्थान और हर अणु में अनेकानुगत रूप से मग्न लोहे के परमाणुओ के समान पिंडीभूत है। जैसे समुद्र के तल से लगाकर सतह तक जल ही जल भरा रहता है और तल-सतह के बीच मे कोई भी स्थान जल से खाली नही रहता है, वैसे ही अखिल विश्व मे कोई भी स्थान ऐसा खाली नही है, जहाँ कि चेतना तत्त्व अनतानत मात्रा मे न हो। जैसे जल के प्रत्येक कण में जो कुछ तत्त्व और जो कुछ शक्ति है, वैसा ही तत्त्व और वैसी ही शक्ति समुद्र के सम्पूर्ण जल मे है। इसी प्रकार समूह रूपेण पिंडी भूत सम्पूर्ण चेतन तत्त्व मे जो जो शक्तियाँ अथवा वृत्तियाँ है, वे ही और उतनी ही शक्तियाँ एव वृत्तियाँ भी एक एक चेतन कण मे अथवा प्रत्येक आत्मा मे है। ये वृत्तियाँ अनत.नत है, स्वाभाविक याना प्राकृतिक है, अनादि है, अक्षय है, और तादात्म्य रूप है।

ये शक्तियाँ प्रत्येक आत्मा के साथ सहजात और सहचर धर्म वाली है, सासारिक अवस्था में परिभ्रमण करते समय आत्मा की इन शक्तियो के साथ पुद्‌गलो का अति सूक्ष्मतम से सूक्ष्मतम आवरण अनिष्ट वासनाओ और सस्कारो के कारण समिश्रित रहता है। इस कारण से ये शक्तियाँ मलीन, विकृत, अविकसित, अर्ध विकसित और विपरीत विकसित आदि नाना रूपो मे प्रस्फूटित होती हुई देखी जाती है।

चेतन तत्त्व सामुहिक पिंड में सबद्ध होने पर भी प्रत्येक चेतन कण का अपना अपना अलग अलग अस्तित्व है। समूह से अलग होकर वह अपना पूर्ण और सागोपाग विकास कर सकता है। जैसा कि हम प्रति दिन देखते है कि मनुष्य, तिर्यच आदि अवस्थाओ के रूप में विभिन्न चेतन कणो ने अपना अपना विकास कर इन अवस्थाओ को प्राप्त किया है, और यदि विकास की गति नही रुके तो निरन्तर विकास करता हुआ प्रत्येक चेतन कण ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है, जो कि विकास और ज्ञान, पवित्रता एव सर्वोच्चता का अतिम श्रेणी है। "यह परम तम सर्व श्रेष्ठ विकास शील अवस्था" प्रत्येक चेतन-कण में स्वाभाविक है, परन्तु उसका विकास कर सकना अथवा वकास नही कर सकना यह प्रत्येक चेतन कण का अपने अपने प्रयत्न और

परिस्थिति पर निर्भर है। प्रत्येक चेतन कण में वनाम प्रत्येक आत्मा मे यह स्वाभाविक शक्ति है कि वह अपने स्वरूप को ईश्वर रूप में परिणित कर सकता है, एवं अपने में विकसित अखड परिपूर्ण और विमल ज्ञान द्वारा विश्व की सम्पूर्ण अवस्थाओ का और उसके हर अश को देख सकता है।

प्रत्येक आत्मा अनादि है, अक्षय है, नित्य है, शाश्वत् है, अचिन्त्य है, शब्दातीत है, अगोचर है, मूलरूप से ज्ञान स्वरूप है, निर्मल है, अनन्त सुखमय है, सभी प्रकार की सासारिक मोह माया आदि विकृतियो से पूर्णतया रहित है। प्रत्येक आत्मा अनन्त शक्तिशाली और अनत सात्विक सद्गुणो का पिंड मात्र है। वास्तविक दृष्टि से ईश्वरत्व और आत्मतत्त्व में कोई अन्तर नही है। यह जो विभिन्न प्रकार का अन्तर दिखलाई पड रहा है, उसका कारण वासना और सस्कार है, और इन्ही से विकृति मय अन्तर अवस्था की उत्पत्ति होती है। वासना और सस्कारो के हटते ही आत्मा का मूल स्वरूप प्रगट हो जाया करता है, जैसे कि बादलो के हटते ही सूर्य का प्रकाश और धूप निकल आती है, वैसे ही यहा भी समझ लेना चाहिये। अखिल विश्व में यानी सम्पूर्ण ब्रह्माड मे अनंतानत आत्माएँ पाई जाती है, इनकी गणना कर सकना ईश्वरीय ज्ञान के भी वाहिर की वात है। परन्तु गुणो की समानता के कारण जैन-दर्शन का यह दावा है कि प्रत्येक आत्मा सात्विकता और नैतिकता के वल पर ईश्वरत्व प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार आज दिन तक अनेकानेक आत्माओ ने ईश्वरत्व की प्राप्ति की है। ईश्वरत्व प्राप्ति के पश्चात् ये आत्माएं-ईश्वर में ही ज्योतिमे ज्योति के समान एकत्व और एक रूपत्व प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार अनतानत काल के लिये, सदैव के लिये इस ससार से परिमुक्त हो जाती है। ऐसी मुक्त और ईश्वरत्व प्राप्त आत्माएँ पूर्ण वीतरागी होने से ससार के सृजन, विनाशन, रक्षण, परिवर्तन और नियमन आदि प्रवृत्तियो से सर्वथा परिमुक्त होते वीतरागता के कारण सासारिक-प्रवृत्तियो में भाग लेने का उनके लिये कोई कारण शेष नही रह जाता है। यह है जैन-दर्शन की "आत्मतत्त्व और ईश्वरत्व" विषयक मौलिक दार्शनिक देन, जो कि हर आत्मा में पुरुषार्थ, स्वाश्रयता, कर्मण्यता, नैतिकता, सेवा, परोपकार, एव सात्विकता की उच्च और उदात्त लहर पैदा करती है।

ससार मे जो विभिन्न विभिन्न आत्मतत्त्व की श्रेणियाँ दिखाई दे रही है, उनका कारण मूल गुणो में विकृति की न्यूनाधिकता है। जिस जिस आत्मा में जितना जितना सात्विक गुणो का विकास है, वह आत्मा उतनी ही ईश्वरत्व के पास है और जिसमें जितनी जितनी विकृति की अधिकता है, उतनी उतनी ही वह ईश्वरत्व से दूर है। सांसारिक आत्माओ में परस्पर में पाई जाने वाली विभिन्नता का कारण सात्विक, तामसिक, और राजसिक वृत्तियाँ है, जो कि हर आत्मा के साथ कर्म रूप से, सस्कार रूप से और वासना रूप से सयुक्त है। वेदान्तदर्शन सम्बन्धी "ब्रह्म और माया" का विवेचन, साख्य दर्शन सम्बन्धी "पुरुष और प्रकृति" की व्याख्या, और जैन-दर्शन सम्बन्धी "आत्मा और कर्म" का सिद्धान्त मूल में काफी समानता रखते है। शब्द-भेद, भाषा-भेद, और विवेचन-प्रणालि का भेद होने पर भी अर्थ में भेद प्रतीत नही होता है, तात्पर्य में भेद विदित नही होता है।

उपरोक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि जैन-दर्शन की मान्यता वैदिक धर्म के अनुसार एक ईश्वर के रूप में नही होकर अपने ही प्रयत्न द्वारा विकास की सर्वोच्च और अन्तिम श्रेणि प्राप्त करने वाली, निर्मलता और ज्ञान की अखड और अक्षयधारा प्राप्त करने वाली और इस प्रकार ईश्वरत्व प्राप्त करने वाली अनेकानेक आत्माओ का ज्ञान, ज्योति के रूप में सम्मिलित होकर प्राप्त होने वाले परमात्मवाद में है।

अतएव इस सृष्टि का कर्त्ता हर्त्ता, धर्त्ता और नियामक कोई एक ईश्वर नही है, परन्तु इस सृष्टि की प्रक्रिया स्वाभाविक है। हर आत्मा का उत्थान और पतन अपने अपने कृत कर्मो के अनुसार ही हुआ करता है। इस प्रकार की सैद्धान्तिक और मौलिक दार्शनिक क्रांति भगवान् महावीर स्वामी ने तत्कालीन वैदिक मान्यता के अधिनायक रूप प्रचड और प्रवल प्रवाह के प्रतिकूल निडर होकर केवल अपने आत्म वल के आधार पर प्रस्थापित की, जो कि अजेय और सफल प्रमाणित हुई। वैदिक मान्यता झुकती हुई निर्वलता की ओर बढती गई। तत्कालीन बड़े२ गण राज्य, राजा गण, जनता और मध्यम वर्ग तेजा के साथ वैदिक

मान्यताओ का परित्याग करते हुए और भगवान महावीर-स्वामी के शासन-चक्र मे प्रविष्ट होते हुए देखे गये ।

यज्ञ-प्रणालि मे, हिंसा-अहिंसा की मान्यतामे, वर्ण-व्यवस्था मे, और दार्शनिक-सिद्धान्तो मे आमूल-चूल परिवर्तन देखा गया, यह सब महिमा केवल ज्ञातपुत्र, निर्ग्रंथ, श्रमण भगवान महावीर स्वामी की कडक तपस्या, और गभीर दर्शनिक सिद्धान्तो की है ।

वैदिक सभ्यता ने मध्य-युग में भी जैन धर्म और जैन दर्शन को खत्म करने के लिये भारी प्रयत्न किये, किन्तु वह असफल रही । इस प्रकार हर आत्मा की अखडता का, व्यापकता का, परिपूर्णता का, स्वतंत्रता का और स्व-आश्रयता का विधान करके जैन दर्शन विश्व-साहित्य मे "आत्मवाद और ईश्वरवाद" सबधी अपनी मौलिक विचार-धारा प्रस्तुत करता है, जो कि मानव-सस्कृति को महानता की ओर बढाने वाली है । अतएव यह शुभ, प्रशस्त और हितावह है ।

स्याद्वाद

दार्शनिक सिद्धान्तो के इतिहास मे स्याद्वाद का स्थान सर्वोपरि है। स्याद्वाद का उल्लेख सापेक्षवाद, अनेकान्तवाद अथवा सप्तभगीवाद के नाम से भी किया जता है । विविध और परस्पर मे विरोधी प्रतीत होने वाली मान्यताओ का और विपरीत तथा विघातक विचार-श्रेणियो का समन्वय करके सत्य की शोध करना, दार्शनिक सक्लेश को मिटाना, और सभी धर्मो एव दार्शनिक सिद्धान्तो को मोतियो की माला के समान एक ही सूत्र में अनुस्यूत कर देना अर्थात् पिरो देना ही स्याद्वाद की उत्पत्ति का रहस्य है । निस्सदेह जैन-धर्म ने स्याद्वाद सिद्धान्त की व्यवस्थित रीति से स्थापना करके और युक्ति सगत विवेचना करके विश्व-साहित्य मे विरोध और विनाश रुप विविधता को सर्वथा मिटा देने का स्तुत्य प्रयत्न किया है ।

विश्व के मानव-समूह ने सभी देशो मे, सभी कालो मे और सभी परिस्थितियो मे-नैतिकता तथा सुख-शाति के विकास के लिये समयानुसार

आचार-शास्त्र एव नीति-शास्त्र के भिन्न भिन्न नियम और परपराएँ स्थापित की है, वे ही धर्म के रूप में विख्यात हुई और तत्कालिक परिस्थिति के अनुसार उनसे मानव-समूह ने विकास, सभ्यता एव शाति भी प्राप्त की, किन्तु कालन्तर मे वे ही परपराएँ अनुयायियो के हठाग्रह से साम्प्रदायिकता के रूप में परिणित होती गई, जिससे धार्मिक-क्लेश, मतावता, अदूरदर्शिता, हठाग्रह आदि दुर्गुण उत्पन्न होते गये और अखड मानवता एक ही रूप में विकसित नही होकर खंड खड रूप में होती गई, और इसीलिये नये नये धर्मो का, नये नये आचार-शास्त्रो की और नये नये नैतिक नियमो की आवश्यकता होती गई एव तदनुसार इनकी उत्पत्ति भी होती गई। इस प्रकार सैकड़ो पथ और मत मतान्तर उत्पन्न होगये, और इनका परस्पर में द्वद्व युद्ध भी होने लगा। खंडन-मन्डन के हजारो ग्रथ बनाये गये। सैकडो वार शास्त्रार्थ हुए और मानवता धर्म के नाम पर कदाग्रह के कीचड में फंसकर सक्लेश मय हो गई। ऐसी गभीर स्थिति मे कोई भी धर्म अथवा मत-मतान्तर पूर्ण सत्य रूप नही हो सकता है, सापेक्ष सत्य मय हो सकता है, इस सापेक्ष सत्य को प्रकट करने वाली एक मात्र वचन-प्रणालि स्याद्वाद हो सकती है अतएव स्याद्वाददार्शनिक जगत् में और मानवता के विकास मे असाधारण महत्त्व रखता है, और इसी का आश्रय लेकर पूर्ण सत्य प्राप्त करते हुए सभ्यता और सस्कृति का समुचित सविकास किया जा सकता है।

विश्व का प्रत्येक पदार्थ सत् रूप है। जो सत् रूप होता है, वह पर्याय शील होता हुआ नित्य होता है। पर्याय शीलता और नित्यता के कारण से हर पदार्थ अनन्त धर्मो वाला और अनन्त गुणो वाला है, और अनन्त धर्म गुण शीलता के कारण एक ही समय मे और एक ही साथ उन सभी धर्म-गुणो का शब्दो द्वारा कथन नही किया जा सकता है। इसलिये स्याद्वाद मय भाषा की और भी अधिक आवश्यकता प्रमाणित हो जाती है। "स्यात्" शब्द इसीलिये लगाया जाता है, जिससे पूरा पदार्थ उसी एक अवस्था रूप नही समझ लिया जाय, अन्य धर्मों का भी और अन्य

मान्यताओं का परित्याग करते हुए और भगवान महावीर-स्वामी के शासन-चक्र में प्रविष्ट होते हुए देखे गये।

यज्ञ-प्रणालि में, हिंसा-अहिंसा की मान्यतामें, वर्ण-व्यवस्था मे, और दार्शनिक-सिद्धान्तो में आमूल-चूल परिवर्तन देखा गया, यह सब महिमा केवल ज्ञातपुत्र, निर्ग्रंथ, श्रमण भगवान महावीर स्वामी की कडक तपस्या, और गभीर दर्शनिक सिद्धान्तो की है।

वैदिक सभ्यता ने मध्य-युग में भी जैन धर्म और जैन दर्शन को खतम करने के लिये भारी प्रयत्न किये, किन्तु वह असफल रही। इस प्रकार हर आत्मा की सर्वज्ञता का, व्यापकता का, परिपूर्णता का, स्वतंत्रता का और स्व-आश्रयता का विधान करके जैन दर्शन विश्व-साहित्य में "आत्मवाद और ईश्वरवाद" संबंधी अपनी मौलिक विचार-धारा प्रस्तुत करता है, जो कि मानव-संस्कृति को महानता की ओर बढाने वाली है। अतएव यह शुभ, प्रशस्त और हितावह है।

स्याद्वाद

दार्शनिक सिद्धान्तो के इतिहास मे स्याद्वाद का स्थान सर्वोपरि है। स्याद्वाद का उल्लेख सापेक्षवाद, अनेकान्तवाद अथवा सप्तभंगीवाद के नाम से भी किया जता है। विविध और परस्पर मे विरोधी प्रतीत होने वाली मान्यताओ का और विपरीत तथा विघातक विचार-श्रेणियो का समन्वय करके सत्य की खोज करना, दार्शनिक सक्लेश को मिटाना, और सभी धर्मो एव दार्शनिक सिद्धान्तो को मोतियो की माला के समान एक ही सूत्र मे अनुस्यूत कर देना अर्थात् पिरो देना ही स्याद्वाद की उत्पत्ति का रहस्य है। निस्सदेह जैन-धर्म ने स्याद्वाद सिद्धान्त की व्यवस्थित रीति से स्थापना करके और युक्ति सगत विवेचना करके विश्व-साहित्य मे विरोध और विनाश रूप विविधता को सर्वथा मिटा देने का स्तुत्य प्रयत्न किया है।

विश्व के मानव-समूह ने सभी देशो मे, सभी कालो मे और सभी परिस्थितियो मे-नैतिकता तथा सुख-शांति के विकास के लिये समयानुसार

आचार-शास्त्र एव नीति-शास्त्र के भिन्न भिन्न नियम और परपराएँ स्थापित की है, वे ही धर्म के रूप में विख्यात हुई और तत्कालिक परिस्थिति के अनुसार उनसे मानव-समूह ने विकास, सभ्यता एव शाति भी प्राप्त की, किन्तु कालन्तर में वे ही परपराएँ अनुयायियो के हठाग्रह से साम्प्रदायिकता के रूप में परिणित होती गई, जिससे धार्मिक-क्लेश, मताधता, अदूरदर्शिता, हठाग्रह आदि दुर्गुण उत्पन्न होते गये और अखड मानवता एक ही रूप में विकसित नही होकर खड खड रूप मे होती गई, और इसीलिये नये नये धर्मों का, नये नये आचार-शास्त्रो की और नये नये नैतिक नियमो की आवश्यकता होती गई एव तदनुसार इनकी उत्पत्ति भी होती गई। इस प्रकार सैकडो पथ और मत मतान्तर उत्पन्न होगये, और इनका परस्पर मे द्वद्व युद्ध भी होने लगा। खडन-मन्डन के हजारो ग्रथ बनाये गये। सैकडो बार शास्त्रार्थ हुए और मानवता धर्म के नाम पर कदाग्रह के कीचड में फसकर सक्लेश मय हो गई। ऐसी गभीर स्थिति में कोई भी धर्म अथवा मत-मतान्तर पूर्ण सत्य रूप नही हो सकता है, सापेक्ष सत्य मय हो सकता है, इस सापेक्ष सत्य को प्रकट करने वाली एक मात्र वचन-प्रणालि स्याद्वाद हो सकती है अतएव स्याद्वाददार्शनिक जगत् मे और मानवता के विकास मे असाधारण महत्त्व रखता है, और इसी का आश्रय लेकर पूर्ण सत्य प्राप्त करते हुए सभ्यता और संस्कृति का समुचित सविकास किया जा सकता है।

विश्व का प्रत्येक पदार्थ सत् रूप है। जो सत् रूप होता है, वह पर्याय शील होता हुआ नित्य होता है। पर्याय शीलता और नित्यता के कारण से हर पदार्थ अनन्त धर्मों वाला और अनन्त गुणो वाला है, और अनन्त धर्म गुण शीलता के कारण एक ही समय मे और एक ही साथ उन सभी धर्म-गुणो का शब्दो द्वारा कथन नही किया जा सकता है। इसलिये स्याद्वाद मय भाषा की और भी अधिक आवश्यकता प्रमाणित हो जाती है। "स्यात्" शब्द इसीलिये लगाया जाता है, जिससे पूरा पदार्थ उसी एक अवस्था रूप नही समझ लिया जाय, अन्य धर्मों का भी और अन्य

अवस्थाओं का भी अस्तित्व उस पदार्थ मे है, यह तात्पर्य "स्यात्" शब्द से जाना जाता है।

"स्यात्" शब्द का अर्थ, "शायद है, सभवत. है, कदाचित् है" ऐसा नही है, क्योकि ये सव सशयात्मक है, अतएव "स्यात्" शब्द का अर्थ "अमुक निश्चित् अपेक्षा से" ऐसा सशय रहित रूप है। यह "स्यात्" शब्द सुव्यवस्थित दृष्टिकोण को वतलाने वाला है। मताधता के कारण दार्शनिको ने इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया है और आज भा अनेक विद्वान् इसको विना समझे ही कुछ का कुछ लिख दिया करते है।

"स्यात् रूपवान् पट" अर्थात् अमुक अपेक्षा से कपड़ा रूपवाला है। इस कथन मे रूप से तात्पर्य है, और कपड़े में रहे हुए गध, रस, स्पर्श आदि धर्मों से अभी कोई तात्पर्य नही है। इसका यह अर्थ नही है कि "कपडा रूप वाला ही है और अन्य धर्मों का निषेध है।" अतएव इम कथन में यह रहस्य है कि रूप की प्रधानता है और अन्य शेष की गौणता है न कि निषेधता है। इस प्रकार अनेक-विध वस्तु को क्रम से एव मुख्यता-गौणता की शैली से बतलाने वाला वाक्य ही स्याद्वाद सिद्धान्त का अश है। 'स्यात्' शब्द नियामक है, जो कि कथित धर्म को वर्तमान मे मुख्यता प्रदान करता हुआ शेषधर्मों के अस्तित्व की भी रक्षा करता है। इस प्रकार 'स्यात्' शब्द कथित धर्म की मर्यादा की रक्षा करता हुआ शेप धर्मो का भी प्रतिनिधित्व करता है। जिस शब्द द्वारा पदार्थ को वर्तमान मे प्रमुखता मिली है, वही शब्द अकेला ही सारे पदार्थत्व को घेर कर नही वैठ जाय, वल्कि अन्य सहचरी धर्मो की भी रक्षा हो, यह कार्य 'स्यात्' शब्द करता है।

'स्यात् कपडा नित्य है' यहाँ पर कपडा रूप पुद्गल द्रव्य की सत्ता के लिहाज से नित्यत्व का कथन है और पर्यायो के लिहाज से अनित्य की गौणता है। इस प्रकार त्रिकाल सत्य को शब्दो द्वारा प्रकट करने की एकमात्र शैली स्याद्वाद ही हो सकती है।

प्रतिदिन के दार्शनिक झगड़ो मे फँसा हुआ सामान्य व्यक्ति न धर्म रहस्य को समझ सकता है और न आत्मा एव ईश्वर सबधी गहन तत्त्व का ही अनुभव कर सकता है। उल्टा विभ्रम मे फसकर कषाय का शिकार बन जता है। इस दृष्टिकोण से अनेकान्तवाद मानव-साहित्य में बेजोड विचार-धारा है। इस विचार-धारा के बल पर जैन-धर्म विश्व-धर्मो में सर्वाधिक शाति-प्रस्थापक और सत्य के प्रदर्शक का पद प्राप्त कर लेता है।

यह अनेकान्तवाद ही सत्य को स्पष्ट कर सकता है। क्योकि सत्य एक सापेक्ष वस्तु है।

सापेक्षिक सत्य द्वारा ही असत्य का अश निकाला जा सकता है और इस प्रकार पूर्ण सत्य तक पहुँचा जा सकता है। इसी रीति से मानव-ज्ञान कोष की श्रीवृद्धि हो सकती है, जो कि सभी विज्ञानो की अभिवृद्धि करती है। अद्वैतवाद के महान् आचार्य शंकराचार्य और अन्य विद्वानो द्वारा समय समय पर किये जाने वाले प्रचड प्रचार और प्रबल शास्त्रार्थ के कारण बौद्ध दर्शन सरीखा महान् दर्शन तो भारत से निर्वासित हो गया और लंका, ब्रह्मा, (बर्मा) चीन, जापान एव तिब्बत आदि देशो में ही जाकर विशेष रूप से पल्लवित हुआ, जब कि जैन-दर्शन प्रबलतम साहित्यिक और प्रचड तार्किक आक्रमणों के सामने भी टिका रहा, इसका कारण केवल "स्याद्वाद" सिद्धान्त ही है। जिसका आश्रय लेकर जैन विद्वानो ने प्रत्येक सैद्धान्तिक-विवेचना में इसको मूल आधार बनाया।

स्याद्वाद जैन-सिद्धान्त रूपी आत्मा का प्रखर प्रतिभा सपन्न मस्तिष्क है, जिसकी प्रगति पर यह जैन-धर्म जीवित है और जिसके अभाव में यह जैन धर्म समाप्त हो सकता है।

मध्य-युग मे भारतीय क्षितिज पर होने वाले राजनैतिक तूफानो मे और विभिन्न धर्मो द्वारा प्रेरित साहित्यिक—आधियो मे भी जैन-दर्शन का हिमालय के समान अडोल और अचल बने रहना केवल स्याद्वाद सिद्धान्त का ही प्रताप है। जिन जैनेतर दार्शनिको ने इसे सशयवाद अथवा अनिश्चयवाद कहा है, निश्चय ही उन्होने इसका गभीर अध्ययन किये बिना ही ऐसा लिख

दिया है। आश्चर्य तो इस बात का है कि प्रसिद्ध सभी दार्शनिकों ने एवं महामति मीमांसकाचार्य कुमारिल भट्ट आदि भारतीय धुरंधर विद्वानों ने इस सिद्धान्त का शब्द रूप से खंडन करते हुए भी प्रकारान्तर से और भावान्तर से अपने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में विरोधों के उत्पन्न होने पर उनकी विविधताओं का समन्वय करने के लिये इसी सिद्धान्त का आश्रय लिया है।

दीर्घ तपस्वी भगवान महावीर स्वामी ने इस सिद्धान्त को 'सिया अत्थि सिया नत्थि, सिया अवक्तव्व' के रूप में फरमाया है, जिसका यह तात्पर्य है कि प्रत्येक वस्तु-तत्त्व किसी अपेक्षा से वर्तमान रूप होता है, और किसी दूसरी अपेक्षा से वही नाश रूप भी हो जाता है। इसी प्रकार किसी तीसरी अपेक्षा विशेष से वही तत्त्व त्रिकाल सत्ता रूप होता हुआ भी शब्दों द्वारा अवाच्य अथवा अकथनीय रूपवाला भी हो सकता है।

जैन तीर्थंकरों ने और पूज्य भगवान अरिहंतों ने इसी सिद्धान्त को "उप्पन्ने वा, विगए वा, धुवे वा" इन तीन शब्दों द्वारा "त्रिपदी" के रूप में सग्रथित कर दिया है। इस त्रिपदी का जैन-आगमों में इतना अधिक महत्त्व और सर्वोच्चशीलता बतलाई है कि इनके श्रवण-मात्र से ही गणधरों को चौदह पूर्वों का संपूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाया करता है। द्वादशांगी रूप वीतराग-वाणी का यह हृदय-स्थान कहा जाता है।

भारतीय साहित्य के सूत्र-युग में निर्मित महान् ग्रंथ तत्त्वार्थ-सूत्र में इसी सिद्धान्त का 'उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत्' इस सूत्र रूप से उल्लेख किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि जो सत् यानी द्रव्य रूप अथवा भाव रूप है, उसमें प्रत्येक क्षण नवीन नवीन पर्यायों की उत्पत्ति होती रहती है, एवं पूर्व पर्यायों का नाश होता रहता है, परन्तु फिर भी मूल द्रव्य की द्रव्यता, मूल सत् की सत्ता पर्यायों के परिवर्तन होते रहने पर भी ध्रौव्य रूप से बराबर कायम रहती है। विश्व का कोई भी पदार्थ इस स्थिति से वंचित नहीं है।

भारतीय साहित्य के मध्य युग में तर्क-जाल-संगुफित घनघोर शास्त्रार्थ का संघर्ष मय समय में जैन साहित्यकारों ने इसी सिद्धान्त को "स्यात्

अस्ति, स्यान्नास्ति और स्यादवक्तव्य" इन तीन शब्द-समूहो के आधार पर सप्तभगी के रूप में सस्थापित किया है।

इस प्रकार.--

(१) "उपन्ने वा, विगए वा, धुवे वा," नामक अरिहत प्रवचन,
(२) "सिया अत्थि, सिया नत्थि, सिया अवत्तव्व" नामक आगम वाक्य,
(३) "उत्पाद व्ययध्रौव्य युक्त सत्" नामक सूत्र,
(४) "स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्य" नामक सस्कृत वाक्य, ये सब स्याद्वाद-सिद्धन्त के मूर्त्त वाचक रूप है, शब्द रूप कथानक है और भाषा रूप शरीर है। स्याद्वाद का यही वाह्य रूप है।

स्याद्वाद के सबध मे विस्तृत लिखने का यहाँ पर अवसर नही है, अतएव विस्तृत जानने के इच्छुक अन्य ग्रथो से इस विषयक ज्ञान-प्राप्त करे। इस प्रकार विश्व-साहित्य में जैन-दर्शन द्वारा प्रस्तुत अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद एक अमूल्य और विशिष्ट योगदान है, जो कि सदैव उज्ज्वल नक्षत्र के समान विश्व साहित्याकाश मे अतिज्वलत ज्योति के रूप में प्रकाशमान होता रहेगा, और विश्व धर्मों के सघर्ष में चीफ जस्टिस यानी सौम्य प्रधान न्याय मूर्त्ति के रूप मे अपना गौरव शील स्थायी स्थान बनाये रक्खेगा।

कर्मवाद और गुणस्थान

जैन–दर्शन ईश्वरीय शक्ति को विश्व के कर्त्ता, हर्त्ता, और धर्त्ता के रूप में नही मानता है, जिसका तात्पर्य ईश्वरीय सत्ता का विरोध करना नही है। अपितु आत्मा ही कर्त्ता है और आत्मा ही भोक्ता है, इसमें नियामक का कार्य स्वकृत कर्म ही करते है। कर्म का उल्लेख वासना शब्द से, सस्कार शब्द से और प्रारब्ध शब्द से एव ऐसे ही अन्य शब्दो द्वारा भी किया जा सकता है। ये कर्म अचेतन है, रूपी है, पुद्गलो के अति सूक्ष्मतम से सूक्ष्मतम अंश से निर्मित होते है। ये विश्व-व्यापी होते है। कर्म-समूह अचेतन

और जड होने पर भी प्रत्येक आत्मा में रहे हुए विकारो और कषायो के बलपर "औषधि के गुण दोषानुसार" अपना फल यथा समय मे और यथा रूप म दिया करते है।

इस कर्म-सिद्धान्त का विशेष स्वरूप कर्म—वाद के ग्रंथो से जानना चाहिए। यहाँ तो इतना ही पर्याप्त होगा कि कर्म-वाद के बलपर जैन-धर्म ने पाप-पुण्य की व्यवस्था का प्रामाणिक और वास्तविक सिद्धान्त कायम किया है। पुनर्जन्म, मृत्यु, मोक्ष आदि स्वाभाविक घटनाओ की सगति कर्म-सिद्धान्त के आधार पर प्रतिपादित की है। सासारिक अवस्था में आत्मा सबधी सभी दशाओ और सभी परिस्थितियो मे कर्म-शक्ति को ही सब कुछ बतलाया है। फिर भी आत्मा यदि सचेत हो जाय तो कर्म-शक्ति को परास्त करके अपना विकास करन मे स्वय समर्थ हो सकती है।

कर्म-सिद्धान्त जनता को ईश्वर-कर्तृत्व और ईश्वर-प्रेरणा जैसे अध-विश्वास से मुक्त करना है और इसके स्थान पर आत्मा की स्वतत्रता का, स्व-पुरुषार्थ का, सर्व-शक्ति सपन्नता का, और आत्मा की परिपूर्णता का ध्यान दिलाता हुआ इस रहस्य का उल्लेख करता है कि प्रत्येक आत्मा का अन्तिम ध्येय और अतिमतम विकास इश्वरत्व प्राप्ति ही है।

जैन-धर्म ने प्रत्येक सासारिक आत्मा की दोष-गुण सबधी और ह्रास—विकास सबधी आध्यात्मिक-स्थिति को जानने के लिये, निरीक्षण के लिए और परीक्षण के लिए "गुणस्थान" के रूप में एक आध्यात्मिक जाँच प्रणालि अथवा माप प्रणालि भी स्थापित की है, जिसकी सहायता से समीक्षा करने पर और मीमासा करने पर यह पता चल सकता है कि कौनसी सांसारिक आत्मा कषाय आदि की दृष्टि से कितनी अविकास-शील है और कौनसी आत्मा चारित्र आदि की दृष्टि से कितनी विकास शील है?

यह भी जाना जा सकता है कि प्रत्येक सासारिक आत्मा म मोह की, माया की, ममता की, तृष्णा की, क्रोध की, मान की और लोभ आदि वृत्तियो की क्या स्थिति है? ये दुर्वृत्तियाँ कम मात्रा में है अथवा अधिक मात्रा मे? ये उदय अवस्था में है? अथवा उपशम अवस्था मे है? इन वृत्तियों का क्षय,

हो रहा है ? अथवा क्षयोपशम हो रहा है ? इन वृत्तियो का परस्पर में उदीरणा और सक्रमण भी हो रहा है अथवा नही ? सत्ता रूप से इन वृत्तियो का खजाना कितना और कैसा है ? कौन आत्मा सात्विक है ? और कौन तामसिक है ? इसी प्रकार कौनसी आत्मा राजस् प्रकृति की है ? अथवा अमुक आत्मा में इन तीनो प्रकृतियों की समिश्रित स्थिति कैसी क्या है ? कौनसी आत्मा देवत्व और मानवता के उच्च गुणो के नजदीक है ? और कौन आत्मा इन से दूर है ?

इस अति गभीर आध्यात्मिक समस्या के अध्ययन के लिये जैन-दर्शन ने 'गुणस्थान' वनाम आध्यात्मिक क्रमिक विकास शील श्रेणियाँ भी निर्धारित की है, जिनकी कुल सख्या चौदह है। यह अध्ययन योग्य, चिंतन-योग्य और मनन योग्य सुन्दर एव सात्विक एक विशिष्ट विचार-धारा है जो कि मनोवैज्ञानिक पद्धति के आधार पर मानस वृत्तियो का उपादेय और हितावह चित्रण है।

इस विचार धारा का वैदिक दर्शन में भूमिकाओ के नाम से और बौद्ध-दर्शन में अवस्थाओ के नाम से उल्लेख और वर्णन पाया जाता है, किन्तु जैन-धर्म मे इसका जैसा सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन सुसयत और सुव्यवस्थित पद्धति से पाया जाता है, उसका अपना एक विशेष स्थान है, जो कि विद्वानो के लिये और विश्व-साहित्य के लिये अध्ययन और अनुसधान का विषय है।

भौतिक विज्ञान और जैन खगोल आदि

जैन साहित्य में खगोल-विषय के सबध में भी इस ढग का वर्णन पाया जाता है कि जो आज के वैज्ञानिक खगोल ज्ञान के साथ वर्णन का भेद, भाषा का भेद, और, रूपक का भेद होने पर भी अर्थान्तर मे तथा प्रकारान्तर से बहुत कुछ सदृश ही प्रतीत होता है।

आज के विज्ञान ने सिद्ध करके वतलाया है कि प्रकाश की चाल प्रत्येक सेकिंड में एक लाख छीयासी हजार (१८६०००) माईल का है, इस हिसाब से (३६५१/४ दिन ×२४ घटा ×६० मिनट ×६० सेकिंड ×१८६००० माईल) इतनी महती और विस्तृत दूरी को माप के लिहाज से 'एक आलोक वर्ष'

एगा सज्ञा वैज्ञानिकों ने दी है। इनका कहना है कि इस आकाश मे ऐसे-ऐसे तारे हैं, जिनका प्रकाश यदि यहा तक आसके तो उस प्रकाश को यहाँ-तक आने में सैकडों 'आलोक-वर्ष' तक का समय लग सकता है। ऐसे ताराओ की संख्या लौकिक भाषा में अरबों खरबो तक की खगोल-विज्ञान बतलाता है। आकाश-गगा बनाम निहारिका नाम से ताराओ की जो अति सूक्ष्म झाकी एक लाइन रूप मे आकाश मे रात्रि के नौ बजे के बाद मे दिखाई देती है, उन ताराओ की दूरी यहा से सैकडो 'आलोक-वर्ष' जितनी वैज्ञानिक लोग कहा करते हैं।

जैन-दर्शन का कथन है कि (३८११२९७० मन×१०००) इतने मन वजन का एक गोला पूरी शक्ति से फेंका जाने पर छ महीने, छ दिन, छः पहर, छ घडी और छ. पल मे जितनी दूरी वह गोला पार करे, उतनी दूरी का माप "एक राजू" कहलाता है। इस प्रकार यह सपूर्ण ब्रह्माड यानी अखिल लोक केवल चौदह राजू जितनी लम्बाई का है। और चौडाई मे केवल सात राजू जितना है।

अब विचार कीजिएगा कि वैज्ञानिक सैकडो और हजारो आलोक वर्ष नामक दूरी परिमाण में और जैन-दर्शन सम्मत राजू का दूरी परिमाण में कितनी सादृश्यता है?

इसी प्रकार सैकडो और हजारो आलोक वर्ष जितनी दूरी पर स्थित जो तारे है, वे परस्पर मे एक दूसरे की दूरी के लिहाज से-करोडो और अरबो माइल जितने अन्तर वाले है और इनका क्षेत्रफल भी करोडो और अरबो माइल जितना है, इस वैज्ञानिक कथन की तुलना जैन-दर्शन सम्मत वैमानिक देवताओ के विमानो की पारस्परिक दूरी और उनके क्षेत्रफल के साथ कीजिएगा, तो पता चलता है कि क्षेत्रफल के लिहाज से, परस्पर में कितना वर्णन साम्य है।

वैमानिक देवताओ के विमान रूप क्षेत्र परस्पर की स्थिति की दृष्टि से एक दूसरे से अरबों माइल दूर होने पर भी मूल यानी मुख्य इन्द्र के विमान मे आवश्यकता के समय "घंटा" की तुमुल घोषणा होने पर शेष

सवधित लाखो विमानो में उसी समय विना किसी भी दृश्यमान आधार के और किसी भी पदार्थ द्वारा सवध रहित होने पर भी तुमुल घोषणा एव घंटा निनाद शुरु हो जाता है, यह कथन "रेडियो और टेलीविजन तथा सपर्क साधक विद्युत-शक्ति" का ही समथन करता है। ऐसा यह "रेडियो सवन्धी" शक्ति-सिद्धान्त जैन-दर्शन हजारो वर्ष पहिले ही कह चुका है।

शब्द रूपी है, पौद्गलिक है, और क्षण मात्र में सारे लोक में फैल जाने की शक्ति रखते है, ऐसा विज्ञान जैन-दर्शन ने हजारो वर्ष पहले ही चिन्तन और मनन द्वारा वतला दिया था, और इस सिद्धान्त को जैन-दर्शन के सिवाय आज दिन तक विश्व का कोई भी दर्शन मानने को तैयार नही हुआ था, वही जैन दर्शन द्वारा प्रदर्शित सिद्धान्त अब "रेडियो-युग" मे एक स्वय सिद्ध और निर्विवाद विषय वन सका है।

पुद्गल के हर परमाणु मे और अणु अणु मे महान् सृजनात्मक और स्थिति तथा सयोग अनुसार अति भयकर विनाशक शक्ति स्वभावत रही हुई है, ऐसा सिद्धान्त भी जैन दर्शन हजारो वर्ष पहले ही समझा चुका है। वही सिद्धान्त अव "एटम वम, कीटाणु वम और हाइड्रोजन एलेक्ट्रीक वम" वनने पर विश्वसनीय समझा जाने लगा है।

आज का विज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणो के आधार पर अनन्त ताराओं की कल्पनातीत विस्तीर्ण वलयाकारता का, अनुमानातीत विपुल क्षेत्रफल का और अनन्त दूरी का जैसा वर्णन करता है और ब्रह्माड की अनन्तता का जैसा बयान करता है, उस सब की तुलना जैन-दर्शन में वर्णित चौदह राजू प्रमाण लोक-स्थिति से और लोक के क्षेत्र फल से भाषा-भेद, रूपक-भेद और वर्णन-भेद होने पर भी ठीक ठीक रीति से की जा सकती है।

आज के भूगर्भ वेत्ताओ और खगोल वेत्ताओ का कथन है कि पृथ्वी किसी समय यानी अरवो और खरवो वर्ष पहले सूर्य का ही सम्मिलित भाग थी। "नीलो और पद्मो" वर्षो पहले इस ब्रह्माड में किसी अज्ञात शक्ति से अथवा कारणो से खगोल वस्तुओ में आकर्षण और प्रत्याकर्षण हुआ, इस कारण से

भयकर से भयकर अकल्पनीय प्रचड विस्फोट हुआ, जिससे सूर्य के कई एक बड़े बड़े भीमकाय टुकडे छिटक पडे। वे ही टुकडे अरबो और खरबो वर्षों तक सूर्य के चारो ओर अनतानत पर्यायो में परिवर्त्तित होते हुए चक्कर लगाते रहे, और वे ही टुकडे आज बुध, मगल, गुरु, शुक्र, शनि, चन्द्र और पृथ्वी के रूप मे हमारे सामने है। पृथ्वी भी सूर्य का ही टुकडा है और यह भी किसी समय आग का ही गोला थी, जो कि असख्य वर्षो में नाना पर्यायो तथा प्रक्रियाओ में परिवर्त्तित होती हुई आज इस रूप मे उपस्थित है। उपरोक्त बयान जैन-साहित्य मे वर्णित "आरा परिवर्तन" के समय की भयकर अग्नि वर्षा, पत्थर वर्षा, अखड वर्षा, असहनीय और कल्पनातीत सतत् जलधारा वर्षा, एव अन्य कर्कश पदार्थो की कठोर तथा शब्दातीत रूप मे अति भयकर वर्षा के वर्णन के साथ विवेचना की दृष्टि से कैसी समानता रखता है? यह विचारणीय है।

ऐतिहासिक विद्वानो द्वारा वर्णित प्राक्ऐतिहासिक युग के, तथा प्रकृति के साथ प्राकृतिक वस्तुओ द्वारा ही जीवन-व्यवहार चलाने वाले, मानव-जीवन का चित्रण और जैन साहित्य मे वर्णित प्रथम तीन आराओ से सम्बन्धित युगल-जोडी के जीवन का चित्रण शब्दान्तर और रूपान्तर के साथ कितना और किस रूप मे मिलता जुलता है? यह एक खोज का विषय है।

जैन दर्शन हजारो वर्षो से वनस्पति आदि मे भी चेतनता और आत्म तत्त्व मानता आ रहा है, साधारण जनता और अन्य दर्शन इस बात को नहीं मानते थे, परन्तु श्री जगदीश चन्द्र बोस ने अपने वैज्ञानिक तरीको से प्रमाणित कर दिया है कि वनस्पति में भी चेतनता और आत्म तत्त्व है। अब विश्वका सारा विद्वान् वर्ग इस बात को मानने लगा है।

साहित्य और कला

भगवान महावीर स्वामी के युग से लेकर आज दिन तक इन पच्चीस सौ वर्षों में प्रत्येक समय जैन-समाज में उच्च कोटि के ग्रंथ लेखको का विपुल वर्ग और विद्वानो का समूह रहा है, जिनका सारा जीवन चिंतन में, मनन

मे, अध्ययन मे, अध्यापन में, और विविध विषयो में उच्च से उच्च कोटि के ग्रथो का निर्माण करने मे ही व्यतीत हुआ है। खास तौर पर जैन-साधुओ का बहुत बडा भाग प्रत्येक समय इस कार्य मे सलग्न रहा है। इसलिये अध्यात्म, दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, मन्त्र-तन्त्र, सगीत, सामद्रिक, लाक्षणिक शास्त्र भाषा-शास्त्र, छद, काव्य, नाटक, चपू, पुराण, अलकार, कथा, कला, स्थापत्य कला, गणित, नीति, जीवन-चारित्र, तर्क-शास्त्र, तात्त्विक शास्त्र, आचार-शास्त्र, एव सर्वदर्शन सम्बन्धी विविध और रोचक ग्रथो का हजारो की सख्या मे निर्माण हुआ है।

प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रश, तामिल, तेलगु, कन्नड, गुजराती, हिन्दी, महाराष्ट्रीय, एव इतर भारतीय और विदेशी भाषाओ मे भी जैन-ग्रथो का निर्माण हुआ है।

जैन-साहित्य का निर्माण अविच्छिन्न धारा के साथ मौलिकता पूर्वक विपुल मात्रा मे प्रत्येक समय होता रहा है और इसी लिये जैन-वाङ्मय मे "विविध भाषाओ का इतिहास," "लिपियो का इतिहास," भारतीय साहित्य का इतिहास" "भारतीय सस्कृति का इतिहास" "भारतीय राजनीतिक इतिहास," एव "व्यक्तिगत जीवन चरित्र" आदि विभिन्न इतिहासो की प्रामाणिक सामग्री भरी पडी है। जिसका अनुसधान करने पर भारतीय सस्कृति पर उज्ज्वल एव प्रमाण,पूर्ण प्रकाश पड सकता है।

जैन साहित्य के हजारो ग्रथो के विनष्ट हो जाने के बावजूद भी आज भी अप्रकाशित ग्रथो की सख्या हजारो तक पहुँच जाती है। जोकि विविध भडारों मे सग्रहीत है।

जैन दर्शन कर्म-कर्त्तावादी और पुनर्जन्मवादी होने से इसका कथा-साहित्य विलक्षण-मनोवैज्ञानिक शली वाला है, और आत्माकी वृत्तियो का विविध शैली से विश्लेपण करने वाला है। अतएव इसका कथा-कोश विश्व साहित्य का अमूल्य धन है। जो कि प्रकाश मे आने पर ही ज्ञात हो सकता है।

जैन-कला का ध्येय "सत्य, शिव, और सुन्दर" की साधना करना ही रहा है और इस दृष्टि से "कला केवल कला के लिए ही है" इस आदर्श का जैन-कलाकारो ने पूरी तरह से पालन किया है।

युग-कर्त्तव्य और उपसंहार

आज जैन समाज में सैकड़ों करोड़पति और हजारो लखपति हैं, उनका नैतिक कर्त्तव्य है कि ये सज्जन आजके युग में जैनधर्म, जैन-दर्शन जैन-साहित्य और जैन-सस्कृति के प्रचार के लिये, विकास के लिये और कल्याण के लिये जैन साहित्य के प्रकाशन की व्यवस्था विपुल मात्रा में करे। यही युग कर्त्तव्य है।

आनेवाला युग साहित्य का प्रचार और साहित्य प्रकाशन ही चाहेगा, और इसी कार्य द्वारा ही जैन-दर्शन टिक सकेगा।

अनन्त गुणों के प्रतीक, मगलमय वीतराग देव से आज अक्षय तृतीया के शुभ दिवस पर यही पुनीत प्रार्थना है कि अहिसा प्रधान आचार द्वारा और स्याद्वाद प्रधान विचारो द्वारा विश्व में शांति की परिपूर्ण स्थापना हो. एव अखड मानवता "सत्य, शिवं, सुन्दर" की ओर प्रशस्त प्रगति करे।

सघवी कुटीर,
छोटी सादडी;
अक्षय तृतीया,
विक्रम स, २००९

विनीत
रतनलाल सघवी

णमो तित्थस्स

जैनागम सूक्ति सुधा

प्रथम भाग

सूक्ति-सुधा

प्रार्थना-मंगल-सूत्र

(१)

णमो तित्थयराणं ।

आवश्यक

टीका—श्री साधु, साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप तीर्थ की स्थापना करने वाले एव धर्म—चक्र के प्रवर्त्तक महापुरुष तीर्थंकरो को हमारा नमस्कार हो।

(२)

णमो सिद्धाणं ।

महामन्त्र

टीका—जिन्होने आठ कर्मों का क्षय कर, अनन्त ज्ञान-दर्शन चारित्र-वल वीर्य को प्राप्त किया है, और जिन्होने नित्य, शाश्वत, अक्षय मोक्ष-स्थान प्राप्त किया है, ऐसे अनन्त-सिद्ध-मुक्त आत्माओं को हमारा नमस्कार हो।

(३)

सन्ती सन्तिकरो लोए ।

उ०, १८, ३८

टीका—भगवान शान्तिनाथजी इस ससार में महान् शान्ति के करने वाले है । द्रव्य-शाति और भाव-शाति, दोनो प्रकार की शाति को फैलाने वाले है । आप मे यथा नाम तथा गुण है ।

(४)

नमो ते संसयातीत ।

उ०, २३, ८५

टीका—हे सशयातीत ! हे निर्मल ज्ञान वाले ! हे पूर्ण यथाख्यात चारित्र वाले ! हे अप्रतिपाती दर्शन वाले ! हे अनन्त गुणशील महात्मन् ! तुम्हे नमस्कार है । अनन्तशः प्रणाम है ।

(५)

लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ।

सू०, ६, २३

टीका—लोक में सर्वोत्तम महापुरुष केवल महावीर स्वामी ही है । क्योकि इनका ज्ञान, दर्शन, शील, शक्ति, तपस्या, अनासक्ति, चारित्र, निष्परिग्रहीत्व, अकपायत्व और आत्मबल असाधारण एवं आदर्श था ।

(६)

अभयं करे वीरे अणंतचक्खू ।

सू०, ६, २५

टीका— भगवान महावीर स्वामी प्राणियो को अभयदान देनेवाले, कल्याण का मार्ग वताने वाले, अनन्त ज्ञानी और निर्भय थे । वे महापुरुप थे । उनका आत्मवल, तपोवल, चारित्र वल और कर्मण्यता वल आदर्श तथा महान् था ।

(७)

निव्वाणवादी णिह णायपुत्ते ।

सू०, ६, २१

टीका--निर्वाण वादियो मे यानी विश्व के धर्म-प्रवर्तकों मे ज्ञातपुत्र भगवान महावीर स्वामी ही सर्व श्रेष्ठ हैं ।

(८)

इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ।

सू०, ६, २२

टीका--ऋषियों मे, विश्व के सभी सतो में श्री वर्धमान महावीर स्वामी ही सर्वोत्तम है, प्रधान है ।

(९)

जयइ गुरू-लोगाणं,
जयइ महप्पा महावीरो ।

न०, २

टीका--जो सम्पूर्ण लोक के गुरु है, जो सारे ससार को ज्ञान का दान देने वाले है, जो सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र में सर्वोत्तम होने से महात्मा हैं, ऐसे श्री वीर-प्रभु महावीर स्वामी की जय हो ।

(१०)

जयइ सुआणं पभवो,
तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ ।

न०, २

टीका--जिन देवाधिदेव पूज्य भगवान के मुख-कमल से श्रुत ज्ञान की धारा बही है; जो सभी तीर्थंकरो में अंतिम तीर्थंकर है, ऐसे ज्ञातपुत्र निर्ग्रन्थ प्रभु वर्धमान-महावीर स्वामी की जय हो-विजय हो ।

(११)

भद्दं सुरासुर नमंसियस्स,

भद्दं धुयरयस्स ।

न०, ३

टीका--जिन देवाधिदेव चरम तीर्थंकर की सुर और असुर सभी देवी देवताओ ने, इन्द्रों और महेन्द्रो ने वन्दना की है, भक्ति की है, और जिन्होने सभी कर्मो को क्षय कर दिया है, जिनके कर्म रूपी रज शेष नही रह गई है, ऐसे चौबीसवे तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी कल्याण रूप हो, आपका सदैव जय जय कार हो ।

(१२)

जगणाहो जग बधू,

जयइ जगप्पियाम्हो भयवं ।

न०, १

टीका--भगवान महावीर स्वामी ससार मे अनाथ रूप से घूमने वाले जीवो को मोक्ष मार्ग के दर्शक होने से नाथ समान है । ससार के दु खो से पीड़ित भव्य जीवो को मोक्ष-सुख देने वाले होने से ये जगत-बन्धु है । ससार में अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रह व्रत और अनासक्ति आदि रूप धर्म-मार्ग प्रचारित कर सर्व-शक्तिमान् दीर्घ तपस्वी महावीर स्वामी ने ससारी जीवो की ससार समुद्र से रक्षा की है, अतएव ये ससार के लिए माता पिता के समान है, ऐसे जगतपति महावीर स्वामी की जय हो ।

(१३)

जयइ जग-जीव-जोणी-वियाणओ,

जग गुरू, जगाणंदो ।

न०, १

टीका--जिन शासन के चरम-तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी की जय हो । प्रभु महावीर ससार के सभी जीवो को मोक्ष-मार्ग बताने

में नेता रूप है, विश्व की सभी जीव योनियो के ये ज्ञाता है, ये जगत के गुरु है, अज्ञान रूप अन्धकार का नाश कर ज्ञान-रूप प्रकाश के करने वाले है, तथा संसार मे शाति, सुख और आनन्द की पवित्र त्रिवेणी वहाने वाले है ।

(१४)

खेयन्नए से कुसलासुपन्ने,
अणंतनाणी य अणंतदंसी ।

सू०, ६, ३

टीका—भगवान महावीर स्वामी संसार के प्राणियो का दुःख जानने वाले थे, आठ प्रकार के कर्मो का छेदन करने वाले थे, सदा सर्वत्र उपयोग रखने वाले थे, एव अनन्त ज्ञानी और अनन्त दर्शी थे ।

(१५)

अणुत्तरे सव्व जगंसि विज्जं,
गंथा अतीते अभए अणाऊ ।

सू०, ६, ५

टीका—वे दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर स्वामी सबसे उत्तम विद्वान् महापुरुष थे । वाह्य और आभ्यतर दोनो प्रकार की ग्रथियो से रहित थे । निर्भय थे, और चरम शरीरी थे ।

(१६)

अणुत्तरं धम्म मिणं जिणाणं,
णेया मुणी कासव आसुपन्ने ।

सू०, ६, ७

टीका— राग और द्वेष को आत्यंतिक रूप से जीतने वाले महा-पुरुषो का–जिनेन्द्रो का यह धर्म है, जो कि श्रेष्ठ है । इसके नेता प्रभु महावीर स्वामी है, जो कि निर्ग्रन्थ है, अनासक्त है, इन्द्रिय-विजयी है और सतत अनन्त ज्ञानशाली है ।

(१७)

भद्दं सव्व जगुज्जोयगस्स,
भद्दं जिणस्स वीरस्स ।

नं०, ३

टीका—जिन्होने तीनो लोक में अशांति मिटाकर शांति की, अज्ञान का नाश कर ज्ञान का प्रकाश किया, मिथ्यात्व के स्थान पर सम्यक्त्व धर्म की स्थापना की, हिंसा, झूठ, भोग, तृष्णा आदि दुर्गुणों के स्थान पर अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति आदि रूप संयम मार्ग को प्रदर्शित किया, ऐसे श्री जिनेन्द्र देव भगवान महावीर स्वामी की जय हो, आपका महान् कल्याणकारी शासन सदैव अजेय हो ।

(१८)

संघ नगर ! भद्दं, ते ।।
अखंड चारित्त पागारा ।

नं०, ४

टीका—हे चतुर्विध संघ रूप रमणीय नगर ! आप कल्याण रूप हैं । आपकी महती महिमा है । आप अवर्णनीय यशवाले हैं । आपके चारों ओर चारित्ररूप-संयम रूप अखण्ड प्रकोट है । यही अचल और अभेद्य गढ़ है ।

(१९)

संजम-तव-तुंबारयस्स,
नमो सम्मत्त पारियल्लस्स ।

नं०, ५

टीका—विषय और कषाय को काटने मे जिसके पास संयम और तप रूपी पवित्र चक्रायुध है, सम्यक्त्व रूपी सुन्दर धारा है, ऐसे अनन्त शक्ति सम्पन्न श्री संघ को नमस्कार हो ।

(२०)

अप्पडि चक्कस्स जओ,
होउ, सया संघ चक्कस्स ।

नं०, ५

टीका—जिनके चक्र को—शासन-व्यवस्था को और पवित्र सिद्धान्तो को कोई काट नही सकता है, कोई चल-विचल नही कर सकता है। ऐसे-चक्र शील और निरन्तर प्रगति शील--श्री सघ की सदा जय हो, नित्य विजय हो ।

(२१)

भद्दं सील पडागूसियस्स,
तव नियम तुरय जुत्तस्स ॥

नं०, ६

टीका—चतुर्विध श्री सघ एक अनुपम रथ के समान है, जिसके ऊपर शील रत्न रूप सुन्दर पताका-ध्वजा-फहरा रही है। जिसमें तप, नियम, सयम रूप सुन्दर घोडे जुते हुए हैं। ऐसा श्री सघ -रूप यह सर्वोत्तम रथ हमारे लिये आध्यात्मिक कल्याण करने वाला हो ।

आत्मवाद सूत्र

(१)

एगे आया ।

ठाणा०, १ ला ठा० १

टीका—सम्पूर्ण लोकाकाश मे रहे हुए सभी जीव या सभी आत्माएँ गुणो की अपेक्षा से—अपने मूल स्वभाव और स्वरूप की अपेक्षासे, मूलभूत लक्षणोकी अपेक्षासे समान है । विशुद्ध दृष्टि से सभी आत्माओ मे परस्पर मे कोई भिन्नता नही है । इसलिए इस अपेक्षासे, इस नय की दृष्टि से सारे विश्व मे-सारे ब्रह्माड मे एक ही आत्मा है । चेतन द्रव्य एक ही है । अनन्तानन्त, अपरिमित, सख्यातीत आत्माओ के होने पर भी मूल गुण, धर्म, लक्षण, स्वभाव, स्वरूप, प्रकृति आदि समान है, एक जैसे ही है । अतएव यह कहने मे कोई शास्त्रीय वाधा नही है कि अपेक्षा विशेप से आत्मा एक ही है, जो कि विश्व-व्यापी है और अनन्तशक्तियो का पुञ्ज है ।

(२)

नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्त भावा,
अमुत्त भावा वि य होइ निच्चो ।

उ०, १४, १९

टीका—आत्मा अमूर्त्त है, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित है, इसलिए आत्मा इन्द्रियो द्वारा अग्राह्य है, यानी जानने योग्य नही है । तथा अमूर्त्त यानी अरूपी होने से ही यह नित्य है, अक्षय है, शाश्वत् है । पर्याये पलटने पर भी-विभिन्न गतियो मे विभिन्न शरीर धारण करने पर भी इसका एकान्त नाश नही होता है ।

(३)

जेण वियाणइ से आया।

आ०, ५, १६६, उ, ५

टीका—जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है, जो ज्ञान-प्राप्ति मे असाधारण रूप से साधक-तम कारण है, उसे ही आत्मा कहते है। ज्ञान का मूल स्थान, ज्ञानका मूल कारण, ज्ञान का मूल आधार आत्मा ही है। जहाँ २ आत्मा है, वहाँ २ ज्ञान है। और जहाँ २ ज्ञान है, वहाँ २ आत्मा है। ज्ञान और आत्मा का अग्नि एव उष्णता के समान आधार-आधेय सम्बन्ध है। अग-अगी सम्बन्ध है।

(४)

अरूवी सत्ता अपयस्स पयं नत्थि।

आ०, ५, १७१-१७२, उ, ६

टीका—मोक्ष मे आत्मा का मूल स्वरूप अरूपी है। आत्मा वर्ण से, गन्ध से, रस से, और स्पर्श धर्म से रहित है। अशब्द रूप है। उसके लिए कोई भी शब्द नही जोडा जा सकता है। व्यवहार-दृष्टि से भले ही कोई शब्द जोडकर उसका ज्ञान कराया जाय, परंतु उसका वास्तविक स्वरूप पूर्ण निर्मलता प्राप्त होनेपर ही अनुभव किया जा सकता है। अमुक्ति-अवस्था में, ससार अवस्थामें, राग-द्वेप से युक्त अवस्था मे, कषाय-अवस्था मे, उसका वास्तविक अनुभव नही किया जा सकता है।

(५)

जे आया से विन्नाया,
जे विन्नाया से आया।

आ०, ५, १६६, उ, ५,

टीका—जो आत्मा है, वही ज्ञाता है, जो ज्ञाता है, वही आत्मा है। ज्ञान और आत्मा का अभिन्न सम्बन्ध है, गुण-गुणी सम्बन्ध है,

धर्म-धर्मी सम्वन्ध है। यह त्रिकाल, सर्वत्र और सर्वदा साथ २ रहने वाला तादात्म्य सम्वन्ध है। कभी भी इनमे जुदाई नहीं होती है। यदि गुण-गुणी सम्वन्ध वाले पदार्थो में से गुणो के पृथक् होने का सिद्धान्त मान लिया जायगा तो अस्ति रूप द्रव्यो को नास्ति रूप होने का प्रसग आ जायगा।

(६)

जे अज्झत्थं जाणइ, से वहिया जाणइ।
जे वहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ।

आ०, १, ५७, उ, ७

टीका—जो आत्मा अपना मूल स्वरूप जानता है,—अपने आपको अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द का स्थायी अधिकारी मानता है, वह ससार के सभी पुद्गलो का स्वरूप भी जानता है और जो बाह्य पुद्गलो को जानता है, वही अपने आतरिक आध्यात्मिक स्वरूप को भी जानता है। तात्पर्य यह है कि जो आत्मा को जानता है, वह वाह्य ससार को भी जानता है, और जो वाह्य ससार को जानता है, वह आत्मा को भी जानता है।

(७)

एगं जिणेज्ज अप्पाणं।
एस से परमो जओ॥

उ०, ९, ३४,

टीका—जो अपनी आत्मा को विषय से, विकार से, वासना से, कषाय से, जीत लेता है, यही विजय सर्वश्रेष्ठ विजय है। और ऐसी आत्मा ही सभी वीरो मे सर्व श्रेष्ठ वीर है।

(८)

अप्पाणमेव जुज्झाहि,
किं ते जुज्झेण वज्झओ।

उ०, ९, ३५

टीका—अपनी आत्मा में स्थित कषाय-विषय, विकार, वासना से ही युद्ध करो, बाह्य-युद्ध में क्या रखा है ? बाह्य युद्ध तो और भी अधिक कषाय, वैर-विरोध और हिंसा एवं प्रतिहिंसा को ही बढ़ाने वाला होता है।

(९)

अप्पाणं जइत्ता सुह मेहए।

उ०, ९, ३५

टीका—अपनी आत्मा को सासारिक भोगो से हटाकर, राजस् और तामसिक दुर्गुणो पर विजय प्राप्त कर, सात्विकता प्राप्त करने पर ही सुखी बन सकते है।

(०१)

सव्वं अप्पे जिए जियं।

उ०, ९, ३६

टीका—केवल एक आत्मा को जीत लेने पर ही यानी कषायो पर विजय प्राप्त कर लेने से ही सब कुछ जीत लिया जाता है, इसके बाद कुछ भी जीतना शेष नही रहता है।

(११)

अप्पा मित्तममित्तं च,
दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ।

उ०, २०, ३७

टीका—अपने आपको दु.खमय स्थान में पहुचाने वाला अथवा सुखमय स्थान में पहुंचानेवाला यह स्वय आत्मा ही है। यह आत्मा ही स्व का शत्रु भी है और मित्र भी है। सन्मार्ग गामी हो तो मित्र है और उन्मार्ग गामी हो तो शत्रु है।

(१२)

अप्पा कत्ता विकत्ता य,
दुहाण य सुहाण य।

उ०, २०, ३७

टीका—यह आत्मा ही अपने लिये स्वयं सुख का और दुख का कर्ता है-कर्मों का बाधने वाला है और कर्मों को काटने वाला भी यही है।

(१३)

अप्पा कामदुहा धेणू,
अप्पा मे नन्दणं वणं ॥

उ०, २०, ३६

टीका—सन्मार्ग मे प्रवृत्ति करने की दशा मे यह आत्मा स्वय-खुद के लिये कामदुग्ध धेनु–यानी इच्छा पूर्ति करने वाली आदर्श देव-गाय के समान है। नैतिक और आध्यात्मिक मार्ग पर चलने की दशा मे यह आत्मा स्वय नदन वन के समान है। पवित्र और सेवा मय कार्य करने से यह आत्मा स्वय मनोवाछित फल देने वाली हो जाती है। स्वर्ग और मोक्ष के सुखो को प्राप्त कराने वाली स्वय यही है।

(१४)

अप्पा नई वेयरणी,
अप्पा मे कूड सामली।

उ०, २०, ३६

टीका—यह आत्मा ही स्वय-खुद के लिये अनीति पूर्ण मार्ग पर चलने से वेतरणी नदी के समान है, और पाप पूर्ण कार्यो मे फसे रहने की दशा मे कूट शालमली वृक्ष के समान है। उन्मार्ग गामी होने की दशा मे आत्मा स्वय अपने लिये वेतरणी और कूट शालमली वृक्ष के जैसे नानाविध दु.खो को पैदा कर लेती है।

(१५)

न तं अरी कंठ छित्ता करेइ,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।

उ०, २०, ४८

टीका—दुराचार मे प्रवृत्त हुआ यह आत्मा स्वय का जैसा और जितना अनर्थ करता है, वैसा अनर्थ तो कठ को छेदने वाला या काटने वाला शत्रु भी नही करता है । अनर्थमय प्रवृत्ति शत्रु की प्रतिक्रिया से भी भयकर होती है और अनेक जन्मो में दु.ख देने वाली होती है ।

(१६)

कप्पिओ फालिओ छिन्नो,
उक्कित्तो अ अणेगसो ।

उ०, १९, ६३

टीका—यह पापी आत्मा अनेक वार काटा गया, कतरा गया, फाड़ा गया, चीरा गया, छेदन किया गया, टुकड़े २ किया गया, और उत्कर्त्तन किया गया यानी चमडी उतार दी गई ।

(१७)

दड्ढो पक्को अ अवसो,
पाव कम्मेहिं पाविओ ।

उ०, १९, ५८

टीका—यह पापी आत्मा पाप कर्मों के कारण से अनेक वार आग से जलाया गया, पकाया गया और दु.ख झेलने के लिये विवश किया गया है ।

(१८)

पाडिओ फालिओ छिन्नो,
विप्फुरन्तो अणेगसो ।

उ०, १९, ५५

(१२)

अप्पा कत्ता विकत्ता य,
दुहाण य सुहाण य।

उ०, २०, ३७

टीका—यह आत्मा ही अपने लिये स्वय सुख का और दुख का कर्ता है-कर्मों का बाधने वाला है और कर्मो को काटने वाला भी यही है।

(१३)

अप्पा कामदुहा धेणू,
अप्पा मे नन्दणं वणं ॥

उ०, २०, ३६

टीका—सन्मार्ग मे प्रवृत्ति करने की दशा में यह आत्मा स्वय-खुद के लिये कामदुग्ध धेनु—यानी इच्छा पूर्ति करने वाली आदर्श देव-गाय के समान है। नैतिक और आध्यात्मिक मार्ग पर चलने की दशा मे यह आत्मा स्वय नदन वन के समान है। पवित्र और सेवा मय कार्य करने से यह आत्मा स्वय मनोवाछित फल देने वाली हो जाती है। स्वर्ग और मोक्ष के सुखो को प्राप्त कराने वाली स्वय यही है।

(१४)

अप्पा नई वेयरणी,
अप्पा मे कूड सामली।

उ०, २०, ३६

टीका—यह आत्मा ही स्वय-खुद के लिये अनीति पूर्ण मार्ग पर चलने से वेतरणी नदी के समान है, और पाप पूर्ण कार्यो मे फंसे रहने की दशा में कूट शालमली वृक्ष के समान है। उन्मार्ग गामी होने की दशा में आत्मा स्वय अपने लिये वेतरणी और कूट शालमली वृक्ष के जैसे नानाविध दु खो को पैदा कर लेती है।

(१५)

न तं अरी कंठ छित्ता करेइ,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।

उ०, २०, ४८

टीका—दुराचार मे प्रवृत्त हुआ यह आत्मा स्वय का जैसा और जितना अनर्थ करता है, वैसा अनर्थ तो कठ को छेदने वाला या काटने वाला शत्रु भी नही करता है। अनर्थमय प्रवृत्ति शत्रु की प्रतिक्रिया से भी भयकर होती है और अनेक जन्मो मे दु.ख देने वाली होती है।

(१६)

कप्पिओ फालिओ छिन्नो,
उक्किन्तो अ अणेगसो ।

उ०, १९, ६३

टीका—यह पापी आत्मा अनेक बार काटा गया, कतरा गया, फाड़ा गया, चीरा गया, छेदन किया गया, टुकडे २ किया गया, और उत्कर्त्तन किया गया यानी चमडी उतार दी गई।

(१७)

दड्ढो पक्को अ अवसो,
पाव कम्मेहिं पाविओ ।

उ०, १९, ५८

टीका—यह पापी आत्मा पाप कर्मो के कारण से अनेक बार आग से जलाया गया, पकाया गया और दु.ख झेलने के लिये विवश किया गया है।

(१८)

पाडिओ फालिओ छिन्नो,
विप्फुरन्तो अणेगसो ।

उ०, १९, ५५

(१२)

अप्पा कत्ता विकत्ता य,
दुहाण य सुहाण य ।

उ०, २०, ३७

टीका—यह आत्मा ही अपने लिये स्वय सुख का और दुख का कर्ता है-कर्मों का बाधने वाला है और कर्मों को काटने वाला भी यही है।

(१३)

अप्पा कामदुहा धेणू,
अप्पा मे नन्दणं वणं ॥

उ०, २०, ३६

टीका—सन्मार्ग में प्रवृत्ति करने की दशा में यह आत्मा स्वय-खुद के लिये कामदुग्ध धेनु—यानी इच्छा पूर्ति करने वाली आदर्श देव-गाय के समान है। नैतिक और आध्यात्मिक मार्ग पर चलने की दशा मे यह आत्मा स्वय नदन वन के समान है। पवित्र और सेवा मय कार्य करने से यह आत्मा स्वय मनोवाछित फल देने वाली हो जाती है। स्वर्ग और मोक्ष के सुखो को प्राप्त कराने वाली स्वय यही है।

(१४)

अप्पा नई वेयरणी,
अप्पा मे कूड सामली ।

उ०, २०, ३६

टीका—यह आत्मा ही स्वय-खुद के लिये अनीति पूर्ण मार्ग पर चलने से वेतरणी नदी के समान है, और पाप पूर्ण कार्यो मे फसे रहने की दशा में कूट शालमली वृक्ष के समान है। उन्मार्ग गामी होने की दशा मे आत्मा स्वय अपने लिये वेतरणी और कूट शाल्मली वृक्ष के जैसे नानाविध दुखो को पैदा कर लेती है।

(१५)

न तं अरी कंठ छित्ता करेइ,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।

उ०, २०, ४८

टीका—दुराचार मे प्रवृत्त हुआ यह आत्मा स्वय का जैसा और जितना अनर्थ करता है, वैसा अनर्थ तो कठ को छेदने वाला या काटने वाला शत्रु भी नही करता है । अनर्थमय प्रवृत्ति शत्रु की प्रतिक्रिया से भी भयंकर होती है और अनेक जन्मो मे दु.ख देने वाली होती है ।

(१६)

कप्पिओ फालिओ छिन्नो,
उक्कित्तो अ अणेगसो ।

उ०, १९, ६३

टीका—यह पापी आत्मा अनेक वार काटा गया, कतरा गया, फाड़ा गया, चीरा गया, छेदन किया गया, टुकडे २ किया गया, और उत्कर्त्तन किया गया यानी चमड़ी उतार दी गई ।

(१७)

दड्ढो पक्को अ अवसो,
पाव कम्मेहिं पाविओ ।

उ०, १९, ५८

टीका—यह पापी आत्मा पाप कर्मो के कारण से अनेक बार आग से जलाया गया, पकाया गया और दु.ख झेलने के लिये विवश किया गया है ।

(१८)

पाडिओ फालिओ छिन्नो,
विप्फुरन्तो अणेगसो ।

उ०, १९, ५५

टीका—यह आत्मा अनत वार इस ससार में विभिन्न स्थानो पर विभिन्न जन्मो मे पटका गया, गिराया गया, फाड़ा गया, चीरा गया, काटा गया, टुकडे २ किया गया और शरण के लिये भागते हुए को नाना प्रकार के कष्टो से दु खी किया गया है।

दुर्लभांग-शिक्षा सूत्र

(१)

उत्तम धम्म सुई हु दुल्लहा ।

उ०, १०, १८

टीका—उत्तम, श्रेष्ठ धर्म को-दान, शील, तप और भावनामय चारित्र को सुनने का प्रसंग मिलना अत्यत दुर्लभ है । अतएव सुयोग से प्राप्त संयोग का लाभ उठाने मे जरा भी भूल नहीं करना चाहिये ।

(२)

सुई धम्मस्स दुल्लहा ।

उ०, ३, ८

टीका—धर्म की, मोक्ष मार्ग के कारणो की, आत्मोन्नति के गुणों की, ज्ञान-दर्शन-चारित्र के स्वरूप की बाते सुनने का, उपदेश सुनने का अवसर प्राप्त होना अत्यंत कठिन है। पुण्य का उदय होने पर ही धर्म के सुनने का प्रसंग मिला करता है ।

(३)

सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा ॥

उ०, १०, १९

टीका—श्रेष्ठ धर्म को सुनने का प्रसंग मिल जाने पर भी उसके प्रति श्रद्धा होना, उसपर विश्वास आना अत्यन्त कठिन है । इसलिये अहिंसा प्रधान धर्म से कभी भी विचलित नही होना चाहिए ।

(४)

सद्धा परम दुल्लहा ।

उ०, ३, ९

टीका—यदि सौभाग्य से ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष मार्ग की वाते सुनने का मौका मिल जाय, तो भी उनपर श्रद्धा आना-आत्म विश्वास का पैदा होना अत्यन्त कठिन है । दुर्लभ है !

(५)

णो सुलभं वोहिं च आहियं ।

सू०, २, १९, उ, ३

टीका—सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन मिलना अत्यन्त कठिन है । अनेक जन्मो मे सचित पुण्य के उदय से ही ज्ञान और दर्शन की प्राप्ति होती है । इसलिए जीवन को प्रमादमय नही वना-कर पर-सेवामय ही वनाना चाहिए ।

(६)

संवोही खलु दुल्लहा ।

सू०, २, १, उ, १

टीका—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है । आत्मा मे कषायो की शाति होने पर और पुण्य के उदय होने पर ही सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होती है । इसलिये जीवन मे प्रमाद को स्थान नही देना चाहिये ।

दुल्लहया काएण फासया ।

उ०, १०, २०

टीका—श्रेष्ठ धर्म का, अहिंसा प्रधान धर्म का और स्याद्वाद प्रधान सिद्धान्त का काया द्वारा आचरण किया जाना तो अत्यन्त

दुर्लभ है। अतएव प्रमाद से सदैव सावधान रहना चाहिये और मन, वचन तथा काया को धर्म-मार्ग मे प्रवृत्त करना चाहिये।

(८)

दुल्लहाओ तहच्चाओ।

सू०, १५, १८

टीका—सम्यग्-दर्शन की प्राप्ति के अनुरूप हृदय के शुद्ध परिणाम होना, निर्दोप अन्त.करण का होना अत्यन्त कठिन है। शुभ कर्मों का उदय होने पर ही सम्यग्-दर्शन के अनुसार हृदय में सरलता, प्रशस्यता, शुभ ध्यान और शुभ-लेश्या पैदा हो सकती है।

(९)

आयरिअत्तं पुणरावि दुल्लहं।

उ०, १०, १६

टीका—यदि दैवयोग से मनुष्य-शरीर मिल जाय, तो भी आर्य-धर्म की व अहिसा प्रधान धर्म की प्राप्ति होना तो वहुत ही दुर्लभ है, इसलिए क्षण-मात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिये।

(१०)

दुल्लभेऽयं समुस्सए।

सू०, १५, १७

टीका—मनुष्यभव प्राप्त करना बहुत ही कठिन है, इसलिये इससे जितना भी फायदा उठाया जा सके, उतना उठा लेना चाहिये। अन्यथा पछताना होगा।

(११)

अहीण पंचेंदियया हु दुल्लहा।

उ०, १०, १७

टीका— पाचो इद्रियां सर्वाङ्ग सुन्दर और स्वस्थ मिलना अत्यन्त दुर्लभ है, इसलिये क्षणमात्र का भी प्रमाद नही करना चाहिये।

(४)

सद्धा परम दुल्लहा ।

उ०, ३, ९

टीका—यदि सौभाग्य से ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष मार्ग की बाते सुनने का मौका मिल जाय, तो भी उनपर श्रद्धा आना-आत्म विश्वास का पैदा होना अत्यन्त कठिन है। दुर्लभ है !

(५)

णो सुलभं वोहिं च आहियं ।

सू०, २, १९, उ, ३

टीका—सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन मिलना अत्यन्त कठिन है। अनेक जन्मो में सचित पुण्य के उदय से ही ज्ञान और दर्शन की प्राप्ति होती है। इसलिए जीवन को प्रमादमय नही बनाकर पर-सेवामय ही बनाना चाहिए।

(६)

संबोही खलु दुल्लहा ।

सू०, २, १, उ, १

टीका—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है। आत्मा मे कषायो की शाति होने पर और पुण्य के उदय होने पर ही सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होती है। इसलिये जीवन मे प्रमाद को स्थान नही देना चाहिये।

दुल्लहया काएण फासया ।

उ०, १०, २०

टीका—श्रेष्ठ धर्म का, अहिंसा प्रधान धर्म का और स्याद्वाद प्रधान सिद्धान्त का काया द्वारा आचरण किया जाना तो अत्यन्त

दुर्लभ है। अतएव प्रमाद से सदैव सावधान रहना चाहिये और मन, वचन तथा काया को धर्म-मार्ग मे प्रवृत्त करना चाहिये।

(८)

दुल्लहाओ तहच्चाओ।

सू०, १५, १८

टीका—सम्यग्-दर्शन की प्राप्ति के अनुरूप हृदय के शुद्ध परिणाम होना, निर्दोष अन्त.करण का होना अत्यन्त कठिन है। शुभ कर्मों का उदय होने पर ही सम्यग्-दर्शन के अनुसार हृदय में सरलता, प्रशस्यता, शुभ ध्यान और शुभ-लेश्या पैदा हो सकती है।

(९)

आयरिअत्तं पुणरावि दुल्लहं।

उ०, १०, १६

टीका—यदि दैवयोग से मनुष्य-शरीर मिल जाय, तो भी आर्य-धर्म की व अहिंसा प्रधान धर्म की प्राप्ति होना तो वहुत ही दुर्लभ है, इसलिए क्षण-मात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिये।

(१०)

दुल्लभेऽयं समुस्सए।

सू०, १५, १७

टीका—मनुष्यभव प्राप्त करना वहुत ही कठिन है, इसलिये इससे जितना भी फायदा उठाया जा सके, उतना उठा लेना चाहिये। अन्यथा पछताना होगा।

(११)

अहीण पंचेंदियया हु दुल्लहा।

उ०, १०, १७

टीका— पाचो इद्रिया सर्वाङ्ग सुन्दर और स्वस्थ मिलना अत्यन्त दुर्लभ है, इसलिये क्षणमात्र का भी प्रमाद नही करना चाहिये!

(१२)

नो सुलभं पुणरावि जीवियं ।

सू०, २, १, उ, १

टीका—सयम जीवन वार-वार सुलभ नही है, इसलिये प्रमाद मत करो । अशुभ-मार्गमे प्रवृत्ति मत करो !

(१३)

जुद्धारिहं खलु दुल्लहं ।

आ०, ५, १५५, उ, ३

टीका—सयम मार्ग पर चलते हुए-कर्त्तव्य-मार्ग पर चलते हुए आनेवाले परिषहो को-उपसर्गों को, जो कि आर्य-शत्रु है, ऐसे आर्य शत्रुओ पर विजय-प्राप्त करके इनको जीतना ही आदर्श काम है । इसीलिये कहा गया है कि आर्य-युद्ध वहुत कठिनाई से प्राप्त होता है । इस आर्य-युद्ध में ही वीरता बतलाओ ।

(१४)

इओ विद्धंसमाणस्स,
पुणो संबोहि दुल्लभा ।

सू० १५, १८

टीका—जो जीव इस मनुष्य शरीर से भ्रष्ट हो जाता है, उसको फिर बोध-प्राप्त होना दुर्लभ है । मनुष्य जन्म प्राप्त करके जो केवल सारा समय विषय-भोगो मे ही पूरा कर देता है, एवं दान, शील, तप, और भावना से खाली हाथ जाता है, उसे सम्यग्-दर्शन पुन. प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, इसलिये समय का सदुपयोग धर्माराधन मे ही रहा हुआ है ।

(१५)

वहु कम्म लेव लित्ताणं,
वोही होइ सुदुल्लहा ।

उ० ८, १५

टीका—भारी कर्मों मे लिप्त जीवों को, भोगों मे फंसे हुए जीवो को, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र और नीति मार्ग की प्राप्ति वहुत ही कठिनाई से होती है।

(१६)

सुदुल्लहं लहिउं बोहि लाभं विहरेज्ज।

उ०, १७, १

टीका—सुदुर्लभ सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन की प्राप्ति करके, आत्म-कल्याण के मार्ग पर आरूढ होकर आनन्द पूर्वक निर्लेपता के साथ और निश्चितता के साथ विचरो। इसी रीति से जीवन-काल व्यतीत करो।

(१७)

माणुस्सं खु सुदुल्लहं।

उ०, २०, ११

टीका—मनुष्य-जीवन मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। अनेक जन्मों में महान् पुण्य कर्मो का संचय होने पर ही मनुष्य-जन्म की प्राप्ति होती है। इसलिए वहुमूल्य समय को व्यर्थ, और अनुपयोगी कामों में खर्च मत करो।

(१८)

मायाहिं पियाहिं लुप्पइ,
नो सुलहा सुगई य पेच्चओ।

सू०, २, ३, उ, १

टीका—जो पुरुष अपना कर्त्तव्य भूलकर माता-पिता के मोह में फस जाता है-मोह-ग्रस्त हो जाता है, उसकी मरने पर सुगति नही हो सकती है।

★

ज्ञान-सूत्र

(१)

एगे नाणे ।

ठाणाग, १ ला, ठा, ४२

टीका—आत्मा का लक्षण ज्ञान बताया गया है । आत्मा एक अखंड द्रव्य है, स्वतत्र सत्ता वाला अरूपी द्रव्य है, । तदनुसार उसका लक्षण यानी धर्म भी अखड और स्वतन्त्र ही है । ज्ञान-शक्ति प्रत्येक आत्मा मे अखड रूप से और अपने आपमें परिपूर्ण रूप से व्याप्त है ।

ससार में विभिन्न जीवो मे जो ज्ञान के भेद या परस्पर मे जो ज्ञान की विभिन्नता पाई जाती है, उसका मूल कारण आत्मा मे संलग्न कर्म परमाणु है, जैसे सूर्य के प्रकाश में बादलो के कारण से छाया और प्रकाश की तारतम्यता देखी जाती है, उसी तरह से कर्मो के भेद से या कर्मो की विषमता से ससारी आत्माओ के ज्ञान मे भी भेद पाया जाता है । परन्तु मूल में सभी आत्माओ में समान, परिपूर्ण, अखड और एक ही ज्ञान अवस्थित है, किसी मे भी कम या अधिक नही है, अतएव यह कहना कि "ज्ञान एक ही है" सत्य है ।

(२)

पढमं नाणं तओ दया ।

द०, ४, १०

टीका—प्रथम सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । इसके बाद की जाने वाली क्रिया सम्यक् है, ठीक है । यही मोक्ष-मार्ग को

देने वाली हो सकेगी। अतएव ज्ञान होना सर्व प्रथम आवश्यक है। आदि मे ज्ञान और तत्पश्चात् दया को स्थान दिया गया है।

(३)

दुविहा बोही,
णाण बोही चेव दंसण बोही चेव।

ठाणा०, २ रा, ठा०, ३, ४, ११

टीका—समझ दो प्रकार की है—१ ज्ञान समझ और २ दर्शन समझ।

वस्तुओ को जानना-पहिचानना ज्ञान-समझ है और उन पर उसी रीति से विश्वास करना दर्शन समझ है।

(४)

नाणेण जाणई भावे।

उ०, २८, ३५

टीका—सम्यक् ज्ञान होने पर ही, सभी द्रव्यो का और उनकी पर्यायो का, उनके गुणो का और उनके धर्मो का भली भांति ज्ञान हो सकता है।

(५)

नाणेण विना न हुन्ति चरणगुणा।

उ०, २८, ३०

टीका—जिस आत्मा मे सम्यक् ज्ञान नही है, उस आत्मा का चारित्र भी ऐसी अवस्था में सम्यक् चारित्र नही कहा जा सकता है।

(६)

दुविहे नाणे पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव।

ठाणा०, २रा, ठा, १ला, उ०, २४,

टीका—प्रमुख रूप से ज्ञान दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष और

परोक्ष। इन्ही दो ज्ञान-भेदो में ज्ञान के अवशिष्ट सभी भेदों का समावेश किया जा सकता है।

आत्म-शक्ति के आधार से उत्पन्न होने वाले अवधिज्ञान, मनः-पर्याय ज्ञान और केवल ज्ञान का समावेश तो प्रत्यक्ष ज्ञानमें किया जा सकता है, और मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम, स्मृति, प्रत्यभि ज्ञान, बुद्धि ज्ञान, कल्पना ज्ञान, और विभिन्न साहित्यिक ज्ञान का समावेश परोक्ष मे किया जा सकता है। परोक्ष इन्द्रिय और मन जनित होता है।

(७)

नाण संपन्नयाए जीवे,
सव्व भावाहि गमं जणयइ।

उ०, २९, ५९वाँ, ग०

टीका—ज्ञान सपन्नतासे, ज्ञान की वृद्धि करने से, आत्मा विश्व-व्यापी छ ही द्रव्यो का और उनकी पर्यायो का तथा उनके गुण-धर्मों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इससे चारित्र में वृद्धि करनेका मौका मिलता है।

(८)

चउव्विहा बुद्धी, उप्पइया,
वेणइया, कम्मिया, पारिणामिया।

ठाणा०, ठा, ४ उ; ४,३१

टीका—बुद्धि चार प्रकार की कही गई है —१ औत्पातिकी, २ वैनयिकी, ३ कार्मिकी ४ पारिणामिकी।

(१) किसी भी प्रसंग पर सहज भावसे उत्पन्न होनेवाली और उपस्थित प्रश्नको तत्काल हल कर देने वाली बुद्धि औत्पातिकी बुद्धि है।

(२) गुरु आदि पूजनीय पुरुषो की सेवा-भक्ति करने से पैदा होने वाली बुद्धि वैनयिकी है ।

(३) अभ्यास करते करते और कार्य करते करते प्राप्त होने-वाली बुद्धि कार्मिकी है ।

(४) ज्यों ज्यो आयु के वढने पर संसार के अनुभव से प्राप्त होने वाली वुद्धि पारिणामिकी वुद्धि है ।

(९)

जिणो जाणइ केवली ।

द०, ४, २२

टीका—राग और द्वेष पर, आत्यन्तिक विजय प्राप्त करने वाले जिन-प्रभु, केवल ज्ञानी ही सम्पूर्ण लोक और अलोक को देख सकते हैं । ऐसे जिन देव ही हमारे आदर्श हैं ।

(१०)

ना दंसणिस्स नाणं ।

उ०, २८, ३०

टीका—जिस आत्मा को सम्यक् दर्शन यानी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ है, उसका ज्ञान भी सम्यक् ज्ञान नही कहा जा सकता है, वह ज्ञान तो मिथ्या ज्ञान ही है ।

(११)

नाणेण य मुणी होइ,
तवेण होइ तावसो ।

उ०, २५, ३२

टीका—जो सम्यक् ज्ञान से युक्त होता है, वही मुनि है । और जो तप-सयम से युक्त है, वही तपस्वी है । गुणों के अनुसार ही पद की शोभा है । गुणो के अभाव में पद धारण करना विडम्बना मात्र है ।

(१२)

वुद्धा हु ते अंतकडा भवंति ।

सू०; १२, १६

टीका—ज्ञानी पुरुष अपने ससार का अत करने वाले होते है। ज्ञानी-ज्ञान वल से वस्तु-स्थिति समझ कर भोगो और तृष्णा के जाल में नही फँसते है, इससे शीघ्र कर्मो का नाश कर उन्हे मोक्ष तक पहुँचने मे कोई खास कठिनाई नही आती है। वे शीघ्र ही अपने आत्म वल, चारित्र वल, कर्मण्यता वल, सेवा वल, और ज्ञान वल से संसार के सामने आदर्श महापुरुष वन जाते है।

(१३)

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ,
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ।

आ०, ३, १२३, उ, ४

टीका—जिसने एक यानी अपनी आत्मा का स्वरूप भलीभाति समझ लिया है, उसने सारे संसार का स्वरूप समझ लिया है और जिसने सारे ससार का स्वरूप समझ लिया है, उसने अपनी आत्मा का भी स्वरूप समझ लिया है। जो एक को जानता है, वह सवको जानता है, जो सवको जानता है, वह एक को भी जानता है।

(१४)

सीहे मियाण पवरे,
एवं हवइ वहुस्सुए ।

उ०, ११, २०

टीका—जैसे केशरी सिंह सभी वन-चर-जीवो मे श्रेष्ठ और प्रमुख होता है, वैसे ही वहुश्रुत ज्ञानी भी विनीत होने पर ही शोभा पाता है। ज्ञानकी शोभा विनय पूर्वक सम्यक् आचरण पर ही आश्रित है।

(१५)

सक्के देवाहि वई,
एवं हवई बहुस्सुए।

उ०, ११, २३

टीका—जैसे देवताओ का स्वामी इन्द्र देवताओ में शोभा पाता है, वैसे ही बहुश्रुत-ज्ञानी, विनीत होने पर ही जन-समाज मे शोभा को प्राप्त होता है।

(१६)

उदही नाणारयण पडिपुण्णे,
एवं हवइ बहुस्सुए।

उ०, ११, ३०

टीका—जैसे समुद्र नानाविध रत्नो से परिपूर्ण होता है, वैसे ही बहुश्रुत-ज्ञानी विनय शील होता हुआ स्वाभाविक रूप से ही नाना गुणो से परिपूर्ण हो जाता है।

(१७)

सुय महिट्ठिज्जा उत्तमट्ठ गवेसए।

उ०, ११, ३२

टीका—उत्तम अर्थ की खोज करने के लिये, आत्मा और परमात्मा के रहस्य को समझने के लिए, आत्मा की अनुभूति के लिये, सूत्र का अध्ययन करना चाहिये। भगवान की वाणी का मनन और चिन्तन करना चाहिये।

(१८)

सज्झायंमि रओ सया

द०, ८, ४२

टीका—सदैव स्वाध्याय मे ही लगे रहना चाहिये, ज्ञान वढाने वाली पुस्तके पढने मे ही सलग्न रहना चाहिए। क्योकि ज्ञान ही उन्नति का मार्ग-दर्शक है ।

(१९)

सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो,
खवित्तु कम्मं गइ मुत्तमं गया ।

उ०, ११, ३१

टीका—विपुल अर्थ वाले श्रुत ज्ञान के धारक और षट् काय जीवों की रक्षा करने वाले, ऐसे वहुश्रुत ज्ञानी और दयाशील आत्मार्थी महापुरुष कर्मों का क्षय करके उत्तम गति को यानी मोक्ष को प्राप्त हुए है। यही आदर्श हमारे सामने भी होना चाहिये ।

(२०)

वसे गुरुकुले निच्चं ।

उ०, ११, १४

टीका—शिक्षार्थी, ज्ञानार्थी, नियम पूर्वक ज्ञान-प्राप्ति के लिये और आचरण शुद्धि के लिये गुरुकुल में अथवा ऋषि महात्माओ की सगति में वास करे। इसी प्रकार अपना जीवन-भाग वितावे ।

★

दर्शन-सूत्र

(१)

संमत्त दंसी न करेइ पावं।

आ०, ३, ४, उ, २

टीका—जो सम्यक् दृष्टि है, जिसका एकान्त ध्येय ज्ञान, दर्शन और चारित्र में ही रमण करना है, जो चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते और दूसरी क्रियाऐ करते हुए भी विवेक और यतना का ख्याल रखते है, अहिसा और सेवा को ही मूल आधार मानकर जीवन-व्यवहार चलाते है, तो ऐसी स्थिति में शरीर सम्बन्धी और अन्य व्यवहार सम्बन्धी सभी क्रियाएँ करने की दशा मे भी उनको पाप कर्म नही छू सकता है। इस प्रकार सम्यक् दृष्टि पाप नही करता है। योग-प्रवृत्ति होनेपर भी वह पाप से मुक्त है।

(२)

नत्थि चरित्तं सम्मत्त विहूणं।

उ०, २८, २९

टीका—सम्यक्त्व के बिना, श्रद्धा के बिना-वास्तविक विश्वास के बिना, सम्यक् चारित्र की प्राप्ति नही हो सकती है। विश्वास के अभाव मे चारित्र केवल बाह्य साधारण आचरण मात्र है, वह मोक्ष की तरफ बढ़ाने वाला वैराग्यमय सुन्दर चारित्र नही कहा जा सकता है।

(३)

दंसणेण य सद्दहे।

उ०, २८, ३५

टीका—सम्यक् दर्शन होने पर ही सभी द्रव्यो की, इनके पर्यायों की और इनके गुणों की श्रद्धा जम सकती है, इनपर विश्वास हो सकता है।

(४)

नाण-भट्ठा दंसण लूसिणो।

आ०, ६, १८७, उ, ४

टीका—जो सम्यक् दर्शन से भ्रष्ट हो जाते है, जिनका विश्वास आत्मा, ईश्वर, पाप, पुण्य आदि सिद्धान्तो पर से उठ जाता है, उनका सम्यक् ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। वे ज्ञान से भ्रष्ट होकर मिथ्यात्वी हो जाते है। मिथ्यात्वी हो जाने पर उनका लक्ष्य केवल भोग भोगना, सांसार सुख प्राप्त करना, ससारिक वैभव एकत्र करना ही रह जाता है। इस कारण उनका ज्ञान मिथ्या ज्ञान है और वे मिथ्यात्वी है। इस प्रकार दर्शन से पतित आत्माऐं, ज्ञान भ्रष्ट हो जाया करती है।

(५)

समियंति मन्नमाणस्स समिया,
वा असमिया वा समिश्रा होइ।

आ०, ५ १६४, उ,५

टीका—जो आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे पूरी पूरी श्रद्धा करता है और डिगाने पर भी नही डिगता है, तो ऐसे सम्यक्त्वशील आत्मा के लिये सच्चा और मिथ्या दोमो ही प्रकारका ज्ञान सत्य रूप से परिणमित हो जाता है। असत्य भी सम्यक्त्वी के लिये सत्य रूप से ही काम देता है, यह सव महिमा सम्यक्त्व की ही है।

(६)

वीरा सम्मत्त दंसिणो,
सुद्धं तेसिं परक्कंतं।

सू०, ८, २३

टीका—जो सम्यक् दर्शनी है अर्थात् ससार के सुख मे रहते हुए भी जिनका दृष्टिकोण अनासक्त रूप है, ऐसे वीर पुरुषो का प्रयत्न चाहे वह कैसा भी हो तो भी शुद्ध ही है, ससार को घटाने वाला ही है, बशर्ते कि वे वास्तव मे अनासक्त और विरक्त हो।

(७)

दंसण संपन्नयाए,
भव मिच्छत्त छेयणं करेइ।

उ०, २९, ६०वाँ, ग०

टीका—दर्शन संपन्नता से, सम्यक्त्व से, धर्म मे विश्वास करने से मिथ्यात्व का नाश होता है, भोगो की तरफ अरुचि बढ़ती है, ससार-परिभ्रमण की मात्रा घटती है, एव सूत्र-सिद्धान्तो का ज्ञान बढता है।

(८)

सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे।

द०, १०, ७

टीका—सम्यक् दृष्टि आत्मा ही, आत्मा और परमात्मा पर एक-मात्र दृष्टि रखने वाला पुरुष ही, ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे लीन व्यक्ति ही सदैव अमूढ़ होता है। वह चतुर, सत्दर्शी और सम्यक् मार्गी होता है।

(९)

दिट्ठिमं दिट्ठि ण लूसएज्जा।

सू०, १४, २५

टीका—सम्यग् दृष्टि पुरुष अपनी श्रद्धा को और अपने सम्यग् दर्शन को एव शुद्ध-भावना को दूषित नही करे।

सम्यक्-दर्शन में चल-विचलता, सशय, भावोकी समिश्रणता, विप-रीत धारणा आदि दुर्गुण नही आने दे।

(१०)

चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ।

उ०, २९, ९ वा, ग०

टीका—चौवीस तीर्थंकरो की स्तुति करने से, ईश्वर-भजन करने से दर्शनमे, श्रद्धामे, सम्यक्त्वमे विशुद्धि आती है। दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय होता है और भावना मे निर्मलता तथा दृढता पैदा होती है।

(११)

वितिगिच्छ समावन्नेणं,
अप्पाणेणं नो लहइ समाहिं।

आ०, ५, १६२, उ, ५

टीका—जिस आत्मा को ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी आराधना करते हुए नानाप्रकार की शकाएँ पैदा हो जाती है, नवतत्वो और षड्-द्रव्यों के प्रति तथा अन्य दार्शनिक सिद्धान्तो के प्रति भ्रमणाएँ पैदा हो जाती है, भ्रम हो जाता है, ऐसी आत्मा समाधि रूप शाति को नही प्राप्त कर सकती है। सयम-आराधना के लिये और कर्त्तव्य-पालन के लिए पूर्ण श्रद्धा तथा समाधिमय शाति की अनिवार्य आवश्यकता है। सदेह शील आत्मा चिर शाति नही प्राप्त कर सकती है।

(१२)

दुविहे दंसणे, सम्म दंसणे चेव,
मिच्छा दंसणे चेव।

ठाणा०, २ रा, ठा, १ ला, उ, २३

टीका—संसार की वस्तुओ को, विश्व के द्रव्यो को देखने के दो दृष्टिकोण है :- १ सम्यक् दर्शन और २ मिथ्या दर्शन।

सम्यक्-दर्शन मे आत्मा की पवित्रता प्रथम ध्येय होता है और जीवन का व्यवहार गौण होता है।

मिथ्या दर्शन में ससार का सुख-वैभव प्राप्त करना मुख्य ध्येय होता है, और आत्मा ईश्वर आदि आध्यात्मिक बातो के प्रति उपेक्षा होती है।

चारित्र-सूत्र

(१)

एगे चरित्ते ।

ठाणा०, १ ला, ठा, ४४

टीका—विशुद्ध आत्मा का विशुद्ध चारित्र ही एक अखड और वास्तविक चारित्र है। वही परिपूर्ण चारित्र है।

संसार मे विभिन्न आत्माओ का जो विभिन्न आचरण रूप चारित्र पाया जाता है, उसका मूल कारण कषाय, विषय, वासना, विकार और शुद्धि की अल्पाधिकता समझनी चाहिये।

सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो मूल मे जो आदर्श चारित्र है, वही एक और अखड है। उसी मे कर्म-भेद से नाना भेद हुआ करते है।

(२)

चरित्तेण निगिण्हाइ ।

उ०, २८, ३५

टीका—सम्यक् चारित्र के द्वारा ही सब प्रकार के आश्रव का विरोध किया जा सकता है।

चारित्र के अभाव में आश्रव नही रोका जा सकता है।

(३)

विज्जा-चरणं पमोक्खं ।

सू०, १२, ११

टीका—विज्जा यानी ज्ञान और चरणं यानी क्रिया, इन दोनों से ही मोक्ष मिलता है। सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। दोनो में से एक के भी अभाव में मोक्ष नहीं मिल सकता है। दोनों का साथ-साथ होना आवश्यक है। ज्ञान

शब्द से ज्ञान और दर्शन दोनों ही समझना चाहिये। "सम्यग् ज्ञान-दर्शन चारित्राणि मोक्ष मार्ग" अथवा "ज्ञान-क्रियाभ्याम् मोक्षः" वाक्य भी इसी सूक्ति के पर्याय वाची वाक्य है।

(४)

खंते अभिनिव्वुडे दंते,
वीत गिद्धी सदा जए।

सू०, ८, २५

टीका—आत्म-कल्याण की भावना वाला पुरुष क्षमा-शील हो, लोभादि कषाय से रहित हो, जितेन्द्रिय हो, विषय-भोग मे आसक्ति रखने वाला नही हो, तथा सदा यत्न पूर्वक, विवेक-पूर्वक जीवन व्यतीत करने वाला हो।

(५)

जवा लोह मया चेव,
चावेयव्वा सुदुक्करं।

उ०, १९, ३९

टीका—सयम यानी इन्द्रिय-दमन का मार्ग और मन के विकारों पर विजय करने का मार्ग लोहे के जौ चवाने के समान अत्यन्त कठिनतम कार्य है। यह सुदुष्कर व्रत है।

(६)

सामाइय माहु तस्स जं,
जो अप्पाणं भए ण दंसए।

सू०, २, १७, उ, २

टीका—जो अपनी आत्मा मे जरा भी भय अनुभव नही करता है, जो सदैव निर्भय, निर्द्वंद्व रहता है, जो प्रिय, सत्य और सुन्दर बात को बिना लाग-लपेट के निर्भयता पूर्वक कहता है, उसके लिए सदैव सामयिक ही है। भय के साथ सामायिक भाव नही रह सकता है।

तप-सूत्र

(१)

तवं चरे।

उ०, १८, १५

टीका—तपस्या का, त्याग का, निर्लेपता का और अकिंचनता का आचरण करो। बारह प्रकार की निर्जरा को जीवन में स्थान दो।

(२)

तवसा धुणइ पुराण पावगं।

द०, ९, ४, च० उ०

टीका—पूर्व काल मे,—पूर्व जन्मो में किये हुए पापों की निर्जरा तप द्वारा होती है। अन-शन, उणोदरी आदि तप के भेद है, इसके सिवाय पर-सेवा, ज्ञान ध्यान की आराधना, कषाय त्याग आदि सद् क्रियाऐं भी तप है।

(३)

तवेण परिसुज्झई।

उ०, २८, ३५

टीका—बारह प्रकार के तप से ही, इन्द्रिय-दमन आदि तपस्या द्वारा ही पूर्व काल मे उपार्जित कर्मो का क्षय किया जा सकता है।

(४)

तवो गुण पहाणस्स उज्जुमइ।

द०, ४, २७

टीका—जिसने अपने जीवन मे, तप को-बाह्य और आभ्यंतर दोनो प्रकार की तपस्या को, मुख्य रूप से स्थान दिया है, वह ऋजु-मति है, वह सरल बुद्धि वाला है, वह निष्कपट हृदय वाला है।

(५)

तवं कुव्वइ मेहावी ।

द०, ५, ४४, उ, द्वि,

टीका—मेधावी का, बुद्धि-शाली का और विवेक शाली का प्रत्येक कार्य विवेक पूर्वक होने से वह तपमय ही होता है, वह निर्जरा का ही कारण बनता है । विवेक मे ही धर्म है ।

(६)

तवेणं वोदाणं जणयइ ।

उ०, २९, २७वा, ग,

टीका—तपसे, बारह प्रकार के तप की परिपालना करने से-तप की आराधना से पूर्व कृत कर्मों का क्षय होता है । इस प्रकार आत्मा निर्मल और बलवान् बनती है ।

(७)

परक्कमिज्जा तव संजमंमि ।

द०, ८, ४१

टीका—तप और संयम मे सदैव पराक्रम बतलाना चाहिए, क्योकि विकारो को जीतने के लिये सयम अद्वितीय साधन है ।

(८)

सव्वओ संवुडे दंते,
आयाण सुसमाहरे ।

सू०, ८, २०

टीका—बाहिर और भीतर दोनो ओर से गुप्त रहे, संयम-शील रहे । हृदय में माया आदि कषाय और अशुभ ध्यानो का निवास नही होने दे, तथा बाहिर वचन और काया को अशुभ प्रवृत्तियो से रोके । इन्द्रियों का दमन और सयम की आराधना करता रहे । दर्शन, ज्ञान, और चारित्र का पालन तत्परता के साथ विशुद्ध रीति से करता रहे ।

(९)

अकोहणे सच्चरते तवस्सी ।

सू०, १०, १२

टीका—जो कठिन से कठिन और प्रतिकूल परिस्थिति में भी क्रोध नहीं करता है, और विकट से विकट संकट मे भी सत्य को नहीं छोड़ता है, वही पुरुष सच्चा तपस्वी है, वह श्रेष्ठ तपस्वी है। वही आदर्श पर-सेवक है।

(१०)

अप्पा दन्तो सुही होइ ।

उ०, १, १५

टीका—जो अपनी आत्मा को विषय-कषाय से, विकार-वासना से, आसक्ति-मूर्च्छा से और तृष्णा-आशा से अलग करता रहता है, आत्मा का इस प्रकार दमन करता रहता है वही अंत में सुखी होता है।

(११)

णो पूयणं तवसा आवहेज्जा ।

सू०, ७, २७

टीका—तपस्या के द्वारा पूजा की इच्छा नही करे, तपस्या का ध्येय आत्म-कल्याण का रखे, तपस्या के द्वारा पूजा मान-सन्मान की आकांक्षा नही करे। पूजा-सन्मान की भावना नियाणा है, और नियाणा से मोक्ष-प्राप्ति के स्थान पर ससार की ही वृद्धि होती है।

(१२)

वेएज्ज निज्जरा पेही ।

उ०, २, ३७

टीका—निर्जरा प्रेक्षी, पूर्व कर्मो को क्षय करने की इच्छा रखने वाला, दुःखको, परिषह को, उपसर्ग को और कठिनाइयो को शांति-पूर्वक सहन करे। अधीर और अशांत नही बन जाय !

(१३)

समाहि कामे समणे तवस्सी ।

उ०, ३२, ४,

टीका—साधु को,-आत्मार्थी को यदि समाधि की इच्छा है, राग-द्वेष को क्षय करने की इच्छा है, तो तपशील बने, इन्द्रियो के ऊपर सयम रक्खे, और अनासक्त जीवन व्यतीत करे। निरन्तर पर-सेवा में ही काल व्यतीत करता रहे।

(१४)

असिधारा गमणं चेव,
दुक्करं चरिउं तवो।

उ०, १९, ३८

टीका—कष्ट साध्य परन्तु सुन्दर परिणाम वाले तप का तथा सेवा और सयम का आचरण करना तलवार की धार पर चलने के समान दुष्कर है।

(१५)

दुविहे सामाइए,
अगार सामाइए, अणगार सामाइए।

ठाणा०, २ रा, ठा, उ, ३, ६

टीका—सामायिक दो प्रकार की कही गई है—१ आगारिक सामायिक और २ अणागारिक सामायिक। मर्यादित समय की, गृहस्थो द्वारा की जाने वाली सामायिक आगारिक है और जीवन-पर्यंत के लिये ग्रहण की जाने वाली-साधुओ की सामायिक अणागारिक है।

(१६)

सामाइएणं सावज्ज जोग विरइं जणयइ।

उ०, २९, ८, वां, ग०

टीका—सामायिक व्रत से-सावद्य-योग की निवृत्ति से-मन, वचन और काया की पापकारी प्रवृत्ति का निरोध होता है। सावद्य योग से विरति पैदा होकर निरवद्य-योग मे प्रवृत्ति होती है।

(१७)

पडिक्कमणेणं वय छिद्दाणि पिहेइ।

उ०; २९, ११ वा, ग०,

टीका—प्रतिक्रमण करने से-कृत अपरावो की आलोचना करने से-ग्रहित व्रतो में उत्पन्न दोपो का प्रायश्चित्त करने से व्रतों के दोष और ग्रहित नियमों के दोष ढक जाते है, और इस प्रकार व्रत-नियम निर्दोष हो जाते हैं।

(१८)

काउस्सग्गेणं तीय पडुप्पन्नं,
पायच्छित्तं विसोहेइ।

उ०, २९, १२वां, ग.

टीका—कायोत्सर्ग करने से, ध्यान करने से, प्रवृत्तियो को रोक कर-मानसिक-स्थिति को एकाग्र कर चिन्तन-मनन करने से, भूतकाल और वर्तमान काल के अतिचारो की विशुद्धि होती है तथा भविष्य में दोष लगनें की संभावना से आत्मा वच जाती है।

(१९)

पच्चक्खाणेणं आसव दाराइं निरुम्भइ।

उ० २९, १३ वाँ, ग०,

टीका—प्रत्याख्यान करने से, त्याग करने से, वस्तुओ के भोग-उपभोग की मर्यादा करने से, आश्रव के द्वारो का निरोध होता है। इस प्रकार नये कर्म आते हुए रुकते है। इस रीति से संसार-समुद्र के किनारे की ओर बढते है और मोक्ष के नजदीक जाते हैं।

(२०)

पायच्छित्त करणेणं पावकम्म,
विसोहिं जणयइ।

उ०, २९, १६ वाँ, ग०

टीका—प्रायश्चित्त करने से-अपने द्वारा कृत अपराधों के लिए और ग्रहित व्रतों में आये हुए दोषो के लिये निन्दापूर्वक आलोचना करने से, एव पश्चात्ताप करने से पाप कर्मों का क्षय होता है और आत्मा की विशुद्धि होती है।

(२१)

वेया वच्चेणं तित्थयर-
नाम गोत्तं कम्मं निबन्धइ ।

उ०, २९, ४३ वाँ, ग०

टीका—वैयावृत्य करने से, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओ की, चतुर्विध श्री सघ की सेवाशुश्रुपा करने से, इन्हे साता पहुँचाने से, तीर्थंकर नाम कर्म का और उच्च गोत्र कर्म का वन्ध पडता है। इस रीति से मोक्ष-स्थान अति निकट आ जाता है।

(२२)

आलोयणाए उज्जु भावं जणयइ।

उ०, २९, पा० ग०

टीका—आलोचना से और पाप का प्रायश्चित्त करने से सरलता आती है, निष्कपटता पैदा होती है। इससे आत्मवल वढता है एव चारित्र में प्रगति होती है।

(२३)

सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो,
न दीसइ जाइ विसेस कोई ।

उ०, १२, ३७

टीका—तप की और सयम प्रधान सदगुणो की ही विशेषता और आदर-दृष्टि प्रत्यक्ष रूप से देखी जाती है। जाति-कुल-कुटुम्ब आदि की विशेषता अथवा उच्चता गुणो के अभाव में जरा भी आद-

रणीय नही है। बाह्य-उच्चता कृत्रिम उच्चता है। गुण-उच्चता ही वास्तविक उच्चता है।

(२४)

मज्झत्थो निज्जरापेही,
समाहि मणुपालए।

आ०, ८, २१, उ, ८

टीका—विपरीत परिस्थिति मे भी मध्यस्थ होता हुआ, निर्जरा की आराधना करता हुआ, विभिन्न प्रकार के तपो का पालन करता हुआ, ज्ञानी पुरुष समाधि की और स्थिति-प्रज्ञ-भावना की सम्यक् प्रकार से परिपालना करे। वह धर्म पर दृढ रहे। मति को चंचल और चपल नही होने दे। वह कर्त्तव्य से पतित न हो।

(२५)

चउव्विहे पायच्छित्ते,
णाणपायच्छित्ते, दंसण पायच्छित्ते,
चरित्त पायच्छित्ते, वियत्त किच्चे पायच्छित्ते।

ठाणा०, ४था, ठा, उ, १, ३३

टीका—चार प्रकार के प्रायश्चित्त कहे गये है—१ ज्ञान प्रायश्चित्त, २ दर्शन प्रायश्चित्त, ३ चारित्र प्रायश्चित्त और ४ व्यक्त कृत्य प्रायश्चित्त। १ ज्ञान की आराधना करके पापो की शुद्धि करना ज्ञान प्रायश्चित्त है। २ दर्शन की या श्रद्धा की विशुद्धि करके पापो का प्रायश्चित्त करना दर्शन प्रायश्चित्त है। ३ निर्मल चारित्र की आराधना करके पापो का पश्चाताप करना चारित्र प्रायश्चित्त है। ४ अनासक्त और पूर्ण गीतार्थ होकर, एव असाधारण विद्वान् वनकर पापो का प्रायश्चित्त करना व्यक्त कृत्य प्रायश्चित्त है।

(२६)

किसए देह मणासणाइहिं ।

सू०, २, १४, उ, १

टीका—इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने के लिये, मनको नियंत्रित करने के लिये अनशन, उपवास आदि बाह्य और आभ्यतर तपस्या के द्वारा शरीर को कृश करे । तप से शरीर की धातुओ को सुखावे ।

मोक्ष-सूत्र

(१)

खेमं च सिवं अणुत्तरं ॥

उ०, १०, ३५

टीका—मोक्ष निरावाध सुख वाला है, शाश्वत् है, कल्याणकारी है, सर्वोत्कृष्ट है। मोक्ष क्षेम मय है, शिव मय है और सर्व श्रेष्ठ है।

(२)

सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ नविज्जइ,
मई तत्थ न गाहिया, उवमा न विज्जए।

आ०, ५, १ १-१७२-उ, ६

टीका—आत्मा की मुक्त-अवस्था शब्दातीत है, शब्दो से उसका वर्णन नही किया जा सकता है, सब शब्द उसके स्वरूप का वर्णन करने मे हार खा जाते है। तर्क-शास्त्र भी अपनी असमर्थता बतला देता है। मनुष्यो की बुद्धि, कल्पना और अनुमान भी उसके मूल स्वरूप को नही खोज सकते है। किसी उपमा द्वारा भी उस मुक्त-अवस्था की तुलना नही की जा सकती है। इस प्रकार मुक्ति-अवस्था अनिर्वचनीय है, अतर्कनीय है, अनुमानातीत है, अनुपमेय है। वह तो केवल अनुभव-गम्य मात्र है। अपौद्गलिक है, एकान्त रूप से आत्मा की सर्वोच्च और अन्तिम मौलिक अवस्था है। केवल स्थायी निरावाध आध्यात्मिक आनंद अवस्था है। वेद भी "नेति नेति"—"ऐसा नही है ऐसा नही है," यह कहकर उसके स्वरूप वर्णन मे अपनी असमर्थता जाहिर करते है।

(३)

सुद्धेण उवेति मोक्खं ।

सू०, १४, १७

टीका—शुद्धता से ही, निष्कषाय अवस्था से ही, मोक्ष प्राप्त होता है । कषाय का सर्वथा अभाव होगा तो अपने आप यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति हो जायगी, और इससे स्वभावत मुक्ति की प्राप्ति हो जायगी ।

(४)

अव्वावाहं सुक्खं,
अणुहोंती सासयं सिद्धा ।

उव०, सिद्ध, २१

टीका—सिद्ध प्रभु सदैव अव्याबाध यानी निराबाध, शाश्वत्, स्थायी, नित्य, अक्षय, अविच्छिन्न धारा वाले सुख का अनुभव करते रहते हैं । उनके सुखानुभव मे किसी भी प्रकार की और कभी भी कोई बाधा उपस्थित नही होती है । बाधा उपस्थिति का कारण कर्म होता है, जो कि वहाँ नही है ।

(५)

सव्व संग विनिम्मुक्को,
सिद्धे भवइ नीरए ।

उ०, १८, ५४

टीका—मोक्ष स्थान में, मुक्त अवस्था में प्रत्येक मुक्त आत्मा सिद्ध होकर-सपूर्ण रीति से कृतकृत्य होकर, आठो कर्मो से रहित होकर, सभी कषाय-विषय, विकार, वासना, मूर्च्छा, परिग्रह—आसक्ति आदि से सर्वथा मुक्त होकर, निराकार निरंजन रूप से सर्व शक्ति सम्पन्न होकर अनन्त काल के लिए स्थित हो जाती है ।

(६)

सिद्धो हवइ सासओ।

द०, ४, २५

टीका—आत्मा मोक्ष मे जाने के बाद वहाँ से लौट कर नहीं आती है, क्योकि कर्मो का आत्यतिक क्षय हो जाता है, इसीलिये कहा गया है कि सिद्ध-अवस्था, मुक्त-अवस्था, शाश्वत होती है, नित्य और अक्षय होती है।

(७)

सव्व मणागय मद्धं,
चिट्ठंति सुहं पत्ता।

उत्त०, सिद्ध, २२

टीका—मुक्त-आत्माऐं जिस क्षण से मुक्त होती है उस क्षण से लगाकर भविष्य में सदैव के लिये, अनन्तानन्त काल तक के लिये, अनन्त सुखों में ही स्थित रहती है। उनके सुख मे—कभी भी कोई बाधा उपस्थित नही होती है।

(८)

णिच्छिण्णं सव्व दुक्खा,
जाइ जरा मरण बंधण-विमुक्का।

उत्त०, सिद्ध, २१

टीका—मुक्त-अवस्था मे किसी भी प्रकार का कोई दु ख नही है, सिद्ध-प्रभु सभी प्रकार के दु खो से मुक्त है। जन्म, वृद्धत्व, मृत्यु और कर्म बन्धन जैसी सासारिक सभी उपाधियो से वे सर्वथा मुक्त है। उनके लिये कोई भी उपाधि शेष नही है।

(९)

अजरा अमरा असंगा।

उत्त०, सिद्ध, २०

टीका—मुक्त आत्माओं मे कभी भी वृद्धत्व नही आता है, यानी वाल, युवा और वृद्धत्व आदि अवस्थाओ से वे रहित है, क्योकि ये अवस्थायें पौद्गलिक धर्म वाली है, जव कि मोक्ष मे पौद्गलित्व ही नही है, तो फिर उनका गुण-धर्म वहाँ कैसे हो सकता है ?

सिद्ध आत्माऐ अमर है, नित्य है; सदा एक अवस्था रूप है, कर्म रहित है। जन्म-मरण तो कर्म-जनित है। जहाँ कारण नही है, वहाँ कार्य भी कैसे हो सकता है ? कर्म-कारण के अभाव में जन्म-मरण कार्यो की सम्भावना नही रहती है।

सिद्ध आत्माऐ असग है, निरजन, निराकार है, मोह रहित है, अतएव उनमें छोटा-वडा, ऊँच-नीच, स्वामी-सेवक, पिता-पुत्र, माता-पुत्री, पति-पत्नी, राजा-प्रजा, धनी-गरीव आदि सम्वन्ध और संयोग-वियोग गुण-धर्म भी वहाँ सर्वथा नही है। अतएव शास्त्रकारो ने उनके लिये "असग" विशेषण जोड़ा है, जो कि उपरोक्त स्थिति को वत-लाता है।

(१०)

अलोगे पडिहया सिद्धा,
लोयग्गे य पडिट्ठिया।

उव०, सिद्ध, २

टीका—सिद्ध भगवान अलोक के नीचे है, अलोक और लोक के सधि भाग पर स्थित है। अलोक से नीचे और लोक-भाग के सर्वो-परि स्थित है। मुक्त आत्मा की उर्ध्वगति होना स्वाभाविक वस्तु है। तदनुसार आठो कर्मो के क्षय होते ही मुक्त आत्मा ऊपर की ओर गति करने लग जाती है। जहाँ तक धर्मास्तिकाय द्रव्य है, वहाँ तक वरावर ऊँचा गमन करती रहती है, धर्मास्तिकाय के समाप्त होते ही मुक्त आत्मा भी वही स्थित हो जाती है। अतएव मुक्त

आत्मा अलोक मे क्यो नही जाती है और लोक के अंतिम अग्र भाग पर ही क्यों ठहर जाती है ? इसका उपरोक्त उत्तर है ।

(११)

अतुल सुह सागर गया,
अव्वाबाहं अणोवमं पत्ता ।

उव०, सिद्ध, २२

टीका—मुक्त जीवों के सुख की उपमा किसी से भी नही दी जा सकती है, क्योकि उपमाएँ तो मात्र पौद्गलिक वस्तु सवन्धी और मानवीय कल्पनात्मक एव अनुमानात्मक होती है, जवकि मोक्ष-सुख अपौद्गलिक, शब्दातीत, अनुमानातीत और अननु-मेय होता है । अतएव मुक्त आत्माएँ अतुल सुख-सागर मे निमग्न रहती है । मोक्ष-सुख अवर्णनीय और अनिर्वचनीय होता है । मनुष्य-बुद्धि उसका वर्णन नही कर सकती है ।

(१२)

सिद्धाणं सोक्खं अव्वावाहं ।

उव०, सिद्ध, १३

टीका—मुक्त आत्माएँ शरीर-रहित है, कर्म-रहित है, अतएव मोक्ष में भौतिक सुख नही है, ऐन्द्रिक और मानसिक सुख नही है । पौद्गलिक और नाश हो जाने वाला सुख वहाँ कैसे हो सकता है ? मोक्षमें तो बाधारहित, अनन्त, स्थायी अपरिमेय और अनुपम आत्मिक सुख है ।

(१३)

सासयमव्वाबाहं चिट्ठंति,
सुही सुहं पत्ता ।

उव०, सिद्ध, १९

टीका—मोक्ष प्राप्त करने के बाद मुक्त आत्माओको फिर जन्म-मरण नही करना पडता है, क्योकि जन्म-मरण के कारण जो कर्म है, उनका तो आत्यतिक क्षय हो चुका है, अतएव मोक्ष अवस्था शाश्वत है, नित्य है, अक्षय है, अव्याबाध है। मुक्त जीव सुखी है और अनन्त सुखको अनुभव करते हुए स्थित है। अनन्तकाल तक उनकी एक सी ही स्थिति रहती है।

(१४)

जत्थ य एगो सिद्धो,
तत्थ अणंता ।

उव०, सिद्ध, ९

टीका—सिद्ध आत्माएँ, मुक्त आत्माएँ अरूपी होती है, केवल अनन्त शक्तियो का पुञ्ज और अरूपी सत्ता मात्र अवस्था होती है। जहाँ एक सिद्ध आत्मा है, वहाँ अनन्त सिद्ध आत्माएँ भी है। अनतानत सिद्ध आत्माएँ परस्पर में स्वतन्त्र अस्तित्वशील होती हुई भी-ज्योतिके समान-प्रकाशके समान परस्परमे निराबाध रूप से मिली हुई होकर सिद्ध स्थानमें स्थित है। जहाँ एक सिद्ध है, वहाँ अनेक सिद्ध है, और जहाँ अनेक सिद्ध है, वहाँ एक सिद्ध है, किन्तु प्रत्येक का स्वतत्र अस्तित्व है।

(१५)

अन्नाण मोहस्स विवज्जणाए,
एगन्त सोक्खं समुवेइ मोक्खं ।

उ०, ३२, २

टीका—अज्ञान और मोहको छोड़नेसे, सम्यक् ज्ञान और वीतरागता प्रकट करने से एकान्त सुख रूप मोक्षकी प्राप्ति होती है। शाश्वत्, अक्षय, नित्य, निराबाध और अनन्त सुखकी प्राप्ति होती है।

(१६)

मोक्ख सब्भूय साहणा,
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं चेव ।

उ०, २३, ३३

टीका—मोक्ष-प्राप्तिके सद्‌भूत साधन–वास्तविक कारण सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र है। तीनो की सम्मिलित प्राप्ति से ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

(१७)

अगुणिस्स नत्थि मोक्खो ।

उ०, २८, ३०

टीका—जिस आत्मामें सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र नही है, जिस आत्माका दृष्टिकोण ससार सुखको ही प्रधान मानकर अपने विश्वास, ज्ञान और आचरण की प्रवृत्ति करना मात्र है, और जिसकी मोक्ष सुख के प्रति उपेक्षा है, उस आत्माको मोक्ष को प्राप्ति नही हो सकती है। कर्मों से उसको छुटकारा नही मिल सकता है।

(१८)

नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ।

उ०, २८, ३०

टीका—जिस आत्मा के कर्मो के बन्धन नही कटे है, उस आत्मा को निर्वाण की, अनन्त ईश्वरत्व की प्राप्ति नही हो सकती है।

(१९)

तं ठाणं सासयं वासं,
जं संपत्ता न सोयन्ति ।

उ०, २३, ८४

टीका—वह स्थान यानी मोक्ष शाश्वत् है, नित्य है, अक्षय है, अप्रतिपाती है, और निराबाध सुख वाला है, इसको प्राप्त करके भव्य आत्माएँ शोक रहित हो जाती है। जन्म-मरण की व्याधियो से मुक्त हो जाती है।

धर्म-सूत्र

(१)

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं ।

द०, १, १

टीका—धर्म सबसे उत्कृष्ट मगल है । वह शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शाति का देने वाला है । ससार-सुख और मोक्ष सुख का दाता है ।

(२)

धम्मो दीवो ।

उ०, २३, ६८

टीका—संसार रूप समुद्र मे डूबते हुए भव्य जीवो के लिये धर्म ही एक मात्र द्वीप समान है । धर्म ही आधार-भूत है ।

(३)

दीवे व धम्म ।

सू०, ६, ४

टीका—जैसे दीपक अधकार को नष्ट करता है, वैसे ही धर्म भी यानी मनुष्यका पुनीत चारित्र और निर्दोष आचरण भी ससार रूपी अंधकार का नाश करने वाला है ।

(४)

धम्मे हरए बम्भे सन्ति तित्थे ।

उ०, १२, ४६

टीका—धर्म रूपी निर्मल तालाव है और उसमें ब्रह्मचर्य रूपी शान्तिमय सुन्दर घाट है । ऐसे घाट द्वारा ऐसे तालाव मे स्नान करने

से ही कर्म रूपी मल दूर हो सकता है। बाह्य शुद्धि व्यावहारिक है, वास्तविक नही है।

(५)

धम्मस्स विणओ मूलं

द०, ९, २, द्वि, उ,

टीका—विनय ही धर्म का मूल है। विनय के अभाव में ज्ञान की, दर्शन का और चारित्र की कीमत वहुत थोडी रह जाती है।

(६)

इह माणुस्सए ठाणे,
धम्म माराहिउं णरा।

सू०, १५, १५,

टीका—इस मनुष्य-लोक मे धर्मका आराधन करके अनेक आत्माएँ ससार-सागर से पार हो जाती है। ससार-समुद्र में धर्म ही एक उज्ज्वल जहाज है।

(७)

धणेण किं धम्म धुराहि गारे।

उ०, १४, १७

टीका—धर्मरूपी धुरा के उठा लेने पर यानी धर्मको अंगीकार कर लेने पर-सेवा, ब्रह्मचर्य, दान आदि को स्वीकार कर लेने पर धन का मूल्य ही क्या रह जाता है ? धन तो धर्म के आगे धूल के समान है।

(८)

धम्मं च कुणमाणस्स,
सफला जन्ति राइओ।

उ०, १४, २५

टीका—धर्म करने वाले के लिए, स्व और पर का कल्याण करने वाले के लिए सभी रात्रिया-रात और दिन सफल ही जा रहे हैं।

(९)

धम्मं पि काऊणं जो गच्छइ,
परं भवं, सो सुही होइ ।

उ०, १९, २२

टीका—जो आत्मा धर्म करके-नैतिक और आध्यात्मिक नियमों का आचरण करके परलोकमे जाता है, वह सुखी होता है उसको सभी अनुकूल पदार्थों का सयोग प्राप्त होता है। प्रतिकूल पदार्थों से वह सदैव दूर रहता है।

(१०)

धम्मं चर सुदुच्चरं ।

उ०, १८, ३३

टीका—आचरण करने के समय तो कठिन दिखाई देने वाले और फल के समय सुन्दर दिखाई देने वाले धर्म का, जो कि अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, शुद्ध भावना आदि आध्यात्मिक और नैतिक क्रियाओं का रूप है, पालन करो-आचरण करो।

(११)

एस धम्मे धुवे निच्चे,
सासए जिण देसिए ।

उ०, १६, १७

टीका—यह ब्रह्मचर्य-धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत् है और वीतराग जिन देव द्वारा तथा अरिहंतो द्वारा प्ररूपित है। त्रिकाल सत्य है। सपूर्ण ज्ञान का सार रूप है और सभी धर्मों का मक्खन रूप अग है। यह सर्वोपरि और सर्वोत्तम धर्म ह।

(१२)

एक्को हु धम्मो ताणं,
न विज्जई अन्न मिहेह किंचि ।

उ०, १४, ४०

टीका—संसार-समुद्र से रक्षा करने वाला केवल एक धर्म ही है जो कि सयम और पर सेवा रूप है। दूसरा और कोई पदार्थ आत्मा की संसार के दुखों से रक्षा नही कर सकता है।

(१३)

धम्मविऊ उज्जू ।

आ०, ३, १०८, उ, १

टीका—जो आत्मा चेतन और अचेतन द्रव्यो के स्वभावको तथा श्रुत-चारित्र रूप धर्म को जानता है, वही "धर्म विद्" है। वह सरल भावना वाला है और उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र का अस्तित्व है।

(१४)

आयरियं विदित्ताणं,
सव्व दुक्खा विमुच्चई ।

उ०, ६, ९

टीका—आर्य धर्म-दया, दान और दमन रूप धर्म को जानकर उसके अनुसार आचरण करने से सभी दुःखो का नाश हो जाता है।

(१५)

धम्म सद्धाए णं साया सोक्खेसु,
रज्जमाणे विरज्जइ ।

उ०, २९, तृ० ग०

टीका—धर्म पर श्रद्धा करने से साता वेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त होने वाले सुखो पर तथा पौद्गलिक आनद पर अरुचि पैदा होती है, विरक्ति पैदा होती है।

(१६)

राई भोयण विरओ,
जीवो भवइ अणासवो।

उ०, ३०, २

टीका--रात्रि मे भोजन करने का परित्याग करने से, जल आदि पेय पदार्थ का परित्याग करने से, आत्मा नये पाप कर्मो के बधन से मुक्त हो जाता है। इससे आश्रव भाव का निरोध होता है।

(१७)

दिव्वं च गइं गच्छन्ति,
चरित्ता धम्म मारियं।

उ०, १८, २५

टीका--जो आर्य धर्म का-अहिंसा, सत्य, अनासक्ति और ब्रह्मचर्य आदिका आचरण करते है, वे दिव्य गति--देव गति और मनुष्य गति को प्राप्त होते है।

(१८)

धम्मं अकाऊणं जो गच्छइ
परं भवं, सो दुही होइ॥

उ०, १९, २०

टीका--जो आत्मा बिना धर्म किये ही-दान, शील, तप और भावना का आराधना किये बिना ही परलोक मे जाता है, वह महान् दुःखी होता है। उसे नाना विधि अप्रिय सयोगो का और प्रिय वस्तुओ के वियोगो का सामना करना पडता है।

(१९)

से सोयई मच्चु मुहोवणीए,
धम्मं अकाऊण परंमि लोए।

उ०, १३, २१

टीका—जो मनुष्य धर्म की-दान, शील, तप और भावना की आराधना किये विना ही मृत्यु के मुख मे चला जाता है, वह परलोक में चिन्ता करता है, दु खी होता है ।

(२०)

जहा से दीवे असंदीणे एवं
से धम्मे आरियपदेसिए ।

आ०, ६, १८४, उ, ३

टीका—जैसे समुद्र के अन्दर मनुष्यो के लिए आधार-भूत केवल दीप ही होता है, अथवा जैसे घोर अन्धकार में केवल दीपक ही प्रकाश देने वाला और मार्ग-प्रदर्शक होता है, वैसे ही अगाध और अपरिमेय संसार–समुद्र में भी भव्य जीवों के लिये-आत्म-कल्याण के इच्छुक जीवो के लिये केवल वीतरागी महापुरुषो द्वारा उपदिष्ट धर्म ही आधार भूत है । इस वीतराग-धर्म का आसरा लेकर ही भव्य जीव संसार-समुद्र से पार हो सकते है और अनत सुखमय, निराबाध शातिमय मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं ।

(२१)

आणाए मामगं धम्मं ।

आ०, ६, १८१, उ, २

टीका—आत्मार्थी यही समझे कि "भगवान की आज्ञा के अनुसार चलना ही मेरा धर्म है" । तदनुसार चारित्र-धर्म में दृढ़ रहे और ज्ञान एव दर्शन का विकास करता रहे ।

(२२)

आयरियं उवसंपज्जे ।

सू०, ८, १३

टीका—आर्य धर्म को-अहिंसा प्रधान आचार धर्म को एवं स्याद्वाद प्रधान सिद्धान्तो को (समभाव पूर्वक तुलनात्मक विचारों को) ग्रहण करो, इन पर श्रद्धा करो, इनको अमल में लाओ।

(२३)

आरियं मग्गं परम च समाहिए।

सू० २, ६, उ, ४

टीका—आर्य-मार्ग यानी दया, दान, दमन, सत्य और शील रूप यह मार्ग श्रेष्ठ समाधि वाला है। तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित मार्ग पर चलने से परम-समाधि रूप कल्याण की प्राप्ति होती है।

(२४)

जीवियं नावकंखिज्जा,
सोच्चा धम्म मणुत्तरं।

सू०, ३,१३, उ, २

टीका—अहिंसा प्रधान श्रेष्ठ धर्म को सुनकर एवं उस पर विश्वास कर कर्त्तव्य मार्ग पर चलने वाले पुरुष को चाहिये कि कर्त्तव्य मार्ग पर चलते हुए प्रतिकूल उपसर्ग आदि कठिनाइयाँ आवें तो भी सांसारिक-जीवन की और इन्द्रिय सुखके जीवन की आकांक्षा नही करे, कर्त्तव्य-मार्ग से पतित न हो।

(२५)

णच्चा धम्मं अणुत्तरं,
कय किरिए ण यावि मामए।

सू०, २, २८, उ, २

टीका—श्रेष्ठ धर्म को-सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र को जानकर संयम रूप क्रियाका अनुष्ठान करे। तप, त्याग, सेवा और समता की आराधना करे। एवं किसी भी वस्तु पर ममता-भाव और परिग्रह-भाव नही रखे।

(२६)

जे धम्मे अणुत्तरे,
तं गिण्ह हियंति उत्तमं ।

सू०, २, २४ उ, २

टीका—जो धर्म श्रेष्ठ है, जो एकान्त रूप से आत्मा का कल्याण करने वाला है, जो हितकारी है, जो कषाय से मुक्ति दिलाने वाला है, जो उत्तम है, हित-अहित का भान कराने वाला है, ऐसे धर्म को और अहिंसा व्रत को ग्रहण करो-इसे जीवनमें स्थान दो ।

(२७)

सुहावहं धम्म धुरं अणुत्तरं,
धारेह निव्वाण गुणावहं महं ।

उ०, १९, ९९

टीका—सुखो को लाने वाली और सुखोको बढानेवाली, मोक्ष-गुणो को देनेवाली, ऐसी सर्वश्रेष्ठ, धर्म रूप धुराको धारण करना चाहिए । धर्म का आचरण करना चाहिये ।

(२८)

चरिज्ज धम्मं जिण देसियं विऊ ।

उ०, २१, १२

टीका—विद्वान पुरुष, पाप-भीरु आत्मार्थी, जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्म का ही आचरण करे। इन्द्रिय दमन करे। पक्षी के समान अनासक्त और निर्लेप जीवन में ही सार्थकता समझे ।

(२९)

दव्वओ खेत्तओ चेव कालओ,
भावओ तहा, जयणा चउव्विहा वुत्ता ।

उ०, २४, ६

टीका—यतना पूर्वक, विवेक पूर्वक कार्य करने की प्रणाली चार प्रकार की कही गई है। १ द्रव्य से २ क्षेत्र से ३ काल से और ४ भाव से।

(३०)

धम्माणं कासवो मुहं।

उ०, २५, १६

टीका—धर्मो का मुख-धर्मों का आदि स्रोत भगवान ऋषभदेव है, यानी भरत-क्षेत्र मे धर्म और नीति, विवेक और दर्शन-शास्त्र के आदि प्रणेता तथा सर्व प्रथम धर्म का उपदेश देने वाले भगवान ऋषभदेव स्वामी ही है।

(३१)

सद्दहइ जिणभिहियं सो धम्मरुइ।

उ०. २८, २७

टीका—जिन द्वारा, अरिहत द्वारा, तीर्थंकर द्वारा, अथवा गणधर या स्थविर आचार्य द्वारा प्रणीत और प्ररूपित धर्म पर जो श्रद्धा करता है, इसीका नाम धर्म रुचि है।

(३२)

थव थुइ मंगलेणं नाण दसण-
चरित्त वोहि लाभं जणयइ।

उ०, २९, १४वाँ, ग०

टीका—अरिहत, सिद्ध और जिनेन्द्र देवो की स्तव÷ और स्तुति× करने से, इनका मगल गान करने से, आत्मा मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, रत्नत्रयकी वृद्धि होती है, इनकी विशुद्धि होती है।

÷ स्तव—इन्द्र, गणधर, पूर्वधर, स्थविर कृत ईश्वर- प्रार्थना।

× स्तुति–प्रत्येक भव्य जीव द्वारा कृत प्रार्थना, स्तवन, भजन आदि हार्दिक पवित्र भावना वाले विचार।

(३३)

दोहिं ठाणेहिं आया केवलि पन्नत्तं धम्मं लभज्जा,
सवणयाए, खएण चेव, उवसमेण चेव।

ठाणा, २रा, ठा, उ, ४, ४

टीका--आत्मा केवली के कहे हुए धर्म को सुनकर दो प्रकार से प्राप्त करता है-१उपशम रूप से और २ क्षय रूप से।

जिस आत्मा की श्रद्धा कर्मो के नाश नही होने पर बल्कि कर्मों के उपशम होने पर उत्पन्न होती है, वह उपशम धर्म है, तथा जिस आत्मा की श्रद्धा कर्मो के क्षय होने पर उत्पन्न होती है, वह क्षय-धर्म कहलाता है।

(३४)

दुविहे धम्मे पन्नत्ते,
सुअधम्मे चेव चरित्त धम्मे चेव।

ठाणा०, २रा ठा०, १ला उ, २५

टीका—धर्म दो प्रकार का कहा गया है। १ श्रुत धर्म और २ चारित्र धर्म। जिन देव, तीर्थंकर, गणधर, स्थविर, पूर्वधर आदि द्वारा प्ररूपित ज्ञान साहित्य या आगम साहित्य श्रुत धर्म है, और श्रावक एव साधुओ द्वारा आचरण किया जाने वाला बारह व्रत तथा पाँच महाव्रत रूप धर्म चारित्र धर्म है।

(३५)

तिविहे भगवया धम्मे,
सुअहिज्जिए, सुज्झाइए सुतवस्सिए।

ठाणा०, ३रा, ठा०, उ०, ४, २७

टीका—भगवान ने तीन प्रकारका धर्म फरमाया है, १ गुरु आदि विद्वान पुरुषो का विनय करके सूत्रो का अध्ययन करना सूत्र-

अध्ययन धर्म है, २ शका आदि दोषो से रहित होकर पूर्ण दत्तचित्त हो अध्ययन करना सुध्यान-धर्म है। और ३ किसी भी प्रकार की फल की इच्छा किये विना ही अनासक्त विशुद्ध निर्जरा के भाव से तपस्या करना और सहिष्णुता रखना तप-धर्म है।

(३६)

चत्तारि धम्म दारा,
खंति, मोत्ती, अज्जवे, मद्दवे।

ठाणा०, ४था, ठा, उ, ४, ३८

टीका---धर्म के चार द्वार कहे गये है– १ क्षमा, २ विनय, ३ सरलता, और ४ मृदुता।

(३७)

पंच ठाणाई समणाणं जाव अब्भणुन्नायाई भवंति,
सच्चे, संजमे, तवे, चियाए बंभचेर वासे।

ठाणा०, ठा० ५, उ०, १, ११

टीका—भगवान ने साधुओ के जीवन को विकसित करने के लिए ५ स्थान वतलाए है–१ सत्य, २ सयम, ३ तप, ४ त्याग (अनासक्ति और अमूर्च्छा) और ५ ब्रह्मचर्य।

★

अहिंसा-सूत्र

(१)

दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाणं ।

सू०, ६, २३

टीका—सभी प्रकार के दानो मे अभय दान ही सर्वोत्तम दान है। जीवो को जीवन-दान देना, उन्हे भय से मुक्त करना, शरण मे आने पर उनकी रक्षा करना, शरणागत की परिपालना करना यही सर्वोत्तम धर्म है।

(२)

एयं खु नाणिनो सारं,
जन्न हिंसइ किंचण ।

सू०, १, १०, उ, ४

टीका—किसी भी प्राणी की हिंसा नही करना, आघात नही पहुँचाना, कष्ट नही देना, यही ज्ञानी के लिए सार भूत वस्तु है। जीवो को सुख पहुँचाने मे ही ज्ञानी के ज्ञान की सार्थकता रही हुई है।

(३)

अहिंसा निउणा दिट्ठा ।

द०, ६, ९

टीका—अहिंसा अनेक प्रकार के सुखो की देने वाली देखी जाती है। अहिंसा से स्व और पर सभी को शाति प्राप्त होती है।

(४)

न हणे णो विघायए ।

द०, ६, १०

टीका—न तो हिंसा खुद करे और न दूसरो से करावे। हिंसा इस लोक मे और पर-लोक में सर्वत्र दुःख देने वाली है।

(५)

तसे पाणे न हिंसिज्जा ।

द०, ८, १२

टीका—त्रस-प्राणियो की, निरपराध जीवो की दो इन्द्रिय से लगा कर पच इन्द्रिय तक के जीवो की हिंसा नही करना चाहिये। हिसा के बराबर मोटा और कोई पाप नही है। दया से बढकर और कोई धर्म नही है। अहिसा, दया, करुणा, अनुकंपा ही सभी धर्मों का सार है, मक्खन है। अहिंसा हमारे जीवन का प्रमुख अग होना चाहिये।

(६)

सव्वे पाणा पियाउया ।

आ०, २, ८१, उ, ३

टीका—सभी प्राणियो को अपनी आयुष्य प्रिय है। कोई भी प्राणी दुख अथवा मृत्यु नही चाहता है। अतएव दया ही सर्वोत्तम धर्म है। यही सभी धर्मों का निष्कर्ष है।

(७)

सव्वेसिं जीवियं पियं

आ०, २, ८१, ३, ३

टीका—सभी प्राणी जीवित रहना चाहते है। सभी को अपना जीवन प्यारा है, चाहे वे किसी भी स्थिति में क्यो न हो। अतएव पर-पीड़ा पहुंचाने के समान कोई पाप नही है, और पर-सेवा के समान अथवा दूसरे को शाति पहुँचाने के समान कोई पुण्य नही है।

(८)

पाणे य नाइवाएज्जा,
निज्जाइ उदगं व थलाओ।

उ०, ८, ९

टीका--जो मुमुक्षु आत्मा, आत्म-कल्याण के ख्याल से प्राणियों का वध नही करता है, उसके कर्म इस प्रकार छूटकर वह जाते है, जैसे कि ढालू जमीन से पानी वह जाता है।

(९)

न हिंसए किंचण सव्व लोए।

सू०, ५, २४ उ, २

टीका—ज्ञानी पुरुष कही पर भी किसी प्राणी की हिंसा न करे। मन, वचन और काया से हिंसा की प्रवृत्ति नही करे। पर-सुख का अपहरण नही करे। आर्थिक शोषण भी हिंसा है, इसे भी ध्यान मे रखना चाहिये।

(१०)

न य वित्तासए परं।

उ०, २, २०,

टीका—कभी किसी को भी त्रास नही देना चाहिये। पर-पीडन के वरावर कोई पाप नही है। पर-अधिकार का भी कभी अपहरण नही करना चाहिये।

(११)

दया धम्मस्स खंतिए
विप्पसीएज्ज मेहावी।

उ०, ५, ३०

टीका—मेधावी यानी ज्ञान-शील पुरुष, विवेकी पुरुष क्षमा को धारण करता हुआ दुःखी जीवो पर दया करे, अनुकपा करे, करुणा

करे। और इस प्रकार अपनी आत्माको सतुष्ट करे, अपनी आत्माको प्रसन्न करे।

(१२)

न हणे पाणिणो पाणे।

उ०, ६, ७

टीका—किसी भी प्राणी के प्राणो का, इन्द्रिय आदि का नाश नही करना चाहिए। क्योकि हिंसा, पर-पीडन, सदैव दु.ख को ही बढाने वाला है।

(१३)

विरए वहाओ।

आ०, ३, ७, उ, २

टीका—जीव-हिंसा से दूर रहो, पर-पीड़ा के पाप से वचते रहो, यही इस ससार में सवसे वडा पाप है।

(१४)

नाइ वाइज्ज कंचण।

आ०, २, ८६, उ, ४

टीका—सत्यार्थी कभी भी किसी की हिंसा नही करे,—कभी भी किसी को चोट नही पहुँचावे। स्व-पर-कल्याण-भावना के साथ जीवन व्यवहार चलावे।

(१५)

मुणी! महब्भयं नाइवाइज्ज कंचणं।

आ०, ६, १७५, उ, १

टीका—हे मुनि! हिंसा का परिणाम महा भयङ्कर होता है, इसलिये किसी की भी हिंसा मत करो। किसी को भी पीड़ा मत पहुँ-

चाओ। सभी प्राणियो को अपनी ही आत्मा के समान समझो। यही भारतीय-दर्शन-शास्त्र के आचार-विभाग का निष्कर्ष है।

(१६)

अणुपुव्वं पाणेहिं संजए।

सू०, २, १३, उ, ३

टीका—शाति की इच्छा करने वाला मनुष्य क्रमश. प्राणी मात्र की रक्षा करे। प्राणी मात्रके हित की कामना करे। किसी के भी सुख का अपहरण नही करे।

(१७)

सव्वेहिं भूएहिं दयाणु कंपी,
खंतिक्खमे संजय बंभयारी।

उ०, २१, १३

टीका—प्राणी मात्र पर दया वाले वनो, अनुकंपा वाले वनो। क्षमा-शील, संयमी और ब्रह्मचारी वनो।

(१८)

अभय दाया भवाहि।

उ०, १८, ११

टीका—अभयदान के देने वाले होओ। शरणार्थी की रक्षा करने वाले वनो। भय-ग्रस्त और मृत्यु-ग्रस्त जीवो को वचाओ। दया, अनुकम्पा, करुणा, और सहानुभूति -इन गुणों को जीवन में स्थान दो।

(१९)

धम्मे ठिओ सव्व पयाणु कम्पी।

उ०, १३, ३२

टीका—धर्म मे, अपनी मर्यादा में, सात्विक प्रवृत्तियों में, रहते हुए सभी प्रजा की या सभी जीवों की अनुकम्पा करने वाले वनो।

रक्षा करने वाले बनो। शाति देने वाले बनो।

(२०)

ताइणो परिनिव्वुडे।

द०, ३, १५,

टीका—जो सम्पूर्ण विश्व के चराचर प्राणियो की, त्रस-स्थावर जीवो की रक्षा करने वाले है, वे ही वास्तव मे मोक्ष के अधिकारी है।

(२१)

पाणातिवाता विरते ठिअप्पा।

सू०, १०, ६

टीका—विचार शील पुरुष, शुद्धचित्त वाला पुरुष, भाव-समाधि मे और विवेक मे रत होकर-ज्ञान में तल्लीन होकर प्राणातिपात से (जीव हिसा से) निवृत्त रहे। हिंसा के बराबर पाप नही है और अहिसा के बराबर धर्म नही।

२२

अणियाण भूते सुपरिव्वएज्जा।

सू०, १०; १

टीका—प्राणियो का आरम्भ नही करता हुआ और किसी भी प्राणी को कष्ट नही पहुँचाता हुआ सज्जन पुरुष अपनी जीवन यात्रा को चलाता रहे। पर सेवा में ही और पर की सहानुभूति में ही आत्म कल्याण समझे।

२३

तस काय समारंभं, जावजीवाई वज्जए।

द०, ६, ४६

टीका—निरपराध जीवो की, त्रस जीवो की मन, वचन, और काया से हिंसा करना और उन्हे कष्ट पहुंचाना, उनपर आघात करना, उनका प्राणान्त करना, इन बातों को जीवन पर्यंत के लिए त्याग देना ही मानवता है। यही वास्तविक मनुष्यता है।

सत्यादि भाषा-सूत्र

(१)

अप्पणा सच्च मेसेज्जा ।

उ०, ६, २

टीका—सदैव आत्म-चिन्तन द्वारा, आत्म-मनन द्वारा, सत्य की ही खोज करता रहे । सन्मार्ग का ही अनुसधान करता रहे । स्व-पर-कल्याण के मार्ग मे ही रमण करता रहे ।

(२)

सच्चंमि धिइं कुव्वहा ।

आ०, ३, ११३, उ, २

टीका—जो सत्य रूप है और जो सत्य की नाना अवस्थाओं में स्थित है, उसीमे बुद्धिमान् पुरुष को अपना चित्त स्थिर करना चाहिए । ऐसे ही कार्यों में धैर्य-शील होना चाहिये । इन्ही में प्रवृत्ति-शील होना चाहिये ।

(३)

पुरिसा ! सच्चमेव समभि जाणाहि ।

आ०, ३, ११९, उ, ३

टीका—हे पुरुषो ! सत्य को ही सर्वोपरि जानो । सत्य का ही सम्यक् रीति से अनुसधान करो । सत्य का ही विचार करो । सत्य का ही आचरण करो । अहिसा भी जीवन मे इससे स्वयमेव उतर आयगी । क्योकि सत्य और अहिसा एक ही तत्त्व की दो बाजूऐं है ।

इनका परस्पर मे तादात्म्य सम्बन्ध है, दोनो अभिन्न सम्बन्ध वाले हैं।

(४)

सच्चस्स आणाए से,
उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ।

आ०, ३, ११९, उ, ३

टीका—जो सत्य की आराधना के लिये निष्कपट भाव से तैयार होता है, वही तत्वदर्शी है, और ऐसा ज्ञानी महापुरुष ही काम-वासना को खत्म कर सकता है। वही पूर्ण और आदर्श ब्रह्मचारी बन सकता है।

(५)

असावज्जं मियं काले,
भासं भासिज्ज पन्नवं।

उ०, २४, १०

टीका—बुद्धिमान पुरुष, विवेकी पुरुष, समयानुसार और आवश्यकता अनुसार निर्दोष, प्रिय, हितकारी और परिमित भाषा ही बोले। सम्भाषण-प्रणालि पर ही बुद्धिमत्ता का आधार है।

(६)

भासियव्वं हियं सच्चं।

उ०, १९, २७

टीका—सदैव हितकारी वाणी, प्रिय वाणी और सच्ची वाणी बोलनी चाहिये! ऐसी वाणी ही स्व का और पर का कल्याण कर सकती है।

(७)

न भासिज्जा भासं
अहिअगामिणिं।

द०, ८, ४९

टीका—अहित करने वाली, पर-मर्म पर आघात करने वाली, हिंसा तथा द्वेष बढ़ाने वाली भाषा नही बोलनी चाहिये।

(८)

न असब्भमाहु।

उ०, २१, १४

टीका—असभ्य, अप्रिय, क्लेश सवर्धक, ग्रामीण तुच्छ शब्द नही बोलना चाहिये।

(९)

सच्चे तत्थ करेज्जु वक्कमं।

सू०, २, १४, उ, ३

टीका—सत्य और सत्य से सम्बन्धित सभी कामो मे और क्रियाओं मे सदैव यत्नशील ही रहना चाहिये। सत्य का दृढ़ता पूर्वक आग्रह और अवलवन रखना मनुष्य का कर्त्तव्य है।

(१०)

सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति।

सू०, ६, २३

टीका—सत्यवचनो में भी जो वचन सत्ययुक्त होता हुआ निर्दोष हो, अप्रिय सत्य न हो, मर्म-घाती सत्य न हो, वही वाक्य सर्वोत्तम सत्य रूप है।

(११)

अप्पं भासेज्ज सुव्वए।

सू०, ८, २५

टीका—सुव्रती, ज्ञानी, अल्प बोले। परिमित बोले। आवश्यकतानुसार बोले। सत्य और प्रिय बोले।

(१२)

न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं।

उ०, १, २५

टीका—पूछा हुआ यानी किसी के द्वारा कोई प्रश्न या वात पूछने पर सावद्य न वोले, पापकारी, अनिष्ठकारी, अप्रिय और कटु वाणी नही वोले।

(१३)

नापुट्ठो वागरे किंचि।

उ०, १, १४

टीका—विना पूछे विना वोलाये कुछ भी नही वोले। यही वुद्धि-मानी का सर्व प्रथम लक्षण है।

(१४)

जं छन्नं तं न वत्तव्वं।

सू०, ९, २६

टीका—जिस वात को सव लोग छिपाते है, जो अकथनीय हो, अश्लील हो, ग्रामीण हो, असभ्य हो, उसे कदापि नही वोलना चाहिये।

व्यवहार का ध्यान रख कर ही वोलना ठीक है, अव्यवहारिक भाषा निंदनीय है, वह त्याज्य और हानिकारक होती है।

(१५)

अणुचिंतिय वियागरे।

सू०, ९, २५

टीका—सोच विचार कर वोलना चाहिये। विना सोचे विचारे वोलने से स्व की और पर की हानि हो सकती है। अविचार पूर्ण भाषा से अनेक प्रकार का नुकसान हो सकता है जवकि विचार पूर्वक वोलने से लाभ ही लाभ है।

(१६)

तुम तुमं ति अमणुन्नं,
सव्वसो तं ण वत्तए।

सू०, ९, २७

टीका—"तूं, तू" ऐसे तुच्छ और अनादर वाचक शब्द भी नहीं बोलना चाहिये। इसी प्रकार अप्रिय या अशोभनीय शब्दोंका उच्चारण भी नहीं करे। बोली में गम्भीरता, उच्चता, सार्थकता एवं सम्मान सूचकता होनी चाहिये।

(१७)

वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि
वेराणु वंधीणि महब्भयाणि।

द०, ९, ७, तृ, उ,

टीका—बिना सोचे विचारे कहे हुए दुष्ट और अनिष्ट वचन बड़ी कठिनता से हृदय से भूले जाते हैं। वे वैर-भाव को बढ़ाने वाले होते हैं और महाभय पैदा करने वाले होते हैं।

(१८)

अवियत्तं चेव नो वए।

द०, ७, ४३

टीका—जिन वचनो से वैर-विरोध बढता हो, जो अप्रिय हो, ऐसे वचन कदापि नही बोलना चाहिये। क्योकि ये अवक्तव्य होते हुए स्व-पर हानिकारक होते हैं।

(१९)

भूओ व घाइणिं भासं,
नेवं भासिज्ज पन्नवं।

द०, ७, २९

टीका—बुद्धिमान् पुरुष प्राणियो के मर्म पर चोट करने वाली या मृत्यु पैदा करने वाली वाणी कदापि नही बोले। वाणी में विवेक और सयम की नितान्त आवश्यकता है।

(२०)

सच्चा वि सा न वत्तव्वा,
जओ पावस्स आगमो।

द०, ७, ११

टीका—सत्य होती हुई भी उस वात को नही कहना चाहिये, जिससे कि पाप की, पतन की और हानि की सम्भावना हो, जिससे अन्य को आघात पहुचने की सम्भावना हो। ऐसी वाणी-शब्द रूप से सत्य मालूम पड़ती हुई भी झूठ का ही अङ्ग है।

(२१)

जमट्ठ तु न जाणिज्जा,
एव मेअं ति नो वए।

द०, ७, ८

टीका—जिस वात को अच्छी तरह से नही जानते है, उसके सम्बन्ध में "यह ऐसा ही है" इस प्रकार निश्चय-पूर्वक नही वोलना चाहिये। क्योकि यह झूठ है। यह असत्य भाषण है। इससे हानि होने की सम्भावना हो सकती है।

(२२)

मुसं परिहरे भिक्खू।

उ०, १, २४

टीका—साधु या आत्मार्थी झूठ को छोड़ दे। झूठ प्रतिष्ठा का और विश्वास का नाश करने वाला है।

(२३)

सया सच्चेण संपन्ने,
मित्तिं भूएहिं कप्पए।

सू०, १५, ३

टीका—सदैव सत्य को ही जीवन का आराध्य वना कर जीव-

मात्र के साथ मैत्री भावना रखनी चाहिये, जीव-मात्र के साथ दया का व्यवहार रखना चाहिये।

(२४)

सादियं ण मुसं बूया,
एस धम्मे वुसीमओ।

सू०, ८, १९

टीका—माया करके झूठ नहीं वोले। जितेन्द्रिय महापुरुष का यही धर्म है। भगवान का यही फरमान है। माया के साथ बोला जाने वाला झूठ शल्य है, जो कि सम्यक्त्व को और सचाई के मार्ग को नष्ट करता है, मिथ्यात्व को पैदा करता है और अनन्त संसार को वढ़ाता है।

(२५)

मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा।

सू०, ९, २५

टीका—कपट भरी भाषा का परित्याग कर देना चाहिये, क्योंकि कपट भरी भाषा माया-मृषावाद ही है, जो कि सम्यक्त्व का नाश करने वाली है।

(२६)

णेव वंफेज्ज मम्मयं।

सू०, ९, २५

टीका—मर्म-घाती वचन हिंसाजनक होता है। यह महान् कष्ट-जनक होता है। वह सत्य होता हुआ भी झूठ ही है। अतएव मर्म-घाती वाक्य अथवा वचन नहीं बोलना चाहिये।

(२७)

भासमाणो न भासेज्जा।

सू०, ९, २५

टीका—जो परमार्थी पुरुष यत्ना पूर्वक-विवेक पूर्वक और बुद्धि-मानी-पूर्वक बोलता है, वह बोलता हुआ भी मौन-गुण से युक्त है—मौनी ही है। और मौनी जितना ही पुण्य उपार्जन करता है।

(२८)

मुसावायं च वज्जिज्जा,
अदिन्नादाणं च वोसिरे।

सू० ३, १९, उ, ४

टीका—झूठ का परित्याग कर दो और चोरी से सदैव दूर रहो क्योंकि ये पाप इस लोक और परलोक मे सर्वत्र दुःख के देने वाले हैं, प्रतिष्ठा और विश्वास का नाश करने वाले है।

(२९)

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पयोग काले य दुही दुरन्ते।

उ०, ३२, ३१

टीका—झूठ बोलने के पहले, झूठ बोलने के पीछे और झूठ बोलने के समय में तीनो काल मे झूठा आदमी दुःखी होता है और उसका दुःख वहुत ही कठिनाई से छूटता है।

(३०)

मायामुसं वड्ढइ लोभ दोसा।

उ०, ३२, ३०

टीका—माया-मृषावाद, यानी कपट पूर्वक झूठ लोभ के दोषों को वढाता है, तृष्णा को प्रज्वलित करता है।

(३१)

मुसा भासा निरत्थिया।

उ०, १८, २६

टीका–मिथ्या भाषा, अप्रिय भाषा, तुच्छ शब्दोवाली भाषा, मर्मभेदी भाषा निरर्थक होती है, वह क्लेश-वर्द्धक होती है। वह पापमय होती है।

(३२)

पियं करे पियं वाई,
से सिक्खं लद्धु मरिहई ।

उ०, ११, १४

टीका—जो प्रिय करने वाला है, गुरु के मनोनुकूल सेवा और कार्य करने वाला है, प्रिय तथा सत्य बोलने वाला है, वही सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करने के लिये योग्यता रखने वाला है । ज्ञान के पहले ये गुण आवश्यक है । अनुकूल गुण रूपी भूमि में ही ज्ञान रूप बीज का वृक्ष रूप विकास हो सकता है ।

(३३)

सावज्जं न लवे मुणी ।

द०, ७, ४०

टीका—इन्द्रियो और मन पर संयम तथा विवेक रखने वाला मुनि झूठ नही बोले, क्योकि झूठ से अविश्वास और पतन की तरफ जीवन बढता है ।

(३४)

अपुच्छिओ न भासिज्जा ।

द०, ८, ४७

टीका—विना पूछे और विना बुलाये, कभी नही बोले । बिना बुलाया बोलने पर मूर्खता ही मालूम होती है—इससे अपमान ही होता है ।

(३५)

पिट्ठि मंसं न खाइज्जा ।

द०, ८, ४७

टीका—कभी किसी की निंदा नहीं करनी चाहिये । निंदक धिक्कारा जाता है । वह अविश्वास का पात्र बनता है । इस लोक और परलोक में दुखी होता है ।

(३६)

माया मोसं विवज्जए ।

द०, ८, ४७

टिका—कपट पूर्वक झूठ बोलना भयकर पाप माना गया है। कपट-पूर्वक-झूठ आत्मा के गुणो का नाश करने वाला होता है।

(३७)

ओए तहीयं फरुसं वियाणे ।

सू०, १४, २१

टीका—जो वचन सत्य होते हुए भी दूसरे के चित्तको दुःखी करने वाले है, तो बुद्धिमान का कर्तव्य है कि वह ऐसे वचन नही बोले। अप्रिय और कठोर वचनो का त्याग ही हितावह है।

(३८)

आणाइ सुद्धं वयणं भिउंजे ।

सू०, १४, २४

टिका—जैसी भगवान ने आज्ञा दी है, उसीके अनुसार शुद्ध भापा का उच्चारण करना चाहिये।

भापा में ग्रामीणता, अश्लीलता, तुच्छता, तिरस्कार वृत्ति आदि दुर्गुण नही होने चाहिये।

(३९)

णातिवेलं वदेज्जा ।

सू०, १४, २५

टीका—मर्यादा का उल्लंघन करके अत्यधिक नही बोलना चाहिये। भापा परिमित, सार्थक और शिष्ट-पुरुष के अनुरूप होनी चाहिये।

(४०)

सं न बूया मुणि अत्तगामी।

सू०, १०, २२

टीका—वीतराग देव के मार्ग पर चलने की इच्छा रखने वाला मुनि-कल्याण का अभिलाषी साधु कभी भी झूठ नही वोले। झूठ के साथ आत्म-विकास का होना आकाश-कुसुम के समान सर्वथा असंभव वस्तु है।

(४१)

जं वदित्ता अणुतप्पती।

सू०, ९, २६

टीका—जिस भाषा को बोल कर अथवा जिन शब्दो को बोल कर पश्चाताप करना प्रडे, खेद उठाना पड़, ऐसे शब्द और ऐसी भाषा कदापि नही बोलनी चाहिये।

अविचार-पूर्वक बोलने वाला मूर्ख कहा जाता है, और वह पाप का एवं अनादर का भागी बनता है।

(४२)

अविस्सासो अभूआणं,
तम्हा मोसं विवज्जए।

द०, ६, १३

टीका—झूठ से कोई भी विश्वास नही करता है, इसलिये सदैव झूठ से दूर ही रहना चाहिये।

(४३)

हिंसगं न मुसं बूआ।

द०, ६, १२

टीका—हिंसा पैदा करने वाला और स्व-पर को कष्ट देने वाला झूठ नही वोले। झठ आत्मा के पतन का मूल कारण है।

(४४)

गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया,
सयाण मज्झे लहइ पसंसणं ।

द०, ७, ५५

टीका—वचन शुद्धि और वचन महत्ता को जानने वाला हमेशा के लिये दुष्ट-वाणी को—हलकी, तुच्छ, घातक, मर्म-भेदक और अपमानजनक वाणी को त्याग देता है। इससे वह सज्जनो के बीच में प्रशसा एव यश. कीर्ति को प्राप्त करता है। वह दोनो लोक मे सुखी होता है। पुण्य का उपार्जन करता है, इसलिये सदैव संयम-मय, विवेक युक्त भाषा बोलनी चाहिये।

(४५)

जहा रिहं मभिगिज्झ,
आलविज्ज लविज्ज वा ।

द०, ७, २०

टीका—किसी से भी बातचित करते समय यथा-योग्य-शब्दो मे, जैसा चाहिये उसी रीति से व्यवहार करना चाहिये। शब्दो में हलकापन, तुच्छता, घातकता, मर्म-भेदकता, अथवा अपमानजनकत्व नही होना चाहिये। क्योकि यह हीन लक्षण है। हीन-लक्षण अकुलीनता का द्योतक है। वह नीचता का सूचक है।

(४६)

चत्तारि भासाओ भासित्तए,
जायणी, पुच्छणी, अणुन्नवणी, पुट्ठस्स वागरणी ।

ठाणा०, ४, था, ठा, उ, १, ४

टीका—चार प्रकार की भाषा कही गई है:—१ याचनिका २ पृच्छनिका ३ अवग्राहिका और ४ पृष्ट व्याकरणिका।

(४७)

सत्तविहे वयण विकप्पे, आलावे,
अणालावे, उल्लावे, अणुल्लावे,
संलावे, पलावे, विप्पलावे ।

ठाणा०, ७ वा ठा, ७८

टीका—सात प्रकार का वचन विकल्प कहा गया है :—

(१) थोड़ा बोलना आलाप है ।
(२) कुत्सित बोलना अनालाप है ।
(३) मर्यादा उल्लघन करके बोलना उल्लाप है ।
(४) मर्यादा रहित खराब बोलना अनुल्लाप है ।
(५) परस्पर बोलना सलाप है ।
(६) निरर्थक बोलना प्रलाप है ।
(७) विरुद्ध बोलना विप्रलाप है ।

★

शील-ब्रह्मचर्य-सूत्र

(१)

तवेसु वा उत्तम बम्भचेरं,

सू०, ६, २३

टीका—तप तो नाना प्रकार के है; परन्तु सभी तपो मे ब्रह्मचर्य ही सर्वोत्तम तप है। ब्रह्मचर्य की महान् महिमा है। मन वचन और काया से—विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालने से मुक्ति के द्वार सहज मे ही खुल जाते है।

(२)

इत्थिओ जे ण सेवंति,
आइमोक्खा हु ते जणा।

सू०, १५, ९

टीका—जो स्त्री-सेवन नही करते है, स्त्री के साथ किसी भी प्रकार का संबंध नही रखते है, वे पुरुष सबसे प्रथम मोक्ष-गामी होते है। वे शीघ्र ही मुक्त हो जाते है। ब्रह्मचर्य की महिमा अपूर्व है; असाधारण है।

(३)

देव दाणव गन्धव्वा बम्भयारिं नमसंति।

उ०, १६, १६

टीका—ब्रह्मचर्य की महिमा महान् है। वास्तविक ब्रह्मचारी त्रिलोकपूज्य होता है, त्रिलोक रत्न होता है। देव, दानव, गन्धर्व सभी, क्या नरेन्द्र और क्या देवेन्द्र—प्रत्येक प्राणी ब्रह्मचारी को नमस्कार करते है।

(४)

न तं सुहं काम गुणेसु रायं,
जं भिक्खुणं सील गुणे रयाणं ।

उ०, १३, १७

टीका—शील गुण मे अनुरक्त आत्मार्थी मुनियों को जो उच्च आनन्द, जो आत्म शांति प्राप्त होती है; वैसी सुख-शांति, वैसा आत्म–आनंद, काम भोगों में फंसे हुए मनुष्य को कदापि प्राप्त नही हो सकता है ।

(५)

जे विन्नवणा हिऽजोसिया,
संतिन्नेहिं समं वियाहिया ।

सू०२, २, उ, ३

टीका—जो पुरुष स्त्रियोंसे सेवित नही है; यानी मन, वचन और काया से ब्रह्मचारी है; वे वास्तव मे मुक्त पुरुषों के समान ही है । अचल ब्रह्मचर्य अवस्था मुक्ति अवस्था ही है ।

(६)

सुबंभचेरं वसेज्जा ।

सू, १४, १

टीका—ब्रह्मचर्य का भली भांति पालन करो । एक ब्रह्मचर्य के परिपालन से ही सभी दोष और पाप इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं; जैसे कि सूर्य के प्रकाश से संपूर्ण विश्व मे व्याप्त अंधकार नष्ट हो जाता है ।

(७)

उग्गं महव्वयं बंभं,
धारेयव्वं सुदुक्करं ।

उ०, १९, २९

टीका—उग्र-महान्‌कठिन-सुदुष्कर-आचरण मे महान् कष्ट साध्य परन्तु परिणाम मे अत्यत सुन्दर फल वाला, ऐसा महाव्रत, तप श्रेष्ठ, तप-शिरोमणि, ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिए।

(८)

कुसील वड्ढणं ठाणं।
दूरओ परिवज्जए।

ज०, ६, ५९

टीका—जिस स्थान पर रहने से विषय, विकार, वढते हो; ऐसे स्थान को और ऐसी सगति को सदैव दूर ही रखना चाहिए। दूर से ही छोड देना चाहिए।

(९)

न चरेज्ज वेस

द०, ५, ९, उ, प्र,

टीका—ब्रह्मचारी वेश्याओ अथवा दुराचारिणी स्त्रियो के निवास-स्थानो के आस-पास न तो घूमे और न जावे।

(१०)

अरए पयासु।

आ०, ३, ११५, उ, २

टीका—प्रजाओ से—यानी स्त्रियों से तत्त्वदर्शी पुरुषों को सदैव दूर ही रहना चाहिये। क्यो कि स्त्री-भोग किंपाक फल के समान वाह्य रूप से सुन्दर, मधुर, आकर्षक और सरस प्रतीत होते हुए भी अन्तमें—परिणाम मे घोर विष के समान है। शरीर में नाना व्याधियाँ पैदा करने वाले है। आत्म वल और चारित्र वल घटाने वाले है। एवं अनन्त जन्म मरण पैदा करने वाले है।

(११)

अवि वास सयं नारीं बम्भयारी विवज्जए ।

द०, ८, ५९,

टीका—स्त्री-संगति इतनी बुरी है कि वृद्धा और कुरूपा एवं अपांग स्त्री से भी ब्रह्मचर्य की हानि हो सकती है। अतएव सौ वर्ष जितनी आयु वाली स्त्री से भी ब्रह्मचारी दूर ही रहे।

(१२)

थी कहं तु विवज्जए ।

उ०, १६, २

टीका—स्त्री-कथा, स्त्री के अंगोपांग की चर्चा, स्त्री के शृंगार की वार्ता आदि स्त्री-जीवन-वर्णन की बातें ब्रह्मचारी छोड़ दे। ब्रह्मचर्य के लिये घातक और वर्जनीय बातें ब्रह्मचारी न तो कहे और न सुने तथा न उनका चिन्तवन करे।

(१३)

णो निग्गंथे इत्थीणं पुव्व रयं,
पुव्वकीलियं अणुसरेज्ज ।।

उ०, १६, ग, छट्ठा

टीका—जो निर्ग्रन्थ है, जो ब्रह्मचारी है, जो जीवन-मुक्ति की कामना वाला है, उसको स्त्रियों के साथ पूर्व काल में भोगे हुए काम-भोगों को और क्रीडाओं को याद नहीं करना चाहिये।

(१४)

संमिस्स भावं पयहे पयासु ।

सू०, १०, १५

टीका—संपूर्ण शांतिमय जीवन का इच्छुक पुरुष, स्त्रियों के साथ मेल-मिलाप रखना सर्वथा त्याग दे। क्योंकि स्त्री-संसर्ग और पूर्ण शांति दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं।

(१५)

विलएसु मणुन्नेसु पेमं नाभिं निवेसए ।

द०, ८, ५९

टीका—इन्द्रियों के विषयो की ओर अथवा भोगोपभोग पदार्थों की ओर एव विषय-वासना के पोषण की ओर मनको नही जाने देना चाहिये। विकारो की ओर मानसिक आकर्षण भी नही होने देना चाहिये। आसक्ति या अनुराग-भाव को मनोज्ञ-विषयो मे पैदा नही होने देना चाहिये।

(१६)

नारीसु नोवगिज्झेज्जा,
धम्मं च पेसलं णच्चा ।

उ०, ८, १९

टीका—धर्म को—दान, शील, तप, भावना को ही सुन्दर जान कर, कल्याणकारी जान कर, स्त्रियोमे कभी भी गृद्ध न बनो, मूर्च्छित न बनो। ब्रह्मचर्य को ही सर्वस्व समझो। इसको ही कल्याण का मूल आधार समझो।

(१७)

न य रूवेसु मणं करे ।

द०, ८, १९

टीका—रूपवती सुन्दर स्त्रियो को देख कर मन को चचल नही करना चाहिये। विषय-विकार की ओर से मन रूपी घोड़े को ज्ञान रूपी लगाम से रोककर ध्यान रूपी क्षेत्रमें, चितन-मनन रूपी मैदान मे और सेवामय आगण मे लगाना चाहिये।

(१८)

निव्विण्ण चारी अरए पयासु ।

आ०, ५, १५५, उ, ३

टीका—ससार के भोग सबन्धी सुखो से जिनको उदासीनता हो गई है, संसार के वैभव से जिनको वैराग्य हो गया है, ऐसे महापुरुष स्त्रियो से विरति ही रक्खें। स्त्रियो से दूर ही रहें। ब्रह्मचर्य-व्रत को ही आध्यात्मिक उच्चता की आधार भूमि समझें।

(१९)

विरते सिणाणाइसु इत्थियासु।

सू०, ७, २२

टीका—साधु की साधुता इसी में है कि वह शृगार-भावनासे, स्नान आदि क्रियाओं से दूर रहे। और स्त्रियो के संसर्ग से सदा बचता रहे,। काया से शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करता रहे।

(२०)

इत्थी विजयस्स मज्झे,
न बम्भयारिस्स खमो निवासो।

उ०, ३२, १३

टीका—स्त्री के रहने के स्थान में यानी स्त्री के आवागमन के स्थान में अथवा स्त्रियो के पडोस म ब्रह्मचारी का निवास आपत्ति-जनक होता है। व्रत-नाशक और चित्त की चचलता को पैदा करने वाला होता है।

(२१)

गुत्तिंदिए गुत्त बम्भयारी
सया अप्पमत्ते विहरेज्ज।

उ०, १६, ग, प्र,

टीका—गुप्त इन्द्रिय वाला होकर, इन्द्रयो पर गुप्त रूप से सयम शील होकर, गुप्त ब्रह्मचारी होकर, कर्मठ होकर, अप्रमादी होकर सदा विचरे और इसी तरह से अपना जीवन-काल व्यतीत करता रहे।

(२२)

सव्विंदियाभिनिव्वुडे पयासु ।

सू०, १०, ४

टीका—आत्म कल्याण की इच्छा वाले पुरुष के लिये यह आवश्यक और अचल कर्त्तव्य है कि वह स्त्रियो की तरफ से सभी इन्द्रियो को रोक कर जितेन्द्रिय रहे । स्त्रियों का मन, वचन और काया से भी ध्यान नही करे । स्त्रियों की आकाक्षा नही करे ।

(२३)

णो निग्गंथे इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं,
मणोरमाइं आलोएज्जा, निज्झाएज्जा ।

उ०, १६, ग, च०

टीका—जो निर्ग्रंथ है, ब्रह्मचारी है, ईश्वर-प्राप्ति की आकाक्षा वाला है, उसे स्त्रियो की मनोहर और मनोरम इन्द्रियो को न तो देखना चाहिये और न उनका ध्यान अथवा चिन्तन ही करना चाहिये ।

(२४)

इत्थियाहिं अणगारा,
संवासेण णास मुवयंति ।

सू०, ४, २७, उ, १

टीका—जेसे अग्नि से स्पर्श किया हुआ लाख का घड़ा शीघ्र तप कर नाश को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार स्त्रियो के ससर्ग से योगी पुरुष भी-सयमी पुरुष भी भ्रष्ट हो सकता है । अतएव मन, वचन और काया से स्त्री-सगति से दूर रहना चाहिये । आत्म-कल्याण की भावना की पूर्ति के लिये ब्रह्मचर्य सर्व प्रथम आवश्यक गुण है ।

(२५)

जा जा दिच्छसि नारीओ,
अट्ठि-अप्पा भविस्ससि।

द०, २, ९

टीका—मानसिक-नियंत्रणता के अभाव में जिन २ स्त्रियो को देखोगे, उससे प्रत्येक बार तुम्हारा मन और आत्मा अस्थिर, निर्बल और वायु विकम्पित वृक्ष के समान चंचल बनेगी। अतएव विषयो से चित्त को हटाओ।

(२६)

नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा,
गंडवच्छासु अणेग चित्तासु।

उ०, ८, १८

टीका—जिनके वक्ष. स्थल पर कुच हैं—स्तन है, और जो अस्थिर चित्तवाली है, यानी विभिन्न विषयो पर चित्त को जो परिभ्रमण कराती रहती है, तथा जो धर्म, धन, शरीर और शक्ति आदि सभी सत्गुणो का नाश करने वाली है, ऐसी राक्षसी समान स्त्रियो में कभी भी मूर्च्छित न बनो।

(२७)

लद्धे कामे ण पत्थेज्जा।

सू०, ९, ३२

टीका—काम-भोगो को भोगने का अवसर मिल जाय तो ब्रह्मचारी पुरुष उनको मन, वचन और कायासे नही भोगे। उनको भोगने की इच्छा भी नही करे। और उस विघ्नकारी स्थान को छोड़ कर अन्यत्र वीतरागता पूर्वक चला जाए।

(२८)

बंभयारिस्स इत्थी
विग्गहओ भयं।

द०, ८, ५४

टीका—ब्रह्मचारी को स्त्री के शरीर से भय बनाये रखना चाहिये। मन, वचन और कायामे स्त्रीकी संगतिसे दूर रहना चाहिये। स्त्री-सगति तत्काल विकार को पैदा करने वाली होती है, अतः इससे दूर ही रहे।

(२९)

नाइमत्तं तु भुंजिज्जा बम्भचेर रओ।

उ०, १६, ८

टीका—ब्रह्मचर्य में अनुरक्त पुरुष, ब्रह्मचर्य की साधना वाला परिमित, सात्विक आहार करे। प्रमाण से अधिक और वर्जनीय आहार नही करे।

(३०)

णो निग्गंथे पणीयं आहारं आहारेज्जा।

उ०, १६, ग, सा०

टीका—जो निर्ग्रन्थ है, जो ब्रह्मचारी है, जो मुमुक्षु है, उसको अत्यत सरस और कामोद्दीपक आहार नही करना चाहिये। यथा आहार तथा वृति के अनुसार सरस आहार ब्रह्मचर्य के लिए घातक है।

(३१)

रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो,
न लिप्पए भवमज्झेऽवि सन्तो।

उ०, ३२, ३४

टीका—रूप से विरक्त यानी स्त्री सौंदर्य के देखने से विरक्त, ऐसा पुरुष शोक रहित होता है। समाधिमय और स्थितप्रज्ञ होता है, तथा इस ससार मे रहता हुआ भी पाप-कर्मो से लिप्त नही होता है।

(३२)

न संत संति मरणं ते
सील वन्ता बहुस्सुया ।
उ०, ५, २९

टीका—शील वाले, सत्चरित्र वाले और ज्ञान वाले पुरुष इस लोक में और परलोक मे कहीं पर भी कष्ट नही पाते है, क्योंकि वे जितेन्द्रिय होते हैं। वे तृष्णा रहित होते है और वे स्व-पर की कल्याणकारी भावना वाले होते है।

★

अपरिग्रह-सूत्र

(१)

सव्वारम्भ परिच्चागो निम्ममत्तं ।

उ०, १९, ३०

टीका—सभी आरंभ-परिग्रहका त्याग करना और निर्ममता तथा अनासक्त भाव मे रहना ही "निष्परिग्रह व्रत" है ।

(२)

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो ।

द०, ६, २१

टीका—मूर्च्छा या आसक्ति ही परिग्रह का नामान्तर है । आसक्ति ही भय, मोह, चिन्ता, लोभ आदि पापो की जननी है, विकारो को पैदा करने वाली खान है । मूर्च्छा वाला और आसक्ति वाला चाहे दरिद्री हो या धनवान, दोनो ही मूर्ख है और दोनो ही पतित है; अतएव आसक्ति भाव से दूर रहना ज्ञानी के ज्ञान का एक आवश्यक अंग है ।

✱

वैराग्य-सूत्र

(१)

एगो अहमंसि, न मे अत्थि कोइ,
न या हमवि कस्स वि।

आ०, ८, २१६, उ, ६

टीका—हे आत्मा ! तू विचार कर कि मै अकेला ही हूँ, जन्म लेते समय भी कोई साथ में नही था, और मरते समय भी कोई साथ में आने वाला नही है। सासारिक कामो को करते समय और सासारिक सुख-वैभव में हिस्सा बटाते समय तो सभी सम्मिलित हो जाते है, परन्तु पाप का उदय होने पर-कर्मों का फलोदय होने पर कोई भी हिस्सा नही बटाता है; अकेले को ही भोगना पड़ता है। इसलिए विचार कर कि "मैं अकेला ही हूँ, मेरा कोई नही है, और मै भी किसी दूसरे का नही हूँ।" इस प्रकार की एकत्व-भावना से ही आत्मिक-शाति की सम्भावना है।

(२)

परिजूरइ ते सरीरयं,
समयं गोयम ! मा पमायए।

उ०, १०, २१

टीका—तुम्हारा शरीर क्षण प्रतिक्षण जीर्ण और अशक्त होता जा रहा है, इसलिये हे गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

(३)

विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं
समयं गोयम ! मा पमायए।

उ०, १०, २७

अपरिग्रह-सूत्र

(१)

सव्वारम्भ परिच्चागो निम्ममत्तं ।

उ०, १९, ३०

टीका—सभी आरंभ-परिग्रहका त्याग करना और निर्ममता तथा अनासक्त भाव से रहना ही "निष्परिग्रह व्रत" है ।

(२)

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो ।

द०, ६, २१

टीका—मूर्च्छा या आसक्ति ही परिग्रह का नामान्तर है । आसक्ति ही भय, मोह, चिन्ता, लोभ आदि पापो की जननी है, विकारो को पैदा करने वाली खान है । मूर्च्छा वाला और आसक्ति वाला चाहे दरिद्री हो या धनवान, दोनो ही मूर्ख है और दोनो ही पतित है; अतएव आसक्ति भाव से दूर रहना ज्ञानी के ज्ञान का एक आवश्यक अंग है ।

✿

संसारी और भोगी आत्मा का जीवन भी अचानक टूट जाता है। अनन्त काल चक्र के सामने प्रत्येक संसारी आत्मा का एक गति विशेष में कितना लम्बा आयुष्य होता है ? छोटा सा होता है, अतएव समय और शक्ति का सदुपयोग ही करते रहना चाहिये। यही बुद्धिमानी का लक्षण है।

(७)

ण य संखय माहु जीवितं,
तह वि य वालजणो पगब्भई।

सू०, २, १०, उ, ३

टीका—टूटी हुई आयु पुनः जोडी नही जा सकती है। व्यतीत हुआ जीवन पुन. प्राप्त नही किया जा सकता है। फिर भी मूर्ख मनुष्य, विवेक हीन पुरुष, कामान्ध प्राणी पाप करने की धृष्टता करते ही रहते हैं। वे स्वार्थ-साधना और इन्द्रिय-पोषण मे ही मग्न रहते है।

(८)

तरुण ए वाससयस्स तुट्टती
इत्तरवासे य बुज्झह।

सू०, २, ८, उ, ३

टीका—सौ वर्ष की आयुवाले पुरुष का भी जीवन युवावस्था मे ही नष्ट होता हुआ देखा जाता है। इस लिये इस जीवन को थोड़े दिन के निवास के समान समझो और क्षण भर का भी प्रमाद मत करो, तथा सदैव सत्कार्यो मे ही लगे रहो।

(९)

ताले जह बंधण-चुए
एवं आउक्खयंमि तुट्टती।

सू०, २, ६, उ, १

टीका—तुम्हारा यह शरीर गिर रहा है, प्रति क्षण निर्बल हो रहा है, क्रमश प्रत्येक क्षण नाश को प्राप्त हो रहा है, अचानक रूप से मृत्यु आ जाने वाली है, इसलिये हे गौतम! क्षण भर का भी प्रमाद मत कर!

(४)

दुमपत्तए पंडुयए जहा,
एवं मणुयाण जीवियं।

उ०, १०, १

टीका—जैसे वृक्ष का पीला और पका हुआ पत्ता न मालूम किस क्षण मे गिर जाता है अथवा गिरने वाला होता है, वैसे ही यह मनुष्य शरीर न मालूम किस क्षण मे नष्ट हो जाने वाला है।

(५)

कुसग्गे जह ओस विंदुए,
एवं मणुयाण जीवियं।

उ०, १०, २

टीका—जैसे कुशा-घास पर अवस्थित ओस-विन्दु थोड़े समय तक की स्थिति वाला होता है, और हवा का झोका लगते ही गिर पड़ता है वैसे ही मनुष्य-जीवन का भी कोई निश्चित पता नही है। न मालूम कब यह खत्म हो जाने वाला है।

(६)

कुसग्गे पणुन्नं निवइय वाएरियं.
एवं बालस्स जीवियं।

आ०, ५, १४३ उ, १

टीका—जैसे कुशा-घास पर अवस्थित जल बिन्दु हवा का झोका लगते ही गिर पडता है, और समाप्त हो जाता है, ऐसे ही

संसारी और भोगी आत्मा का जीवन भी अचानक टूट जाता है। अनन्त काल चक्र के सामने प्रत्येक संसारी आत्मा का एक गति विशेष में कितना लम्बा आयुष्य होता है ? छोटा सा होता है, अतएव समय और शक्ति का सदुपयोग ही करते रहना चाहिये। यही बुद्धिमानी का लक्षण है।

(७)

ण य संखय माहु जीवितं,
तह वि य बाल जणो पगब्भई।

सू०, २, १०, उ, ३

टीका—टूटी हुई आयु पुन जोड़ी नही जा सकती है। व्यतीत हुआ जीवन पुन. प्राप्त नही किया जा सकता है। फिर भी मूर्ख मनुष्य, विवेक हीन पुरुष, कामान्ध प्राणी पाप करने की धृष्टता करते ही रहते है। वे स्वार्थ-साधना और इन्द्रिय-पोषण मे ही मग्न रहते है।

(८)

तरुण ए वाससयस्स तुट्टती
इत्तरवासे य वुज्झह।

सू०, २, ८, उ, ३

टीका—सौ वर्ष की आयुवाले पुरुष का भी जीवन युवावस्था में ही नष्ट होता हुआ देखा जाता है। इस लिये इस जीवन को थोड़े दिन के निवास के समान समझो और क्षण भर का भी प्रमाद मत करो, तथा सदैव सत्कार्यों मे ही लगे रहो।

(९)

ताले जह बंधण-च्चुए
एवं आउक्खयंमि तुट्टती।

सू०, २, ६, उ, १

टीका—जैसे बन्धन से छुटा हुआ ताड-फल गिर पडता है, वैसे ही अचानक आयु के समाप्त होते ही प्राणी भी मर जाते है, इसलिये दान, शील, तप और भावना के प्रति उपेक्षित नही रहना चाहिए। यथा-शक्ति कुछ न कुछ धर्म-क्रियाऐ करते ही रहना चाहिये।

(१०)

विणि अट्टिज्ज भोगेसुः
आउं परिमि अप्पणो।

द०, ८, ३४

टीका—शरीर क्षण भगुर है और आयु परिमित है, ऐसा विचा कर काम-भोगो से, इन्द्रिय विपयो मे अपने मन और आत्मा क अलग ही रखना चाहिये।

११

उवणिज्जई जीविय मप्पमायं,
मा कासि कम्माइं महालयाइं।

उ०, १३, २६

टीका—यह शरीर विना किसी वाधा के निरन्तर मृत्यु वे समीप चला जा रहा है, प्रति क्षण आयु घटती जा रही है, अचानक मृत्यु आ जाने वाली है, इसलिये महा हिंसक और महान् दुर्गति के देने वाले कर्मों को पाप-पूर्ण कामो को तू मत कर। हे जीव। सत् और असत् का विचार करके कार्य कर।

१२

एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं।

सू०, ५, २२, उ, २

टीका—जीव अज्ञानवश सारे कुटुम्ब के लिए पाप करता है। झूठ-हिंसा आदिका आश्रय लेकर कुटुम्ब को सुखी करने का प्रयत्न करता है। परन्तु कर्मों का फल भोगने के समय वह अकेला ही भोगता

है। उसके दुखो को बाँटने के लिये कोई भी समर्थ नही होता है। अकेला ही घोर दु:खका अनुभव करता है।

१३

मच्चुणाऽऽमाहओ लोगो,
जराए परिवारिओ।

उ०, १४, २३

टीका—यह संसार मृत्युसे पीडित है और बुढापे से सवृत्त आच्छादित है। प्रत्येक क्षण नाश और दु ख की धारा इस विश्व में प्रवाहित हो रही है।

१४

जाया य पुत्ता न हुवन्ति ताणं।

उ०, १४, १२

टीका—कर्म-जनित महान् वेदना प्राप्त होने पर अथवा अधो-गति प्राप्त होने पर पुत्र भी आत्मा की रक्षा नही कर सकते है। ऐसा सोचकर आत्म-विकास करना चाहिये। सत् प्रवृत्तियो की ओर बढना चाहिये।

१५

मच्चू नरं नेइ हु अन्त काले,
न तस्स माया वपिया व भाया अंसहरा भवन्ति।

उ०, १३, २२

टीका—जब मृत्यु मनुष्य को अत समय मे धर दबाती है, तब उस समय उसके माता पिता अथवा भाई आदि कोई भी उसको बचाने में समर्थ नही हो सकते है।

१६

माया पिया ण्हुसा भाया,
नालं ते मम ताणाए।

उ०, ६, ३

टीका—अपने कर्मों के अनुसार दु ख भोगने के समय माता, पिता-पुत्र-वधु, भार्या अथवा पुत्र आदि कोई भी उन दुःखो से छुटकारा दिलाने मे, आपत्ति से रक्षा करने में समर्थ नही हो सकते है । इसके लिये तो सयम और स्व-पर की सेवा ही सर्वोत्तम औषधि है ।

(१७)

णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा,
तुमं पि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा ।

आ०, २, ६५, उ, १

टीका—कर्मोदय से जनित घोर दु ख के समय हे आत्मन् ! न तो माता, पिता, वन्धु वर्ग ही तुम्हारी रक्षा कर सकते है अथवा शरण भूत हो सकते है, और न तू ही उनके घोर दु खमे उनकी रक्षा कर सकता है । जिसका कर्म जो ही भोगेगा, अतएव ससार के सुख वैभव में और मोह में आसक्ति मत रख । कर्त्तव्य-मार्ग में अनासक्ति के साथ वढता चला जा ।

(१८)

एक्को सयं पच्चणु होइ दुक्खं ।

उ०, १३, २३

टीका—पाप कर्मो का उदय होने पर प्राप्त दु ख को जीव अकेला ही भोगता है । उस दुःख को विभाजित करने में कोई भी समर्थ नही हो सकता है ।

(१९)

एगत्त मेयं अभिपत्थएज्ज

सू०, १०, १२

टीका—पडित पुरुष एकत्व-भावना की प्रार्थना करे । क्यो कि जन्म, जरा, मरण, रोग, भय, और शोक से परिपूर्ण इस जगत्

में अपने किये हुए कर्म से दुःख भोगते हुए प्राणी की रक्षा करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

(२०)

एगस्स जंतो गति रागती य।

मू० १३, १८

टीका—प्राणी अकेला ही परलोक को जाता है और अकेला ही आता है। इस संसार में प्राणी के लिये धर्म को छोड़कर दूसरा कोई भी उसका सच्चा सहायक नहीं है। न धनादि वैभव के पदार्थ ही सहायक हैं, और न माता-पिता आदि बन्धु वर्ग ही सहायक हैं। अतएव सेवा, सद्वर्तन, सात्विकता, ईश्वर-भजन आदि पवित्र कार्यों को ही जीवन में प्रमुख स्थान देना चाहिये।

(२१)

जीवियं नाभिकंखेज्जा,
मरणं नो वि पत्थए।

आ०, ८, २०, उ, ८

टीका—जीवन में अनासक्त रहे। आसक्ति होने पर भोगों में पुनः फसने की आशंका है। कर्त्तव्य से गिर जाने का डर है। अतएव धर्म-मार्ग पर चलते हुए न तो जीवन के प्रति मोह-ममता रक्खे, और न मृत्यु से भय खावे। यश-कीर्ति, सुख-वैभव प्राप्त होने पर जीवन को बहुत काल तक जीवित रखने की आकांक्षा नहीं करे, एवं दुःख, व्याधि, उपसर्ग, परिषह, कठिनाइयाँ आदि को देख कर मरने की भावना भी नहीं भावे। सात्विक वृत्ति वाला, कर्मण्य पुरुष केवल कर्मण्य का ही ध्यान रखे, जीवन से या मृत्यु से अनासक्त रहे।

(२२)

संवेगेणां अणुत्तरं धम्म सद्धं जणयइ ।

उ०, २९, प्र, ग०

टीका—संवेग और वैराग्य से ही श्रेष्ठ धर्म के प्रति, जैन धर्म के प्रति और सात्विक क्रिया मय आचरण के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है, इन पर विश्वास जमता है ।

(२३)

निव्वेएणं दिव्व माणुस तेरिच्छिएसु
काम भोगेसु निव्वेयं हव्व मागच्छइ ।

उ०, २९, द्वि०, ग०

टीका—संसार-सुख के प्रति तटस्थ वृत्ति एवं उदासीन भावना होने पर ही देवता संबंधी, मनुष्य संबंधी और तिर्यंच संबंधी काम-भोगों के प्रति और इन्द्रिय-सुखों के प्रति वैराग्य भाव पैदा हुआ करते हैं, इसलिये त्याग-भाव और अरुचि-भाव के लिये तटस्थ भावना की अति आवश्यकता है ।

(२४)

विरत्ता उ न लग्गन्ति,
जहा से सुक्क गोलए ।

उ०, २५, ४३

टीका—जैसे सूखा हुआ गोला भींत पर नहीं चिपकता है, वैसे ही विरक्त आत्माओं के—विषय-मुक्त आत्माओं के तथा अनासक्त आत्माओं के भी कर्मों का बंधन नहीं होता है ।

★

कर्तव्य-सूत्र

(१)

अकिरियं परिवज्जए

उ०, १८, ३३

टीका—अक्रिया का, नास्तिकता का, अनास्था का, परित्याग करना चाहिये। जीवन में ज्ञानके साथ क्रिया को भी यानी चारित्र को भी स्थान देना चाहिये। क्रिया शून्य ज्ञान मोक्ष तक नही पहुचा सकता है।

(२)

सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं।

उ०, १३, १०

टीका—सात्विक उद्देश्यों से किये जाने वाले सभी कार्य मनुष्यों के लिये अच्छे फल देने वाले होते है। भावनानुसार फल की प्राप्ति हुआ ही करती है।

(३)

जाइ सद्धाइ निक्खन्तो,
तमेव अणु पालिज्जा।

द०, ८, ६१

टीका—जिस श्रद्धा के साथ, जिस दृढ आत्म-विश्वास के साथ, स्व और पर के कल्याण के लिये निकला हो, उसी दृढ भावना के साथ एवं अचल श्रद्धा के साथ स्व और पर के कल्याण में लगे रहना चाहिये।

(४)

णो जीवितं णो मरणाहि कंखी ।

सू०, १२, २२

टीका—ईश्वर पर श्रद्धा रखने वाला पुरुष और धार्मिक-नियमों पर चलने वाला पुरुष न तो जीवन पर आसक्ति रखे और न मृत्यु से घबरावे। कठिनाइयाँ आने पर भी मृत्यु की अकाक्षा नही रखे। तथा सुख-सुविधा होने पर भी जीवन के प्रति अनासक्त रहे।

(५)

मा वंतं पुणो वि आविए ।

उ०, १९, २९

टीका—त्यागे हुए विषय को, और छोड़ी हुई कषाय-वासनाको पुनः ग्रहण मत करो। भोगो की तरफ मत ललचाओ।

(६)

अणट्ठा जे य सव्वत्था परिवज्जेज्ज ।

उ०, १८, ३०

टीका—जो अनर्थ कारी क्रियाएँ है, जिन क्रियाओ से न तो स्व का और न पर का हित होने वाला है, अथवा जो स्व को या पर को हानि पहुंचाने वाली है, जो आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टि से वर्जनीय है, जो त्याज्य है, ऐसी क्रियाओं को सर्वत्र और सर्वदा के लिये छोड़ देना चाहिये।

(७)

रायणिएसु विणयं पउंजे ।

द०, ८, ४१

टीका—ज्ञान, दर्शन और चारित्र में वृद्ध मुनिराजों की सदैव विनय, भक्ति और सेवा करते रहना चाहिये। क्योकि सेवा ही मोक्ष-दायिनी होती है।

(८)

लज्जा दया संजम बंभचेरं,
कल्लाण भागिस्स विसोहि ठाणं ।

द०, ९, १३ प्र, उ,

टीका—कल्याण के लिये अर्थात् अनत आत्मिक सुख की भावना वाले के लिये, (१) लज्जा यानी व्यवहार-कुशलता के साथ मर्यादा पालन, (२) दया यानी सभी प्राणियो पर आत्मवत् दृष्टि, (३) सयम यानी विषय-कषाय विकार पर नियन्त्रण और (४) ब्रह्मचर्य यानी मन, वचन तथा काया पूर्वक स्त्री-सगति से दूर रहना और वीर्य-रक्षा करना; ये चार आवश्यक और प्रधान आचरणीय क्रियाएं हैं ।

(९)

सुस्सूसए आयरिं अप्पमत्तो ।

द०, ९, १७, प्र, उ,

टीका—प्रमाद रहित होकर, सदैव सत् क्रिया शील होकर, अपने आचार्य को अथवा अपने गुरु की निष्कामना के साथ विशुद्ध हृदय होकर सेवा करता रहे । उनकी भक्ति करता रहे ।

(१०)

समय तत्थु वेहाए अप्पाणं विप्पसायए ।

आ०, ३, ११७, उ, ३

टीका—ज्ञानी का या मुमुक्षु का यह कर्तव्य है कि वह समता धर्म में ओर शांति धर्म में अपनी आत्मा को स्थिर कर आत्मिक शक्तियो का सात्विक रीति से विकास करता रहे ।

(११)

जाए सद्धाए निक्खंतो,
तमेव अणुपालिज्जा ।

आ०, १, २०, उ, ३

टीका—जिस श्रद्धा से, जिस उत्कृष्ट त्याग-भावना से और जिस कर्त्तव्य-प्रेरणा से सासारिक सुख वैभव का परित्याग करके दीक्षा ग्रहण की है, यानी महापुरुषो के मार्ग का अवलम्बन किया है, उसी भावना के साथ और उसी आदर्श श्रद्धा के साथ उस दीक्षाकी तथा उस कर्त्तव्य की परिपालना करे।

(१२)

अलं वालस्स संगेण।

आ०, २, ९६, उ, ५

टीका—मूर्खों की सगति कभी भी नही करनी चाहिये, क्योंकि सगति अनुसार ही फल मिला करता है। सगति अनुसार ही गुणों का और दुर्गुणो का ह्रास अथवा विकास हुआ करता है।

(१३)

चरेज्ज अत्तगवेसए।

उ०, २, १७

टीका—आत्मा की अनंतता की और आत्मा की महत्ता की खोज करने वाला सयम-मार्ग पर ही-इन्द्रिय-दमन के मार्ग पर ही सलग्न रहे। आत्मा की अनुभूति विकार वासना, कषाय, तृष्णा और इन्द्रिय भोगो पर विजय प्राप्त करने पर ही हो सकती है।

(१४)

इमेण चेव जुज्झाहि,
किं ते जुज्झेण वज्झओ।

आ०, ५, १५४, उ, ३

टीका—बाह्य शत्रुओ के साथ लडने मे कोई गौरव नही है, जब तक कि आतरिक शत्रुओ को—काम, क्रोध, मोह, मद, मात्सर्य, लोभ आदि शत्रुओ को नही हरा दिया जाय, तब तक बाह्य-युद्ध से क्या लाभ होने वाला है? आतरिक-युद्ध ही ज्ञानियो द्वारा

प्रशंसनीय कहा गया है। बाह्य युद्ध तो निकम्मा और निंदनीय है। यही तत्वदर्शियो का फरमान है।

(१५)

धुय मायरेज्ज।

सू०, ५, २५, उ, २

टीका—गुणज्ञ पुरुष स्वीकृत और आराधित नियम-सयम का भली-भांति आचरण करे।

(१६)

अतत्ताए परिव्वए।

सू०, ११, ३२

टीका—आत्मा के विकास के लिये और आत्मा के स्थायी सुख के लिये, समझदार पुरुष इन्द्रियो को वशमें रखे। ससार के पौद्गलिक सुखो की प्राप्ति के ध्येय से सयम का पालन नही किया जाय, बल्कि चारित्र के पालन का एकान्त दृष्टिकोण यही हो कि आत्मा अनन्त आनन्द प्राप्त करे। जीवन का यही एक मात्र ध्येय हो।

(१७)

सव्वत्थ विणीय मच्छरे।

सू०, २, १४, उ, ३

टीका—सब जगह और सदैव सभी प्राणियो के प्रति और सभी कार्यों के प्रति ईर्षा-भाव का परित्याग करना ही मानवता की सर्व प्रथम सीढ़ी है।

(१८)

निर्व्विदेज्ज सिलोग पूयणं।

सू०, २, १३, उ, ३

टीका—आत्म कल्याण की इच्छा वाले मुमुक्षु को अपनी प्रशसा, यशः कीर्ति, पूजा, सन्मान आदि से दूर रहना चाहिये । ये पतन की ओर ले जाने वाले है और अभिमान पैदा करने वाले है । इन बातो से मुमुक्षु सदैव दूर ही रहे ।

पूजा-सन्मान की आकाक्षा भी मोह का रूप ही है ।

(१९)

सुपरिच्चाई दमं चरे ।

उ०, १८, ४३

टीका—सुपरि त्यागी होकर, अनासक्त और निर्ग्रन्थ होकर, दमन-मार्ग पर, इन्द्रिय-सयम के मार्ग पर और कषाय-जय के मार्ग पर अपनी आत्माको जोडे । आत्मा को सयोजित करे ।

(२०)

सत्थारभत्ती अणुवीइ वायं ।

सू०, १४, २६

टीका—शिक्षा देने वाले गुरु की भक्ति का ध्यान रखता हुआ शिक्षार्थी सोच विचार कर कोई बात कहे । गुरु के कथन के विपरीत नही बोले, एव सस्कृति के प्रतिकूल विवेचना भी नही करे ।

(२१)

पण्णे समत्ते सया जए,
समता धम्म मुदाहरे ।

सू०, २, ६, उ, २

टीका—पूर्ण बुद्धिमान् पुरुष सदा कषायों को-क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतता रहे । इन पर विजय प्राप्त करता रहे तथा समता-धर्म का-वीतराग-धर्म का उपदेश करता रहे ।

सद्गुण-सूत्र

(१)

निम्ममे निरहंकारे ।

उ०, ३६, २१

टीका—जीवन ममता रहित और अहकार रहित हो। ऐसा जीवन ही बोधप्रद है। ऐसा जीवन ही कृत कृत्य है। ऐसा जीवन ही सफल है।

(२)

अप्पियस्सावि मित्तस्स,
रहे कल्लाण भासई ।

उ०, ११, १२

टीका—अप्रिय मित्र का भी एकान्त मे जो गुणानुवाद करता है, अप्रिय मित्र के प्रति भी जो निन्दा भाव नही रखता है तथा सदैव उसका हितचिन्तन ही करता रहता है, ऐसा पुरुष ही विनीत है। वह आज्ञा का आराधक है।

(३)

अक्कोहणे सच्चरए सिक्खा सीले ।

उ०, ११, ५

टीका—जो अक्रोधी है, नम्र है और सत्यानुरागी, है वही पुरुष सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

(४)

माणं मद्दवया जिणे ।

द०, ८, ३९

टीका—मानको, अहकार को मृदुता से और नम्रता से जीतना चाहिये। नम्रता से विरोधी भी नरम और अनुकूल हो जाता है।

(५)

मायं अज्जव भावेण।

द०, ८, ३९

टीका—माया को, कपट को सरलता से जीतना चाहिये। सरल हृदय मे ही ईश्वर का वास हैं।

(६)

लोभं संतोसओ जिणे।

द०, ८, ३९

टीका—लोभ को, लालचको सतोष से जीतना चाहिए। सतोष बराबर धन नही है। सतोपी ही सुखी है। और असन्तोषी सदैव दुःखी है, चाहे वह धनी हो या निर्धन। असतोष की लहरे, तृष्णा की तरगे अनन्त है, उनका कभी अत ही नही आ सकता है।

(७)

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।

उ०, ३२, ८

टीका—जिसकी आतमा मे मोह नही है, उसे दुख नही हो सकता है। यानी मोह के अभाव मे दुःख का अभाव हो जाता है। इसी प्रकार मोह के नाश मे ही तृष्णा का नाश रहा हुआ है। जिसका मोह नष्ट हो गया है उसकी तृष्णा भी नष्ट हो गयी है।

(८)

तण्हा हया जस्स न होई लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं

उ०, ३२, ८

टीका—जिसकी तृष्णा नष्ट हो गयी है उसको लोभ नही सताता है, और जिसके हृदयसे लोभ चला गया है उसको किसी भी बात पर, पदार्थ पर एवं भोग पर, आसक्ति या ममता नही रहती है। आनन्द की प्राप्ति के लिये तृष्णा का नाश सर्व प्रथम आवश्यक है।

(९)

ओमासणाणं दमिइन्दियाणं,
न राग सत्तू धरिसेइ चित्तं।

उ०, ३२, १२

टीका—परिमित और अल्प आहार करने वाले को तथा इन्द्रियो का दमन करने वाले के चित्त को राग-रूप शत्रु-आसक्ति रूप दुश्मन और ममता रूप वैरी दुःख नही देता है।

(१०)

संगाम सीसे व परं दमेज्जा।

सू०, ७, २९

टीका—कर्मण्य पुरुष अपनी मानसिक दुर्वृत्तियो का इस प्रकार दमन करे जैसा कि वीर-पुरुष युद्ध क्षेत्रमें प्रति पक्षी शत्रु का दमन करता है, और उसपर विजय प्राप्त करता है। मानसिक दुर्वृत्तियो पर विजय प्राप्त करने में ही पुरुषत्व की शोभा रही हुई है।

(११)

अप्पमत्तो परिव्वए।

उ०, ६, ३

टीका—जीवन के विकास के लिये अप्रमत्त होता हुआ, निश्चिंत होता हुआ, आशा रहित होता हुआ, और निर्द्वंद्व होता हुआ अपना जीवन व्यतीत करे।

(१२)

अलोलुए रसेसु नाणुगिज्झेज्जा।

उ०, २, ३९

टीका—आत्मा की शाँति चाहने वाला अलोलुप होता हुआ इन्द्रियो के रसो मे, इन्द्रियो के भोगो के स्वादो में आसक्त न बने। विषयो मे मूच्छित न हो। वासनाओ मे गृद्ध न हो जाय।

(१३)

जे आसवा ते परिस्सवा,
जे परिस्सवा ते आसवा।

आ०, ४, १३१ उ, २

टीका—जो आश्रव के स्थान है, वे ही भावो की उच्चता के कारण सवर-निर्जरा के स्थान भी हो सकते है। इसी प्रकार जो सवर-निर्जरा के स्थान है, वे ही भावो की नीचता और दुष्टता के कारण आश्रव के स्थान भी हो जाया करते है। इन सब में मूल कारण भावो की या भावना की विशेषता है। जैसी भावना वैसा फल। बाह्य स्थिति कैसी भी हो, आतरिक स्थिति पर ही सब कुछ निर्भर है। अतएव सदैव शुद्ध भावना ही रखनी चाहिये।

(१४)

आवट्टं तु पेहाए इत्थ,
विरमिज्ज वेयवी।

आ०, ५, १७०, उ, ६

टीका—राग द्वेष, कषायें, विषय और विकार के चक्र का ख्याल कर, संसार-परिभ्रमण का विचार कर, तत्वदर्शी ज्ञानी इन कषायों से, इन विषयों से, इन वासनाओ से, अपनी आत्मा को बचावे। जीवन को निर्मल, निष्कषायी और अनासक्त बनावे।

(१५)

मेहावी जाणिज्ज धम्म।

आ० ६, १८८ उ, ४

टीका—जो बुद्धिमान् होता है, जो ज्ञान-शील होता है, वही धर्म के मर्म को-धर्म के रहस्य को जान सकता है। तत्वो के और सिद्धान्तो के तह में उच्च ज्ञानी ही प्रवेश कर सकते है—अज्ञानी और भोगी नही।

(१६)

सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिए।

सू०, ८, १५

टीका—पडित पुरुष-ज्ञानी पुरुष-सलेखना रूप शिक्षा को ग्रहण करे। आलोचना के साथ पश्चात्ताप और प्रायश्चित द्वारा जीवन की शुद्धि करे। और पुनः वैसी भूल नही करने की प्रतिज्ञा के साथ जीवन-काल व्यतीत करे।

(१७)

सव्वत्थ विरतिं कुज्जा।

सू०, ३, २०, उ, ४

टीका—सब स्थानों पर, सब काल में विरति करना चाहिये, यानी पाप, अशुभ-योग, कषाय, वासना आदि से विरक्त रहना चाहिये।

(१८)

न कंखे पुव्व संथवं।

उ०, ६, ४

टीका—आत्मार्थी अपने जीवन के पूर्व भाग मे भोगे हुए भोगों का न तो परिचय करे, न उनकी स्मृति करे और न आकांक्षा ही करे। उनको सर्वथा ही भूल जाय।

(१९)

समुप्पेहमाणस्स इक्कायतणरयस्स,
इह विप्पमुक्कस्स नत्थि मग्गे विरयस्स।

आ०, ५, १४९, उ, २

टीका—जिस आत्मा ने ससार को अनित्य समझ लिया है, तथा जो आत्मा एकान्त रूप से ईश्वर पर श्रद्धा कर के अपने निर्मल चारित्र द्वारा कर्त्तव्य-मार्ग पर आरूढ है, ऐसी आत्मा के नवीन कर्म आते हुए रुक जाते है। इसी प्रकार जो इन्द्रियो के भोगो से और मानसिक कषाय-वृत्तियो से निवृत्त है, वे अब पुनर्जन्म नही करेगे। क्यो कि ससार में चक्कर लगाने का कोई कारण अब ऐसी पवित्र आत्माओं के लिये शेष नही रहता है।

(२०)

वन्दणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ,
उच्चा गोयं कम्मं निबन्धइ।

उ०, २९, १०, वा, ग०

टीका—गुरुजी को तथा पच महाव्रतधारी साधुजी को वदना करने से, भाव पूर्वक इन्हे आदर्श मानने से, नीच-गोत्र कर्म के वध का नाश होता है और उच्च गोत्र कर्म का बध पड़ता है।

(२१)

वायणाए निज्जरं जणयइ।

उ०, २९, १९वां, ग०

टीका—वाचना से, शास्त्रो के पढ़ने से, साहित्यिक और दार्शनिक ग्रथो का अध्ययन करने से, इनका मनन तथा चिन्तन करने से, कर्मो की निर्जरा होती है। पूर्व कृत कर्मों का क्षय होता है।

(२२)

भुंजिज्जा दोषं वज्जिअं।

द०, ५, ९९, उ, प्र,

टीका—दोप-वर्जित आहार करना चाहिये। यानी जिस आहार में हिसा, झूठ, चोरी; आसक्ति, गरीबो का शोषण, अत्याचार,

अन्याय आदि पाप रहा हुआ हो, वह आहार त्याज्य है, क्योकि वह सदोष होता है ।

(२३)

पंचविहे आयारे, णाणायारे,
दंसणायारे, चरित्तायारे,
तवायारे, वीरियायारे ।

ठाणा, ५वा ठा, उ, २, १४

टीका—पांच प्रकार का आचार कहा गया है—१ ज्ञानाचार, २ दर्शनाचार, ३ चारित्राचार, ४ तपाचार और ५ वीर्याचार ।

१ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देख कर अविनय आदि आठ दोषो को टालना ज्ञानाचार है ।

२ सम्यक्त्व के दोषों को टालना दर्शनाचार है ।

३ पाच प्रकार की समितियाँ और तीन गुप्तियाँ पालना चारित्राचार है ।

४ बारह प्रकार के तप का आचरण करना तपाचार है ।

५—धर्म-मार्ग मे पराक्रम वतलाना वीर्याचार है ।

(२४)

चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए,
कम्मं पगरेंति, सरागसंजमेणं,
संजमासंजमेणं, बालतवो कम्मेणं,
अकाम निज्जराए ।

ठाणा०, ४था, ठा, उ, ४, ३९

टीका—चार प्रकार के कामो से जीव देव-गति का वंध करते है—१ सराग सयम से, २ सयमासयम से, ३ बालतप करने से और ४ अकाम निर्जरा से ।

(२५)

चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्सत्ताए
कम्मं पगरेंति, पगइ भद्दयाए,
विणीयाए, साणुक्कोसयाए,
अमच्छरियाए ।

। ठा०, ४ था, ठा, उ, ४, ३९

टीका—चार प्रकार के कामो से जीव मनुष्य गति का बध करते है :—(१) सरल प्रकृति रखने से, (२) विनीत प्रकृति रखने से, (३) दयालु प्रकृति रखने से और (४) प्रेम-भाव रखने से—यानी मात्सर्य भाव नही रखने से ।

★

क्षमा-सूत्र

(१)

खंतिं सविज्ज पंडिए।

उ०, १, ९

टीका—पंडित की-बुद्धिमान की सार्थकता इसी मे है कि वह क्षमा धारण करे। कैसी भी विषम और जटिल परिस्थिति हो तो भी क्षमा ही रक्खे।

(२)

खन्तीएणं परिसहे जिणइ।

उ०, २९, ४६वाँ, ग०

टीका—क्षमा धारण करने से परिषहो को और उपसर्गों को तथा आपत्ति-विपत्ति को सहन करने की शक्ति पैदा होती है। शत्रुता मिटकर मित्रता की भावना पैदा होती है।

(३)

खमावणयाए पल्हायण भावं जणयइ।

उ०, २९, १७ वा, ग०

टीका—अपने अपराधों के लिये क्षमा मांगने से तथा नम्रता और विनय धारण करने से चित्त मे प्रसन्नता होती है। आत्मा पापों से हल्की होती है।

(४)

पियमप्पियं सव्वं तितिक्खएज्जा।

उ०, २१, १५

टीका—प्रिय और अप्रिय, सभी वचनो को शातिपूर्वक सहन करना चाहिये। सहन शीलता ही गभीरता है, और गभीरता ही मानवता का एक अश है।

(५)

अणिहे से पुट्ठे अहियासए।

सू०, २, १३, उ, १

टीका—मुमुक्षु आत्मा, आत्मार्थी-पुरुष, कष्ट आने पर भी निस्पृह होकर, समभाव-शील होकर उन कष्टो को सहन करता रहे, पर अपने कर्त्तव्य-मार्ग से विचलित न हो।

(६)

अप्पाहारे तितिक्खए।

आ०, ८, १९, उ, ८,

टीका—बुद्धिमान् पुरुष अल्प-आहार करने वाला होवे। जिससे आलस्य आदि दुर्गुण, नही सतावे। तथा स्वाध्याय में एवं अन्य सात्विक प्रवृत्तियो में हानि न हो। इसी प्रकार, जीवन-व्यवहार में, विरोधी परिस्थितियो के उपस्थित होने पर या प्रतिकूल सयोगो के कारण क्रोध का प्रसग उपस्थित होने पर भी क्षमा ही करता रहे। क्षमा-शील और धर्म शील ही रहें। अल्प-आहार का व्रत लेने पर क्षमा आदि गुणो की वृद्धि होती है।

(७)

समता सव्वत्थ सुव्वते।

सू०, २, १३, उ, ३

टिका—सुव्रती यानी इन्द्रियो को और मन को वश मे करने वाला पुरुष प्रत्येक क्षण और प्रत्येक स्थान पर समता रक्खे। हर्ष-शोक से दूर रहे।

(८)

समयं सया चरे ।

सू०, २, ३, उ, २

टीका—सदा समभाव से व्यवहार करना चाहिये । समता, धैर्य, संतोष, कर्मण्यता आदि सद्गुण ही जीवन के व्यक्तित्व का विकास करने वाले हैं ।

*

सात्विक-प्रवृत्ति-सूत्र

(१)

मित्तिं भूएसु कप्पए ।

उ०, ६, २

टीका—प्राणी मात्र पर, ससार के सभी जीवो पर, मैत्री भावना रक्खो । अविरोध-भावना का ही पोपण करो । कल्याण मय भावना की ही कल्पना करो । किसी को भी शत्रु न समझो ।

(२)

इंगियागार संपन्ने से विणीए ।

उ०, १, २

टीका—इगित यानी इशारे और आकार-प्रकार से ही बात को समझ जाने वाला, और उसके अनुसार काम करने वाला "विनीत" कहलाता है ।

(३)

खमेह अवराहं मे,
वइज्ज न पुणु त्ति अ ।

द०, ९, १८, द्वि, उ,

टीका—"मेरा अपराध क्षमा करे, अव दुवारा ऐसा अपराध नहीं करूंगा, ऐसा वोले," यह लक्षण विनय शील और आत्म कल्याण की भावना वाले का है ।

(४)

सुविणी। अप्पा दीसंति सुह मेहंता ।

द०, ९, ६, द्वि, उ,

टीका—सुविनीत आत्माऐं यानी ज्ञान, ध्यान, विनय, भक्ति, सेवा, ईश्वर-आराधना आदि सत्कार्यों में सलग्न आत्माऐं सुख-ऐश्वर्य, यश-कीर्ति, ऋद्धि-सिद्धि, आदि नाना प्रकार की सम्पत्ति प्राप्त करती हुई देखी जाती है।

(५)

नमइ मेहावी।

उ०, १, ४५

टीका—मेधावी-बुद्धिमान् और मुमुक्षु (मोक्ष का इच्छुक) ही नम्र होता है। वही विनय-शील होता है। क्योकि वह जानता है कि विनय ही मोक्ष की सर्व प्रथम सीढी है।

(६)

निरट्ठाणि उवज्जए।

उ०, १, ८

टीका—निरर्थक वातो से, विकथा-निन्दा और वैर-विरोध वाली वातो से दूर रहना चाहिये। इनका परित्याग कर देना चाहिये।

(७)

अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।

सू० १२ १५

टीका—धीर पुरुष और ज्ञानी आत्माऐं अनासक्त तथा सत् कर्मण्य शील होने से अपने पूर्व कर्मों का क्षय कर डालती है, तथा नवीन आश्रव को भी रोक कर मोक्षका मार्ग प्रशस्त कर देती है।

(८)

उववाय कारी य हरीमणे,
य एगंत दिट्ठी य अमाइ रूवे।

सू, १३, ६

टीका—जो पुरुष अपने गुरु जनों की आज्ञा पालन करने वाला है, पाप करने से जो लज्जा रखता है, डरता है, एवं जीव, आत्मा,

ईश्वर, पाप, पुण्य आदि आधार-भूत तत्वों पर पूरी पूरी श्रद्धा रखता है, वह पुरुष सात्विक विचारो वाला है। वह अमायावी है और वही मोक्ष-मार्ग का पथिक है।

(९)

ण यावि पन्ने परिहास कुज्जा।

सू०, १४, १९

टीका—बुद्धिमान् पुरुष किसी की भी हसी नही करे, क्योकि हसी लडाई का घर है। लडाई अनर्थो का मूल है। अतएव हंसी से दूर रहना ही बुद्धिमानी है।

(१०)

भवे अकामे अझंझे।

आ०, ५, १५४, उ, ३

टीका—जीवन में यही आदर्श हो कि काम-भाव, इच्छा-भाव, तृष्णा-भाव, नष्ट हो जायँ। कषाय-भाव, और राग-द्वेष भाव के नष्ट होने पर ही स्व का और पर का कल्याण हो सकता है।

(११)

ण मिज्जई महावीरे।

सू०, १५, ८

टीका—जो पुरुष आत्महित की वृत्तियों में ही लगा रहता है, आत्म-कल्याण की भावना मे ही रमण करता रहता है, वह जन्म-मरण नही करता है, यानी ऐसा पुरुष महावीर है, और वह शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

(१२)

अकुव्वओ णवं णत्थि।

सू०, १५, ७

टीका—जो पुरुष अनासक्त भावसे, वीतराग-भावसे कार्य करता है, वह अकर्त्ता के समान है। उसको नये कर्मों का वधन नही होता

है। इसलिये जीवन-व्यवहार मे अनासक्त भाव से यानी वीतराग भावसे चलना चाहिये।

(१३)

आयरिअं उवच्चिट्ठ इज्जा,
अणंत नाणो वगओ विसंतो।

द०, ९, ११, प्र०,उ०

टीका—शिष्य भले ही महान् ज्ञानी हो, गंभीर विचारक हो, असाधारण अनुभवी हो, एव तल-स्पर्शी चिन्तक हो, तो भी उस शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने गुरू की, अपने आचार्य की महान् सेवा-भक्ति करता रहे, वह विनयी होवे और आज्ञा-पालन करता रहे।

(१४)

अरइं आउट्टे से मेहावी, खणंसि मुक्के।

आ०, २, ७३, उ, २

टीका—जिस मेधावी पुरुष ने, जिस प्रज्ञा-शील पुरुष ने अरति का त्याग कर दिया है, द्वेष का निवारण कर दिया है, वह काल की परिधि से मुक्त है। ऐसा पुरुष शीघ्र ही काल के दायरे से मुक्त हो जायगा, वह अजर-अमर हो जायगा।

(१५)

सुत्ता अमुणी, सया मुणिणो जागरंति।

आ०, ३, १०६, उ, १

टीका—सोना और जागना, द्रव्य एवं भाव रूप से दो तरह का है। हम प्रतिदिन रात में सोते है और दिन में जागते है, यह तो द्रव्य रूप से सोना और जागना है। परन्तु पाप में ही प्रवृत्ति करते रहना भाव सोना है और धार्मिक प्रवृत्ति करते रहना भाव-जागना है। इस प्रकार जो अमुनि है–पापिष्ठ और दुष्ट वृत्ति वाले है, वे तो सदैव सोये हुए ही है और जो मुनि है, सात्विक वृत्ति वाले है, वे सदैव जागते रहते है। यही मुनि और अमुनि में भाव अन्तर है, विशेषता है।

(१६)

आयंक दंसी न करेइ पावं ।

आ०, ३, ७, उ, २

टीका—जो नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गति के जन्म, मरण, पीडा, वेदना, दुःख और भय आदि को, और इनके आतक को देखता है, सम्यक् रूप से इन पर विचार करता है, इन पर श्रद्धा करता है, तो ऐसी आत्मा भी पाप कर्म से दूर ही रहती है । पाप कर्म से वह मलीन नही होती है ।

(१७)

जे एगं नामे से वहुं नामे,
जे वहुं नामे, से एगं नामे ।

आ०, ३, १२४, उ, ४

टीका—जिस आत्मा ने एक कर्म का, मोहनीय कर्म का–क्षय कर दिया है, उसने सभी कर्मो का क्षय कर दिया है । इसी प्रकार जिसने घन घातिया कर्मों का क्षय कर दिया है, उसने मोहनीय कर्म का भी क्षय कर दिया है, ऐसा समझो । मोहनीय कर्म के क्षय होने पर ही शेप कर्मों का क्षय होना अवलंवित है ।

(१८)

भय वेराओ उवरए ।

उ०, ६, ७

टीका—दूसरे को भय-भीत करने से अथवा दूसरे के साथ वैर-विरोध करने से सदैव दूर ही रहना चाहिये । भय, निर्बलता और पाप को वढाने वाला होता है, तथा वैर कषाय-अग्नि को प्रज्वलित करने वाला होता है ।

(१९)

पच्चमाणस्स कम्मेहिं,
नालं दुक्खाओ मोअणे ।

उ०, ६, ६

टीका—कर्मो से पीड़ित जीवको, दु.ख से छुड़ाने मे कोई भी समर्थ नही है, ऐसा सोचकर सयम मे ही-इन्द्रिय-विजय करने में ही, मन पर नियन्त्रण करने में ही, और पर-हित करने मे ही अपना सारा समय व्यतीत करते रहना चाहिये ।

(२०)

कसाय पच्चक्खाणेणं,
वीयराग भावं जणयइ ।

उ०, २९, ३६ वा०, ग०

टीका—कषाय-भावको दूर करने से, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि का त्याग करने से, वीतराग भाव पदा होते है। समता, क्षमा, विनय, सरलता और सतोष आदि सात्विक और उच्च भावों की प्राप्ति होती है ।

(२१)

नायएज्ज तणा मवि ।

उ०, ६, ८

टीका—तृण मात्र को भी विना मालिक की आज्ञा के नहीं लेना चाहिये । क्योकि स्वल्प चोरी की वृत्ति भी धीरे-धीरे बढ़कर महान् चोरी करने की वृत्ति के रूप में परिणित हो जाती है ।

(२२)

इह संति गया दविया,
णावकंखंति जीविउं ।

आ०, १, ५८, उ, ७

टीका—जो आत्माऐ प्रशम, सवेग, निर्वेद, अनुकंपा, आस्तिक्ता, आदि गुणो द्वारा शात प्रकृति वाली हो गई है, जो राग-द्वेष से मुक्त हो गई है, ऐसी आत्माऐं अव आगे ससार में परिभ्रमण नहीं करेंगी। अथवा वे परिभ्रमण नही करती है क्योकि ससार मे विशेष रहने का उनके लिये कोई कारण शेष नही रह जाता है ।

उपदेश-सूत्र

(१)

तमेव सच्चं नीसंकं,
जं जिणेहिं पवेइयं ।

आ०, ५, १६३, उ, ५

टीका—सम्यक् ज्ञानी के लिये तो यही हितकर है कि जिनेन्द्र भगवान ने जो कुछ फरमाया है, उसे ही सच्चा श्रद्धे। उसे ही निश्शंक माने। किसी भी प्रकार की भ्रमणा अपनी मान्यता में और जिन-वचनो में नही लावे।

(२)

समयं गोयम ! मा पमायए ।

उ०, १०, १

टीका—हे गौतम! समय भर का भी, क्षण मात्र का भी प्रमाद मत कर, क्योकि व्यर्थ में खोया हुआ समय पुन· लौट कर आने वाला नही है।

(३)

धीरे मुहुत्त मवि णो पमायए।

आ०, २, ६६, उ०, १

टीका—बुद्धिमान् पुरुष-ज्ञानी पुरुष संसार की अनित्यता का विचार कर और आकस्मिक रूप से आने वाली मृत्यु का विचार कर एक क्षण भर का भी प्रमाद नही करे, एक सेकिंड भी व्यर्थ नहीं खोवे। ईश्वर-श्रद्धा से और कर्त्तव्य-मार्ग से, तथा सेवा आदि सत्कार्यो से एक क्षण के लिये भी दूर नही रहे।

(४)

तिण्णो हु सि अण्णवं महं,
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।

उ०, १०, ३४

टीका—महान् ससार समुद्र तो तर गये, यानी अनन्त जन्म-मरण करके चौरासी लाख जीव-योनी में से पार होकर इस उत्तम मनुष्य-भव को तो प्राप्त कर लिया, अब ससार-समुद्र के किनारे पर आकर प्रमाद में क्यो बैठे हुए हो ? साराश यह है कि प्रमाद में जीवन को मत व्यतीत करो।

(५)

जं सेयं तं समायरे।

द०, ४, ११

टीका—जो श्रेष्ठ हो उसी का आचरण करना चाहिये। पाप अनिष्ट है, और पुण्य इष्ट है। इसलिये पुण्य, अहिंसा, दया, दान आदि का आचरण करे।

(६)

कंखे गुणे जाव सरीर भेउ।

उ०, ४, १३

टीका—जब तक शरीर रहे, यानी मृत्यु नही आवे, तब तक जीवन के अंतिम क्षण तक ज्ञान, क्षमा, दया, सतोष, सरलता, विनय आदि गुणो की आराधना और आकांक्षा करता रहे।

(७)

जयं चिट्ठे मिअं भासे।

द०, ८, १९

टीका—जीवन व्यवहार यत्ना पूर्वक और विवेक वाला बनावे। आवश्यक, परिमित और प्रिय वाणी बोले, आचार और वाणी का व्यवहार आदर्श हो।

(८)

सव्वं जगं तू समयाणु पेही ।

सू०, १०, ७

टीका—सम्पूर्ण संसार को सम-भाव से देखो । पूजा अथवा निदा के प्रति और सन्मान अथवा निरस्कार के प्रति भी समभावी वने रहो । सयोग-वियोग मे हर्ष-शोक से दूर रहो । इष्ट और अनिष्ट वस्तु के प्रति रति-अरति भाव से विलग रहना ही मानवता है ।

(९)

हम्मभाणो ण कुप्पेज्ज,
वुच्चमाणो न संजले ।

सू०, ९, ३१

टीका—कर्त्तव्य निष्ठ पुरुष को यदि कोई लाठी आदि से मारने भी लग जाय, तो भी वह परमार्थी पुरुष क्रोध नही करे, और न उस मारने वाले पर प्रतिकार रूप अनिष्ट विचार ही पैदा करे । इसी प्रकार किसी के गाली आदि देने पर भी परमार्थी पुरुष न जले । उस पर द्वेष भाव नही लावे । सारांश यह है कि जीवन मे वीतराग-भाव की वृद्धि करता रहे ।

(१०)

आदिन्नमन्नेसु य णो गहेज्जा ।

सू० १०, २

टीका—विना दी हुई किसी की भी कोई वस्तु नही लेना चाहिये यानी चोरी से-चाहे वस्तु छोटी हो या वडी, कैसी भी हो तो भी उसे नही लेना चाहिये ।

(११)

चरियाए अप्पमत्तो,
पुट्ठो तत्थ अहियासए ।

सू०, ९, ३०

टीका—महत्वाकाक्षी पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह जीवन-व्यवहार मे आलस्य नही करे। प्रमाद की सेवना नही करे। प्रतिज्ञा-पालन करते समय और लक्ष्य की पूर्तिके समय आने वाले उपसर्गों और परिषहों को तथा कठिनाइयो को धैर्यता पूर्वक सहन करे और कृत-सकल्प से विचलित न हो।

(१२)

पिय मप्पियं कस्सइ णो करेज्जा।

सू०, १०, ७

टीका—किसी का भी रागवशात् प्रिय न करे और द्वेष वशात् अप्रिय भी न करे। प्रेम-भाव और वन्धुत्व भावना तो अवश्य रक्खे, परन्तु रागद्वेष जनित प्रियता और अप्रियता से दूर रहे।

(१३)

लेसं समाहट्टु परिवएज्जा।

सू०, १०, १५

टीका—योग और कषाय की मिश्रित भावना को लेश्या कहते है। ऐसी लेश्या से आत्मा को दूर कर सयम की परिपालना करे। मन और इन्द्रियो को समाधि युक्त बनावे।

(१४)

मेहावि समिक्ख धम्मं,
दूरेण पावं परिवज्जएज्जा।

सू०, १०, २०

टीका—बुद्धिमान् पुरुष और हितार्थी पुरुष, धर्म की मीमासा कर-समीक्षा कर, हित-अहित की पहिचान कर, विवेक-अविवेक का ध्यान कर पाप-कार्य को छोड़ दे। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, आसक्ति, परिग्रह, आदिको दूर कर दे। इनका परित्याग कर दे।

(१५)

पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा।

सू०, १०, २१

टीका—पाप से, कषाय-विकार से, भोगों से, दुष्वृत्तियो की वासना से, कल्याण-इच्छुक पुरुष अपने आप को दूर ही रक्ख। अनिष्ट वृत्तियो से परहेज़ ही करता रहे।

(१६)

धितिम विमुक्केण य पूयणट्ठी,
न सिलोयगामी य परिव्वएज्जा।

सू०, १०, २३

टीका—जो आत्महितैषी है, जो सयमी है, वह धैर्य शील रहे। आपत्तियो मे स्व-कर्त्तव्य और सयम से पतित न हो। वह आरभ-परिग्रह से विमुक्त रहे। मूर्च्छा और मूढ-भाव से दूर रहे। मान-सन्मान और पूजा-प्रतिष्ठा की भावना नही रखे। यशः-कीर्ति की कामना नही करे। शुद्ध कर्त्तव्य मार्ग पर निरन्तर चलता रहे। इधर उधर विचलित न हो।

(१७)

असाहु धम्माणि ण सवएज्जा।

सू०, १४, २०

टीका—जो वाते अनुपयोगी है, जो पीडा कारक है, जो अनिष्टकर है, या जो मर्मघातक है ऐसी असत् वाते कभी भी नही कहना चाहिये। न उनका प्रचार ही करना चाहिये। वाणी पर समतोलता सयम आवश्यक है।

(१८)

एयाइं मयाइं विगिंच धीरा।

सू०, १३, १६

टीका—धीर पुरुष, स्व-पर-सेवा व्रती पुरुष, उन कारणो को और उन स्थानो को त्याग दे, जो कि अभिमान को पैदा करने वाले हों अथवा अभिमान को उत्तेजना देने वाले हो। अभिमान त्यागने पर ही विनय की प्राप्ति होती है और विनय ही धर्म का मूल है।

(१९)

विप्पमायं न कुज्जा।

सू०, १४, १

टीका—प्रमाद रूप पाप का कभी भी सेवन नहीं करना चाहिये, क्योकि प्रमाद एक आतरिक भयंकर शत्रु है, जो कि जीवन शक्ति को नष्ट करता रहता है और आत्मा को पाप में डूबाता रहता है।

(२०)

जं मयं सव्व साहूणं,
तं मयं सल्लगत्तणं।

सू०, १५, २४

टीका—जो सभी संत-महापुरुषों को मान्य है, जो सभी ऋषियों को आचरणीय है, उन्ही बातो को पाप को काटने वाली माननी चाहिये। महापुरुषो ने दया, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति और निष्परिग्रह को ही धर्म माना है, और इन्ही का पालन करना ही मोक्ष का मार्ग कहा है इसलिये हमे भी इन्ही को पाप को काटने वाले समझना चाहिये, तथा जीवन मे भी इन्ही को स्थान देना चाहिये।

(२१)

जं किच्चा णिव्वुडा एगे,
निट्ठं पावंति पंडिया।

सू०, १५, २१

टीका—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र का पालन करके अनेक महापुरुष निर्वाण को प्राप्त करते है, ससार का अन्त करते है, हमें भी उन्ही का अनुकरण करना चाहिये।

(२२)

काले कालं समायरे।

द०, ५, ४, उ, द्वि

टीका—काल के अनुसार समय को देखकर यथा-समय यथा-कार्य करे। प्रत्येक को अपना कार्य-क्रम व्यवस्थित विभाजित करते हुए समय पर उसे करना चाहियें। प्रमाद मे समय नही खोना चाहिये।

(२३)

जरा जाव न पीडेइ,
ताव धम्मं समायरे।

द०, ८, ३३

टीका—जब तक वृद्धावस्था दु.ख नही दे, वृद्धावस्था की प्राप्ति नही हो, उसके पहले ही धर्म का आचरण कर ले, नही तो पीछे पछताना पड़ेगा।

(२४)

जाव इंदिआ न हायंति
ताव-धम्मं समायरे।

द०, ८, ३६

टीका—जब तक इन्द्रियाँ शक्ति हीन न हों, वहाँ तक यानी इसके पहले ही धर्म का आचारण कर ले। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और सेवा का आचरण कर ले। अन्यथा पूर्व पुण्यो को यहाँ पर क्षय कर और नये पापो का बोझा सग्रह कर जाना पड़ेगा।

(२५)

असंखय जीविय मा पमायए।

उ०, ४, १

टीका—यह जीवन सस्कार-रहित है, यानी दुर्गुणों और विकारों की खान है। अनन्त कालीन वासनाऐ इस आत्मा मे सन्निहित है; इसलिये प्रमाद मत करो सदैव सत्कार्यों और सयम मे लगे रहो।

(२६)

पिहिया सवस्स दंतस्स,
पाव कम्मं न बंधइ।

द०, ४, ९

टीका—जिसने आस्रव कर्म के आने के द्वार बध कर दिये है, और जो इन्द्रियो और मन को वश में रखने वाला है, वह पाप कर्म का बन्धन नही करता है।

(२७)

संकट्ठाणं विवज्जए।

द०, ५, १५ उ, प्र०

टीका—जहाँ किसी प्रकार की आपत्ति अथवा पाप की आशंका हो, तो ऐसे शका-ग्रस्त स्थान से दूर ही रहना चाहिए। वहाँ से हट जाना चाहिये।

(२८)

असंसत्त पलोइज्जा।

द०, ५, २३, उ, प्र,

टीका—अनासक्त होकर देखना चाहिये, यानी जीवन मे भोग-परिभोग वाले पदार्थों के प्रति मोह, आसक्ति और लोलुपता नहीं रखनी चाहिये।

(२९)

मिहो कहाहिं न रमे।

द०, ८, ४२

टीका—एकान्त में, व्यर्थ वातो में समय नष्ट नही करना चाहिए, क्योकि व्यर्थ की बातें निन्दा रूप और पाप जनक ही होती है।

(३०)

निद्दं च न बहु मन्निज्जा ।

द०, ८, ४२

टीका—बहुत निद्रा नही लेना चाहिये, क्योकि यह प्रमाद है। प्रमाद का सेवन करने से वह रोग बढता ही है, घटता नही है ।

(३१)

दुल्लहे खलु माणुसे भवे ।

उ०, १०, ४

टीका—यह मानव-शरीर अति दुर्लभ है। महान् पुण्यो के संयोग से इसकी प्राप्ति हुई है । इसलिये इसे भोगो में न व्यतीत कर सत्कार्यों में ही लगा रखो ।

(३२)

जीवो पमायं बहुलो ।

उ०, १०, १५

टीका—प्रकृति से ही जीव अत्यन्त प्रमादी होता है। आलस्य का सम्बन्ध जीव के साथ अनादि काल से है। इसलिये सावधान होकर सदैव सत्-प्रवृत्तियो में ही लगे रहना चाहिये। आलस्य से बचना चाहिये ।

(३३)

मग्गं कुसीलाण जहाय सव्व ।
महा नियंठाण वए पहेणं ।

उ०, २०, ५१

टीका—कुशीलियो के, मिथ्यात्वियों के, और विषय विकारों के मार्ग को सर्वथा छोडकर महानिर्ग्रंथों द्वारा और भगवान् महावीर स्वामी द्वारा-प्रदर्शित मार्ग पर जो अनासक्त अविकार मय और अमूर्च्छामय है, उस मार्ग पर चलो । यही एक कल्याण कारी मार्ग है।

(३४)

विद्धंसण धम्म मेव तं इति,
विज्जं कोगार मावसे।

सू०, २, १०, उ, २

टीका—ससार का सुख और ससार के पदार्थ नाशवान् हैं, ये अस्थायी हैं, ये अनित्य है ये छोड़कर चले जाने वाले हैं। तो फिर कौन ऐसा विद्वान् पुरुष होगा जो कि इन सासारिक-सुखो और सासारिक पुद्‌गलो में फसेगा ? यानी बुद्धिमान् तो इनमें आसक्त और मूर्च्छित नही होगा।

(३५)

जं हंतव्वं तं नाभिपत्थए।

आ०, ५, १६५, उ, ५

टीका—जो पाप रूप है, जो घात-रूप है, जो त्याज्य रूप है, उस विषय की ज्ञानी इच्छा नही करे। उसको तो दूर से ही छोड़ दे।

(३६)

पाव कम्मं नेव कुज्जा न कारवेज्जा।

आ०, २, ९७, उ, ६

टीका—पाप-कर्म, अनिष्ट कर्म, निदनीय कर्म न तो खुद को करना चाहिये और न दूसरो से करवाना चाहिये। क्योकि खराब काम इस-लोक मे और पर लोक में सर्वत्र और सर्वदा हानि पहुँचाने वाले ही होते हैं।

(३७)

जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।

उ०, ४, १

टीका—जबतक शरीर स्वस्थ है, तबतक धर्म का, पर-सेवा का, सयम का तथा इन्द्रिय-दमन का, आराधन कर लो। अन्यथा बुढ़ापे

के समीप आने पर एवं कर्मों का उदय होने पर कोई भी रक्षक नहीं बनेगा।

(३८)

नाणी नो पमाए कयाइ वि।

आ०, ३, ११७, उ, ३

टीका—ज्ञानी अपनी आत्मा को कभी भी और किसी भी दशा में प्रमाद-ग्रस्त नहीं करे। प्रमाद एक महान् शत्रु है। अतएव सदैव इसका ध्यान रखे।

(३९)

न सिया तोत्त गवेसए।

उ०, १, ४०

टीका—परम छिद्रान्वेषी-पर दोष दर्शक न बनो। पर दोष-दर्शन से आत्म-पतन और वैर-विरोध बढता है।

(४०)

नो निहणिज्ज वीरियं।

आ०, ५, १५२, उ, ३

टीका—तपस्या आदि निर्जरा के कामों में कपट का सेवन नहीं करना चाहिये। जीवन का प्रत्येक कार्य स्पष्ट और जल-कमलवत् निर्मल और निर्लेप होना चाहिये। जिससे अन्य संसारी जीव भी तत्त्वदर्शी पुरुष के जीवन से शिक्षा और आदर्श ग्रहण कर सके।

(४१)

भूएहिं न विरुज्झेज्जा।

सू०, १५, ४

टीका—प्राणियो के साथ वैर-भाव नहीं रखना चाहिये। वैर-भाव जीवन मे कटुता, अमैत्री, क्लेश और पापो की परम्परा लाने वाला है। वैर-भाव से जीवन में कभी भी शांति मिलने वाली नहीं है।

(४२)

मियं कालेण भक्खए ।

उ०, १, ३२

टीका—भोजन करने का समय होने पर, परिमित, पथ्य, अविकारी और आवश्यक भोजन करो ।

(४३)

रक्खिज्ज कोहं विणएज्ज माणं ।

उ०, ४, १२

टीका—क्रोध से दूर रहो और मान को हटाओ । क्रोध विवेक को नष्ट करता है और मान आत्मा के गुणो का नाश करता है ।

(४४)

मायं न सेवेज्ज पहेज्ज लोहं ।

उ०, ४, १२

टीका—माया की, कपट की सेवना न करो और लोभ को छोड़ो। माया दुर्गुणों की खान है और लोभ पाप का बाप है ।

(४५)

खणं जाणाहि पंडिए ।

आ०, २, ७१, उ, १

टीका—हे पडित ! हे आत्मज्ञ ! क्षण-क्षण का विचार करो । द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव से प्रत्येक पदार्थ को समझो, उस पर मनन-चिंतन करो । उस तत्व का अनुसधान करो, जिसके बल पर यह ससार चक्र चल रहा है ।

(४६)

आसं च छंदं च विगिंच धीरे ।

आ० २, ८५, उ, ४

टीका—हे धीर ! हे बुद्धिमान् ! भोगो की आकांक्षा को और भोगोकी प्रवृत्ति को छोड़ दो । भोगो से आज दिन तक न तो किसी को

तृप्ति हुईहै और न होने की है। भोग तो अग्नि के समान अनन्त तृष्णा मय है और कभी भी शांत होने वाले नही है।

(४७)

पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं,
किं बहिया मित्त मिच्छसि।

आ०, ३, ११८, उ, ३

टीका—हे पुरुषो! तुम ही तुम्हारे मित्र हो, बाह्य- मित्र की वाछा क्यो करते हो! यह तुम्हारी आत्मा ही खुद की मित्र भी है और शत्रु भी है। जव यह आत्मा अच्छे कार्य करती है, तो उससे शुभ कर्मो का बधन पडता है, जो कि सुखावह है। और जव बुरे कार्य करती है तो अशुभ कर्मों का बध पड़ता है जो कि दु:खावह है। अतएव अपनी आत्मा के बराबर दूसरा कोई भी मित्र अथवा शत्रु नही है। तदनुसार बाह्य सहायक का अनुसधान क्यो करते हो? अपनी आत्मा का ही विचार करो।

(४८)

पुरिसा! अत्ताणमेवं अभिणि गिज्झ,
एवं दुक्खा पमुच्चसि।

आ०, ३, ११९, उ, ३

टीका—हे पुरुषो! अपनी आत्मा को ही विषय-कषाय से हटा कर, धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान मे स्थित कर जीवन-व्यवहार चलाओ। इसी से तुम्हारे दु:खो का नाश होगा। बिना आत्मा पर नियत्रण किये दु:खो का कदापि नाश नही होगा।

(४९)

वंतं इच्छसि आवेउं,
सेयं ते मरणं भवे।

उ०, २२, ४३

टीका—हे आत्मा! यदि तू जीवित रह कर त्यागे हुए भोगों की पुन. इच्छा करता है, इसकी अपेक्षा तो तुम्हारा मरना ही अधिक हितकर है—अधिक श्रेयस्कर है।

(५०)

एगप्पा अजिए सत्तू,
कसाया इन्दियाणिय।

उ०, २३, ३८

टीका—वशमें नही किया हुआ स्वछद आत्मा शत्रु रूप ही है। इसी प्रकार कषाय और नो कषाय तथा स्वच्छद इन्द्रियाँ भी अथवा अनियत्रित इन्द्रियाँ और विकार ग्रस्त मन भी शत्रु ही है।

(५१)

सव्वे आभरणा भारा,
सव्वे कामा दुहावहा।

उ०, १३, १६

टीका—सव प्रकार के आभूपण भार रूप है, और सब प्रकार के काम-भोग दु ख के देने वाले है। इन से सच्ची शाति या आत्मिक आनन्द मिलना अत्यन्त कठिन है।

(५२)

खणा मित्त सुक्खा वहु काल दुक्खा
पगाम दुक्खा अणिगाम सुक्खा।

उ०, १४, १३

टीका—सांसारिक भोग, ऐन्द्रिक भोग क्षण मात्र तक ही सुख के देने वाले है, जव कि इनके परिणाम अनन्त काल तक दुःख के देने वाले है। इनका सुख तो अल्प है, और दु ख अनन्त एवं विस्तृत है।

(५३)

वरणा जरा हरइ नरस्स ।

उ०, १३, २६

टीका—वुढापा मनुष्य के रूप-सौन्दर्य को हरता रहता है, इसलिये प्रमाद को छोड कर धर्म कार्यों मे और स्व-पर कल्याण कारी कामो मे चित्त को लगाना चाहिये। स्वार्थ के स्थान पर परार्थ ही प्रमुख ध्येय होना चाहिये ।

(५४)

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा ।

उ०, १, ९

टीका—सुशिक्षा यानी हितकारी और शिक्षाप्रद वातो का उपदेश दिये जाने पर क्रोध नही करना चाहिये ।

(५५)

वीरे आगमरा सया परक्कमेज्जा ।

आ०, ५, १६९, उ, ६

टीका—जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र के परिपालन मे वीर है, उसकी वीरता इसी मे रही हुई है कि वह आगम-धर्म के अनुसार जीवन मे सदैव पराक्रम करता रहे। जीवन के नैतिक-धरातल को अजोड वनावे। सेवा और सयम के कामो में आसाधारण पुरुष वने ।

(५६)

निद्देसं नाइवट्टेज्जा मेहावी ।

आ०, ५, १६९, उ, ६

टीका—जो वुद्धिमान् है, जो तत्त्व दर्शी है, उसका कर्त्तव्य है कि वह भगवान महावीर स्वामी द्वारा एव वीतराग भगवान द्वारा-

कथित उपदेश का अति-क्रमण नही करे। भगवान् की आज्ञा का बराबर पालन करे।

(५७)

पर किरिअं च वज्जए नाणी।

सू०, ४, २१, उ, २

टीका—विशुद्ध चित्त वाला, तथा मर्यादा मे स्थित ज्ञानी पुरुष पर-क्रियाओ को यानी दूसरो के लिये भोग-उपभोग की क्रियाओ को जुटाने का कार्य नही करे, स्वय भी विषयासक्त एव भोगी नही बने तथा दूसरो के लिये भी विषय एव भोग की सामग्री न तो इकट्ठी करे और न स्वय इनके लिये कारण-भूत बने।

(५८)

सगो जह वट्टयं हरे,
एव आउखयंमि तुट्टई।

सू०, २, १, उ, १

टीका—जैसे श्येन-पक्षी, बाज-पक्षी वर्तक पक्षी को-तीतर आदि पक्षी को झपट कर, पकड कर, मार डालता है, वैसे ही मृत्यु भी आयुष्यपूर्ण होते ही प्राणी को पकड लेती है और जीवन को समाप्त कर देती है, इसलिये धर्म क्रियाओ के लिये सावधान हो जाना चाहिये।

(५९)

इमं चे म अत्थि इमं च नत्थि,
हराहरंति त्ति कहं पमाओ।

उ०, १४, १५,

टीका—यह मेरा है और यह मेरा नही है, इस प्रकार मूर्च्छा-भावना मे पड़े हुए मनुष्य को एक दिन अचानक रूप से मृत्यु रूपी

चोर उठाकर चले जाते है। तो ऐसे सयोगो में प्रमाद को जीवन में कैसे स्थान देना चाहिये ?

(६०)

परिव्वयन्ते अणियत्तकामे,
अहो य राओ परितप्पमाणे।

उ०, १४, १४,

टीका—जो काम-भोगो को नही छोडता है, वह रात और दिन विभिन्न अवस्थाओं में परिताप-दु ख पाता हुआ परिभ्रमण करता रहता है।

(६१)

अज्जाइं कम्माइं करेहि।

उ०, १३, ३२

टीका—आर्य कर्मों का, सात्विक कामो का यानी दया, दान, शील, तप, भावना, क्षमा, सतोप, पर-सेवा आदि अच्छे कामो का ही आचरण करो।

(६२)

रसगिद्धे न सिया।

उ०, ८, ११

टीका—रसो में गृद्ध न वनो। इन्द्रियों के भोग-उपभोग के स्वाद मे मूर्च्छित न वनो। पुद्गलो के क्षणिक सुख में मूढ न बनो।

(६३)

जीवियए बहुपच्चवायए,
विहुणाहि रयं पुरे कडं।

उ०, १०, ३

टीका—यह जीवन अनेक विघ्न-वाधाओ से भरा हुआ है, इसलिये पहले किये हुए पापो को, और कर्म रूपी रज को दूर कर दो। पूर्व कृत पापो की शुद्धि कर डालो।

(६४)

बुद्धे परिनिव्वुडे चरे,
सन्ती मग्गं च वूहए।

उ०, १०, ३६

टीका—ज्ञान-शाली होकर, गीतार्थ होकर, वासनाओ से और मूर्च्छा से रहित होकर आनन्द पूर्वक विचरो। आत्मा के कल्याण-मार्ग की वृद्धि करो।

(६५)

जे न वंदे न से कुप्पे,
वंदिओ न समुक्कसे।

द०, ५, ३२, उ, द्वि

टीका—कोई वदना नही करे, आदर-सत्कार नही दे, तो भी उस पर क्रोध नही करे, तथा कोई वदना, आदर सत्कार करे, तो मन में अभिमान-घमड नही लावे। खुद की निंदा-स्तुति से सम-भाव रहे। क्रोध और अभिमान से दूर रहे।

(६६)

कुम्मुव्व अल्लीण पलीण गुत्तो।

द०, ८, ४१

टीका—जैसे कछुआ वड़ी सावधानी के साथ अपनी इन्द्रियो की रक्षा करता है, वैसे ही आत्मा के हित को चाहने वाले को अपनी इन्द्रियो पर और मन पर पूरा संयम और नियंत्रण रखना चाहिये।

(६७)

हसंतो नाभिगच्छेज्जा ।

द०, ५, १४, उ, प्र

टीका—हसते हुए भी नही चलना चाहिये, क्योकि यह असभ्यता का चिह्न माना जाता है।

(६८)

दव दवस्स न गच्छेज्जा ।

द०, ५, १४, उ, प्र

टीका—जल्दी जल्दी अविवेक-पूर्वक नही चलना चाहिये। क्योकि इससे हिंसा अथवा ठोकर लगने का भय रहता है।

(६९)

अकप्पियं न गिण्हिज्जा ।

द०, ५, २७, उ, प्र

टीका—अकल्पनीय और मर्यादा के प्रतिकूल वस्तुओ को नही ग्रहण करना चाहिये। मर्यादा-भग ही पाप है। इससे आसक्ति आदि नाना विकारो के उत्पन्न हो जाने की सभावना रहती है।

(७०)

कुज्जा साहूहिं संथवं ।

द०, ८, ५३

टीका—साधुओ के साथ, सज्जन और पर-उपकारी महा पुरुषो के साथ, सेवा-भावी नर-रत्नो के साथ परिचय करना चाहिये, उनकी संगति करना चाहिये।

(७१)

अणावाह सुहाभिकंखी

गुरुप्पसायाभिमुहो रमिज्जा ।

द०, ९, १० प्र, उ,

टीका—यदि अव्यावाध यानी नित्य, शाश्वत् और बाधा रहित सुख की आकांक्षा है, अथवा मोक्ष की इच्छा है तो गुरु को प्रसन्न रक्खो, उनकी आज्ञा का पालन करो। गुरु की भावना के विपरीत मत जाओ।

(७२)

दुल्लहं लहित्तु सामण्णं,
कम्मुणा न विराहिज्जासि।

द०, ४, २९

टीका—जो मुनी-धर्म महान् पुण्य के उदय से प्राप्त हुआ है, और जो ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र मय है, ऐसे उत्कृष्ट मुनि-धर्म को प्राप्त करके मन, वचन और काया के प्रमाद से बुद्धिमान् इसकी विराधना नही करे।

(७३)

अभिसंधए पावविवेग भिक्खू।

सू०; १४; २४,

टीका—सयमी पुरुष पाप का विवेक रखता हुआ, दुर्गुण और दुष्टता से वचता हुआ, निर्दोष वचन बोले। वाणी सुन्दर, सत्य, प्रिय, हितकारी, मधुर और शांतिमय बोले।

(७४)

सव्वत्थ विरतिं कुज्जा।

सू०, ११, ११,

टीका—प्रत्येक स्थान पर, प्रत्येक अवस्था मे, प्रत्येक मौके पर, सभी जीवो की रक्षा करनी चाहिये। अनिष्ट कार्यों से विरति रखना चाहिये। अशुभ प्रवृत्तियो से विरक्त रहना चाहिये।

(७५)

निव्वाणं संधए मुणि।

सू०, ९, ३६

टीका—आत्मार्थी पुरुष काम-भोगों को छोड कर केवल निर्वाण की तरफ-पूर्ण अनासक्त जीवन की तरफ ही अपनी शक्ति लगावे, अपना ध्यान लगावे।

(७६)

समया सव्व भूएसु,
सत्तु मित्तेसु वा जगे।

उ०, १९, २६

टीका—ससार मे शत्रु पर और मित्र पर, सभी प्राणियो पर समता बुद्धि रखनी चाहिये। राग द्वेष रहित भावना रखनी चाहिये, मित्र-भावना और हितैषी-भावना रखनी चाहिये।

(७७)

अहिपालए आय तुले पाणेहिं

सू०, २, १२, उ, ३

टीका—विवेकी पुरुष, प्राणी मात्र को अपनी आत्मा के समान ही समझे। किसी को भी कष्ट न दें। प्राणी मात्र की सेवा करे।

(७८)

अणुसासण मेव पक्कमे।

सू०, २, ११, उ, १

टीका—शास्त्र में कही हुई रीति के अनुसार ही जीवन-व्यवहार चलाना चाहिये। जीवन मे सेवा, सात्विकता, त्याग और सरलता आदि सद्गुणो की ही प्रधानता होनी चाहिये।

(७९)

छिन्न सोए अममे अकिंचणे।

उ०, २१, २१,

टीका—आत्मार्थी को छिन्न शोक, विगत शोक, ममता-मूर्च्छा रहित, अकिंचन यानी अनासक्त और निष्परिग्रही होना चाहिये।

(८०)

सुयस्स आराहणयाए अन्नाणं
खवेइ, न य संकिलिस्सइ ।

उ० २९, २४, वा ग

टीका—सूत्र-सिद्धान्त की आराधना से, भगवान जिनेन्द्र देव की वाणी की परिपालना करने से अज्ञान दूर होता है, और उससे आत्मा किसी भी स्थान पर सक्लेश यानी दुख नही पाता है। हर स्थान पर आनद ही आनद की प्राप्ति होती है।

(८१)

रयाइं खेवेज्ज पुराकडाइं ।

उ०, २१, १८

टीका—पूर्व कृत पापो को निरन्तर क्षय करते रहना चाहिये। हमारी प्रवृत्तियाँ निरन्तर सात्विक और सेवामय ही होना चाहिये।

(८२)

अप्पाण रक्खी चरे अप्पमत्तो ।

उ०, ४, १०

टीका—आत्मा की जन्म-मरण से, ससार से रक्षा करने वाला मोक्षाभिलाषी तथा आत्मार्थी, अप्रमादी होकर इन्द्रियो और मन को अशुभ-योग से एव कपाय से हटाकर, अपनी वृत्तियो को शुभ-योग और श्रेष्ठ-ध्यान में लगाता हुआ अपना काल-क्षेप करे-समय इस प्रकार वितावे।

(८३)

निरासवे संखवियाण कम्मं,
उवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवं ।

उ०, २०, ५२

टीका—सब प्रकार के आश्रव-कार्यो को दूर कर, कर्मो का पूर्ण रीति से क्षय कर, विस्तीर्ण तथा सर्वोत्तम, और ध्रुव स्थान "मोक्ष" को प्राप्त किया जा सकता है।

(८४)

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते।

उ०, ४, ५

टीका—प्रमादी पुरुष को इस लोक और परलोक मे पाप कर्म जनित दुष्फल से धन भी नही वचा सकता है, धन भी उसकी रक्षा नही कर सकता है, इसलिये प्रमाद छोड़कर धर्म-ध्यान मे अपना समय बिताना चाहिये।

(८५)

सोयं परिण्णाय चरिज्ज दंते।

आ० ३, ८, उ, २

टीका—विषयो में आसक्ति ही संसार का झरना है। ऐसे झरने के स्वरूप को समझ कर और उसे त्याग कर इन्द्रियो और मन का दमन करने वाला सयमी एव वीर पुरुष सयम-मार्ग पर और कर्त्तव्य मार्ग पर ही चलता रहे। कठिनाइयो, उपसर्गों, परिषहो, विकारो और वासनाओ से घबरावे नही, चल-विचल होवे नही, बल्कि इन पर विजय प्राप्त करता हुवा इष्ट ध्येय की प्राप्ति के लिये दृढता पूर्वक आगे बढ़ता रहे।

(८६)

पासे समिय दंसणे,
छिन्दे गेहिं सिणेहं च।

उ०, ६, ४

टीका—सम्यक् दर्शनी, आत्मार्थी, ससार की विषमताओं और विचित्रताओ को देखे, इन पर विचार करे, और मूर्च्छा तथा मोह को हटावे, आसक्ति को दूर करे।

(८७)

नो अत्ताणं आसाइज्जा,
नो परं आसाइज्जा।

आ०, ६, १९२, उ, ४

टीका—विचार-शील पुरुष न तो अपनी आत्मा को चिन्ता, शोक, व्याधि, उपाधि, अव्यवस्था, चचलता और चपलता आदि दुर्गुणो में डाले और न दूसरो की आत्मा को ही इन उपाधियों में डाले। सारांश यह है कि विद्वान् पुरुष न तो स्व को दु:खी करे और न पर को ही दु:खी करे। सभी को शाति पहुचावे।

(८८)

सातागार वणिहुए,
उवसंते णिहे चरे।

सू०, ८, १८

टीका—ज्ञानी आत्मा, मुमुक्षु आत्मा, सुख-भोग की तृष्णा नहीं करता हुआ, एवं क्रोध आदि को छोड़-कर शान्त होता हुआ माया रहित होकर विचरे।

(८९)

पावाई मेधावी अज्झप्पेण समाहरे।

सू०, ८, १६

टीका—बुद्धिमान् पुरुष अपने पापो को धर्म ध्यान की भावना द्वारा और शुभ कार्यों द्वारा अलग हटावे। मार्यादा में रहने वाला, भले और बुरे का विचार करने वाला पुरुष पाप रूप अनुष्ठानों को धर्म-ध्यान की भावना द्वारा दूर कर दे।

(९०)

एगत दिट्ठो अपरिग्गहे उ,
बुज्झिज्ज लोयस्स वसं न गच्छे।

सू०, ५, २४, उ, २

टीका—ज्ञानी पुरुष जीवादि तत्त्वो मे सम्यक् श्रद्धा रखता हुआ परिग्रह रहित होकर कषायो का स्वरूप जाने और कभी कषायों के वश मे न होवे।

ज्ञान के साथ अनासक्ति आवश्यक है और अनासक्ति का आधार अकषायत्व है।

(९१)

अन्तो बहिं विऊस्सिज्ज
अज्झत्थं सुद्ध मेसए।

आ० ८, २१, उ, ८

टीका—आँतरिक रूप से शुद्ध होकर यानी क्रोध, मान, माया, लोभ, मद, मोह, मत्सरता आदि आतरिक दुर्गुणो से दूर होकर, इनसे शुद्धि प्राप्त कर, इसी प्रकार बाह्य रूप से परिग्रह आदि भोग-उपभोग के पदार्थो से रहित होकर, सर्वथा अकिंचन और निष्परिग्रह शील बन कर —आतरिक और बाह्य रीती से पवित्र होकर आत्मा की शुद्धि की कामना करे। आत्मा को परमात्मा के रूप में विकसित करे।, आत्मा के गुणो का अनुसंधान करे। आत्म-शक्तियो के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करे।

(९२)

छिंदिज्ज सोयं लहु भूय गामी।

आ०, ३, ७, उ, २

टीका—संसार में जीवन-प्रवाह को चालू करने वाले शोक-संताप को तथा राग-द्वेष भाव को वह आत्मा छोड़ दे, जो कि मोक्ष में शीघ्र जाने की इच्छा रखता हो। शोक-सताप, आर्त्त ध्यान, छोडने में ही आत्मा का वास्तविक कल्याण रहा हुआ है।

(१३)

दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छिज्जा ।

आ०, ४, १२८, उ, १

टीका—राग-द्वेष की दृष्टि से, रति-अरति की दृष्टि से, आस-क्ति और तृष्णा की दृष्टि से विरक्त हो जाओ । आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाली भावनाओ से निर्वेद-अवस्था ही सम्यक्त्व की भूमिका है, यही त्याग-भावना का मूल आधार है ।

(१४)

अच्चेही अणुसास अप्पं ।

सू०, २, ७, उ, ३

टीका—विषय-सेवन से अपनी आत्मा को पृथक् करो और उसे शिक्षा दो । धर्म-मार्ग की ओर प्रेरित करो । सयम में ही शान्ति है, और असयम में दुःख ही दुःख है, इस पर अपना दृढ विश्वास जमाओ ।

★

श्रमण-भिक्षु-सूत्र

(१)

महुगार समा वुद्धा ।

द०, १, ५

टीका—आत्मार्थी और ज्ञानी महात्मा इस प्रकार जीवन-वृत्ति रखते है, जैसे कि मधुकर-भवरा रखता है । मधुकर अनेकानेक पुष्पो पर जाकर मधु-सचय करता है, परन्तु एक भी पुष्प को पीड़ित नही करता है । यही वृत्ति ज्ञानी-साधुओं की भी समझनी चाहिये ।

(२)

सम सुह दुक्ख सहे अ जे स भिक्खू ।

द०, १०, ११

टीका—सुख-दु ख दोनो अवस्थाओ में जो समभाव रखता है, राग द्वेप से और हर्ष-शोक से परे रहता है, वही सच्चा साधु है, वही स्व -पर-तारक महापुरुप है ।

(३)

रोइअ नाय पुत्त वयणे,
पंचासव संवरे जे स भिक्खू ।

द०, १०, ५

टीका—ज्ञातपुत्र भगवान महावीर स्वामी के वचनो पर विश्वास लाकर, रुचि लाकर, पांच आश्रवोंको-१ मिथ्यात्व, २ अव्रत, ३ प्रमाद, ४ कपाय और ५ अशुभ योगो को जो रोकता है और निरन्तर सुमार्ग में ही लगा रहता है, वही भिक्षु है-वही महापुरुप है ।

(४)

वंतं नो पडिआयइ जे स भिक्खू ।

उ०, १०, १

टीका—त्याग किये हुए विषयो को, कषायो को, इन्द्रियों के भोगो को जो पुरुष पुनः नही ग्रहण करता है, वही दृढ़चित्त वाला है। वही वास्तव मे भिक्खू या भिक्षु है। वही सच्चा साधु है। वही महा-पुरुष है।

(५)

जे कम्हि वि न मुच्छिए स भिक्खू ।

उ०, १५, २

टीका—जो पुरुष किसी भी प्रकार की वस्तु में अथवा भोग मे, यश-कामना में या पद लोलुपता मे मूर्च्छित नही होता है, आसक्त नहीं होता है, वही भिक्षु है, वही आत्मार्थी है और संसार में रहता हुआ भी वही जीवन-मुक्त पुरुष है।

(६)

मण वय कायसु संवुडे स भिक्खू ।

उ०, १५, १२

टीका—जिसने अपने मन, वचन और काया पर भली प्रकार से संयम रूप अंकुश लगा दिया है, जिसने इन्द्रियो और मन पर काबू कर लिया है, वही सच्चा भिक्षु है, वही विदेह महापुरुष है।

(७)

जिइन्दिओ सव्वओ विप्पमुक्के,
अणुक्कसाई स भिक्खू ।

उ०, १५, १६

टीका—जो जितेन्द्रिय है, जो सब प्रकार के परिग्रह से, मोह से और ममता से रहित है, जो अल्प कषायी है, वही वास्तविक साधु है, वही उन्मुक्त महापुरुष है।

(८)

धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ।

द०, १०, १९

टीका—भिक्षु को चाहिये कि वह अपने समय को धर्म-ध्यान, पठन-पाठन, आत्म-चिन्तन, ईश्वर-आराधन आदि सत्कार्यो में ही लगाये रक्खे । यानी जो पुरुष धर्म-ध्यान मे ही रत रहता है, वही वास्तव मे भिक्षु है ।

(९)

अज्झप्परए सुसमाहि अप्पा जे स भिक्खू ।

द०, १०, १५

टीका—जो रात और दिन आध्यात्मिक विचारों में ही, दार्शनिक विचारो में ही, आत्मा और परमात्मा के अनुसधान मे ही लगा रहता है तथा अपनी आत्मा को समाधि-युक्त, स्थितप्रज्ञ या निष्काम भावना वाली बनाये रखता है वही भिक्षु है । वही ससार समुद्र के लिये धर्म-जहाज है ।

(१०)

सव्व संगावगए य जे स भिक्खू

द०, १०, १६

टीका—जो सब प्रकार के सग से परिग्रह से दूर है, जो निर्ग्रन्थ है, जो असक्ति से दूर है, जिसमें कोई भी कामना शेष नही है, वही भिक्षु है, वही साधु है । वही पुरुष-पुगव है ।

(११)

अणाइले या अकसाइ भिक्खू ।

सू०, १४, २१

टीका—साधु सदैव निर्मल रहे, चित्त को सयमी रक्खे, चित्त की चचलता पर काबू रक्खे और लोभ आदि सभी कषायो से दूर रहे ।

(१२)

सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते,
अणाउले या अकसाइ भिक्खू ।

सू०, १३, २२,

टीका—सब प्रकार के अनर्थों से बचता हुआ, सब प्रकार के व्यर्थ के कामो को छोड़ता हुआ, आकुलता रहित होकर और कषाय से रहित होकर भिक्षु-आत्मार्थी पुरुष अपना जीवन शाति-पूर्वक व्यतीत करे। सत्कार्य में ही सलग्न रहे।

(१३)

निग्गंथा धम्म जीविणो ।

द०, ६, ५०

टीका—बाह्य और आभ्यतर रूप से परिग्रह से रहित, बाह्य परिग्रह-सम्पत्ति-वैभव और आंतरिक परिग्रह कषाय-वासना आदि विकार, इन दोनो से रहित, ऐसे अनासक्त जीवी निर्ग्रंथो का जीवन और इनका प्रत्येक क्षण, प्रत्येक श्वासोश्वास एव जीवन-क्रियाऍं संवरमय ही है, धर्म युक्त ही है।

(१४)

निग्गंथा उज्जु दंसिणो ।

द०, ३, ११

टीका—जो बाह्य और आभ्यतर परिग्रह से रहित है, ऐसे निर्ग्रन्थ ऋजु दर्शी होते है। यानी उनके सामने केवल मोक्ष और सयम-मार्ग ही रहता है। निर्ग्रन्थो की वृत्तियाँ इधर उधर भोगो में भटकने वाली और तृष्णामय नही होती है।

(१५)

लद्धे विपिट्ठी कुव्वइ से हु चाइ ।

द०, २, ३

टीका—भोग-उपभोग की वस्तुऐं प्राप्त होने पर भी जो वैराग्य पूर्वक उन्हे छोड़ देता है, वही वास्तविक त्यागी कहलाता है।

(१६)

गुणेहिं साहू अगुणेहिं असाहू।

द०, ९, ११ तृ, उ,

टीका—गुणो से ही—सेवा, त्याग, कर्मण्यता और इन्द्रिय विजय से ही साधारण पुरुष भी साधु पुरुष या सत्पुरुष वन जाता है। इसी प्रकार दुर्गुणो से ही—स्वार्थ, आलस्य, इन्द्रिय-भोगो मे आसक्ति, दुष्ट विचिंतन और विकथा आदि से पुरुष असाधु, नीच या राक्षस वन जाता है।

(१७)

अहो जिणेहिं असावज्जा,
वित्ती साहूणं देसिया।

द०, ५, ९२, उ, प्र

टीका—रागद्वेप को पूर्ण रीति से जीतने वाले अरिहतो ने साधुओ के लिये जीवन-व्यवहार की वृत्ति निर्दोष यानी अन्य किसी को भी किसी भी प्रकार से कष्ट नही पहुँचाने वाली वतलाई है। तथा जो सर्व हितकारी हो ऐसी उपादेय और परम प्रसन्नता कारक वृत्ति का ही उन्होने उपदेश दिया है।

(१८)

असंभंतो अमुच्छिओ,
भत्त पाणं गवेसिए।

द०, ५, १, उ, प्र

टीका—चित्त की व्याकुलता, अव्यवस्थितता, पदार्थो के प्रति आसक्ति आदि मानसिक विकारो का सर्वथा परित्याग कर साधु निर्दोष आहार-पानी की गोचरी करे, मधुकरी करे।

(१९)

धम्मारामे चरे भिक्खू ।

उ०, १६, १५

टीका—भिक्षु सदैव धर्म रूपी बगीचे मे ही, स्व-पर कल्याण कारी मार्ग में ही विचरता रहे। दान, शील, तप और भावना के सुन्दर उद्यान मे ही स्वय विचरे और दूसरो को भी इसी ओर आकर्षित करता रहे।

(२०)

दाण भत्ते सणा रया ।

द०, १, ३

टीका —जो वास्तविक साधु है, वे निर्दोष आहार—पानी की ही गवेषणा करते है। गाय-वृत्ति के समान अथवा भ्रमर की वृत्ति के समान आहार-पानी की वृत्ति को जीवन मे स्थान देते है।

(२१)

वालुया कवले चेव,
निरस्साए उ संजमे ।

उ०, १९, ३८

टीका—सयम पालना, नैतिक और आध्यात्मिक नियमो को पालना रेत के कणो के समान कठोर है, निस्वाद और नीरस है। किन्तु भविष्य मे इनका परिणाम हितावह है, और कल्याण कारी है।

(२२)

णो निग्गंथेविभूसाणुवादी हविज्जा ।

उ०, १६, ग०, ९

टीका—जो निर्ग्रन्थ है, जो ब्रह्मचारी है, जो आत्मार्थी है, उसको शरीर की विभूषा, शरीर का शृंगार नही करना चाहिये।

(२३)

अणुक्कसे अप्पलीणे,
मज्झेण मुणि जावए ।

सू०, १, २, ३, ४

टीका—साधु पुरुष, मुमुक्षु पुरुष, किसी भी प्रकार का मद नही करता हुआ, विषय-वासना और विकार मे नही फसता हुआ, मध्यस्थ वृत्ति से यानी तटस्थ-वृत्ति से रहे । अनासक्त-वृत्ति से अपना जीवन व्यतीत करता रहे ।

(२४)

समयाए समणो होइ,
बम्भचेरेण बम्भणो ।

उ०, २५, ३२

टीका—समभाव रखने वाला ही, राग द्वेष से दूर रहने वाला ही, हर्ष-शोक तथा निंदा-स्तुति से दूर रहने वाला ही श्रमण है-साधु है। और जो ब्रह्मचर्य से युक्त है, वही वास्तव मे ब्राह्मण है। आन्तरिक गुणो के अभाव मे बाह्य वेश और जाति-कुल कोई अर्थ नही रखते हैं ।

(२५)

पुढवि समे मुणी हविज्जा ।

द०, १०, १३

टीका—मुनि की वृत्ति पृथ्वी के समान सहन-शील होनी चाहिये। पृथ्वी पर जैसे सब प्रकार की मान-अपमान वाली क्रियाऐं की जाती हैं, मल-मूत्र आदि फेका जाता है, तो भी वह समानरूप से सभी को आश्रय देती है उसी प्रकार विविध दुःख, पीड़ा, अपमान, निंदा, तिरस्कार करने वालो के प्रति भी मुनि मित्र भाव का ही व्यवहार करे ।

(२६)

भिक्खू सुसाहुवादी ।

सू०, १३, १३

टीका—सयमी पुरुप का—यानी मोक्ष-मार्ग के पथिक का यह कर्त्तव्य है कि वह मधुर-भाषी हो, स्व-पर के लिये कल्याण-कारी भाषा का बोलने वाला हो, अप्रिय, कठोर, मर्म-घाती आदि दुर्गुणो वाली भाषा का वह परित्याग कर दे ।

(२७)

विवित्त वासो मुणिणं पसत्थो ।

उ०, ३२, १६

टीका—विविक्त-वास, अर्थात् एकान्त-निर्जन-वास ही मुनियो के लिये और आत्मार्थियो के लिये प्रशसनीय है, हितकर है, समाधि-कर है और स्वास्थ्यकर है ।

(२८)

अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे ।

सू० १३, १७

टीका—स्वादिष्ट आहार-पानी मे आसक्त नही होना चाहिये । योग्य पदार्थों के प्रति मूर्च्छा भाव नही रखना चाहिये । आसक्ति भाव ही अथवा मूर्च्छा भाव ही पतन का सीधा मार्ग है । एक वार पतन का प्रारम्भ होते ही पतन की परम्परा चालू हो जाती है । कहा भी है कि —"विवेक भ्रष्टानाम् भवति विनिपात. शतमुख. ।"

(२९)

चरे मुणी सव्वउ विप्पमुक्के ।

सू०, १०, ९

टीका—सव प्रकार के मानसिक, वाचिक, शारीरिक और पौद्ग-लिक परिग्रहो से रहित होकर तथा अनासक्त होकर, इसी प्रकार अनर्थो से रहित होकर, मुनि या आत्मार्थी पुरुष पूर्ण शाति के साथ अपना जीवन काल व्यतीत करे ।

(३०)

उच्चावएसु विसएसु ताई,
निस्संसयं भिक्खू समाहिपत्ते ।

सू०, १०, १३

टीका—नाना प्रकार के विषयो मे राग-द्वेप रहित होकर यानी विपयो से सर्वथा मुह मोडकर, जो अहिंसा का पूरी तरह से पालन करता है, निस्सदेह ऐसा पुरुप-साधु है, वह महात्मा है, और वह स्थायी समाधि को प्राप्त करता है ।

(३१)

चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के ।

सू०, १०, ४

टीका—वाहिर और भीतर सभी वधनो से मुक्त होकर, कषाय से परिमुक्त होकर, योगो से जितेन्द्रिय होकर, पक्षी के समान अनासक्त होकर, मुमुक्षु आत्मा स्वतन्त्र रूप से विचरता रहे । मुक्त-भाव से विहार करता रहे ।

(३२)

सदा जए दंते, निव्वाणं सधए मुणी ।

सू०, ११, २२

टीका—ससार के दु खो से छुटकारा पाने की इच्छा वाला पुरुष सदा प्रयत्नशील रहता हुआ जितेन्द्रिय रहे। सतत् सुकर्मण्यशील रहे। आत्मा के गुणो का विकास करने के लिये जितेन्द्रियता सर्व-प्रथम सीढी है । जितेन्द्रियता के अभाव मे आत्मा के व्यक्तित्व का विकास नही हो सकता है ।

(३३)

दुक्करं तारुण्णे समणत्तणं ।

उ०, १९, ४०

टीका—यौवन अवस्था मे ब्रह्मचर्य पूर्वक साधु-धर्म पालना अत्यन्त कठिन है। साधु-धर्म की पालना के प्रति अत्यन्त जागरूकता की आवश्यकता है।

(३४)

नातिवेलं हसे मुणी।

सू०, ९, २९

टीका—साधु मर्यादा को छोड़कर नही हँसे। मर्यादा का उल्लंघन करते हुए हँसना साधु और श्रावक दोनो के लिये सभी दृष्टियों से हानिकर है, अवांछनीय है।

(३५)

अकुसीले सया भिक्खू,
णेव संसग्गियं भए।

सू०, ९, २८

टीका—साधु स्वयं कुशील न वने, विपरीत मार्ग गामी न हो। किन्तु सदैव सच्चारित्र शील होकर वीतराग देव द्वारा कथित अहिंसा दया-मार्ग पर और सेवा-मार्ग पर ही चलता रहे। पूर्ण ब्रह्मचारी रहे। कुशील यानी दुराचारियो की सगति भी नही करे। सगतिका जीवन पर वहुत वड़ा असर हुआ करता है। अतएव सदैव सुशील पुरुषो की ही सगति करनी चाहिये।

(३६)

सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा।

सू०, १०, २३

टीका—निर्दोष आहार मिल जाने के वाद साधु आहार के स्वादिष्ट अथवा अस्वादिष्ट होने पर राग-द्वेष करके उसको अशुद्ध नही वनावे। भावना द्वारा सदोष न कर दे। यानी स्वादिष्ट आहार के प्रति राग-भाव, मूर्च्छा-भाव नहीं लावे। इसी प्रकार नीरस आहार

के प्रति द्वेष-भाव या घृणा-भाव नही लावे । सर्प-बिल प्रवेश-न्याय के समान तटस्थ भाव से आहार-पानीको गले से उतार दे ।

(३७)

वियागरेज्जा समयासुपन्ने ।

सू०, १४, २२

टीका--उत्तम बुद्धि सपन्न साधु धनवान और दरिद्र सबको समान भाव से ही धर्मोपदेश देवे । धर्म कथा कहते समय साधु धनवान के प्रति अधिक ध्यान न दे और गरीब के प्रति कम ध्यान नही दे, किन्तु सबके प्रति समान भावना के साथ उपदेश दे ।

(३८)

ण कत्थई भास विहिंसइज्जा ।

सू०, १४, २३

टीका--जो श्रोता उपदेश को ठीक रीति से नही समझता है, उसके मनको साधु अनादर के साथ कोई बात कहकर नही दुखावे, तथा कोई श्रोता प्रश्न करे, तो उसकी बात की निन्दा भी नही करे, व्याख्याता हर सयय गंभीरता का, प्रियता का, सौष्ठव का और भाषा सौम्य का ध्यान रखे ।

(३९)

णो तुच्छए णो य विकंथइज्जा ।

सू०, १४, २१

टीका--ज्ञानी पुरुष पूजा-सत्कार को पाकर मान नही करे तथा अपनी प्रशसा भी नही करे । आत्मश्लाघा से दूर रहे । पूजा-सत्कार भी एक प्रकार का अनुकूल परिषह है । महा कल्याण के पथिक को इस पर भी विजय प्राप्त करना चाहिये ।

(४०)

निद्दं च भिक्खू न पमाय कुज्जा ।

सू०, १४, ६

टीका—अनत शाति का इच्छुक भिक्षु अत्यधिक निद्रा और प्रमाद का सेवन नही करे, बल्कि शास्त्र मे निर्दिष्ट निद्रा से ज्यादा निद्रा नही लेवे ।

(४१)

अलोल भिक्खू न रसेसु गिज्झे ।

द०, १०, १७

टीका—साधु-मर्यादा ग्रहण करके भिक्षु इन्द्रिय लोलुपता न रखे, इन्द्रियो के रसो मे गृद्ध न बने । भोगी और इन्द्रिय-लम्पट न हो । किन्तु रूखे-सूखे, नीरस और निस्वाद भोजन मे ही सतोष रखे ।

(४२)

सामण्णं दुच्चर ।

उ०, १९, २५

टीका—श्रमण-धर्म का पालना, साधु-वृत्ति का पालना, पाचो महाव्रतो की निर्दोष रूप से परिपालना करना अत्यत कठिन है, तलवार की धार पर चलने के समान है । बल हीन आत्मा इस प्रशस्त और कल्याण कारी मार्ग पर नही चल सकता है ।

(४३)

मुणी ण मज्जई ।

सू०, २, २, उ, २

टीका—सच्चा मुनि-महात्मा वही है, जो कि अहकार नहीं करता है, अभिमान नही करता है, बल्कि विनय, नम्रता, सरलता को ही जीवन का आधार बनाता है ।

(४४)

निरम्ममो निरहंकारो,
चरे भिक्खू जिणाहियं ।

सू०, ९, ६

टीका—भिक्षु ममता रहित हो, आसक्ति रहित हो, अभिमान

रहित हो, यानी विनय शील हो, ऐसे गुणो से युक्त होकर जिनेन्द्र-भगवान द्वारा कथित धर्म मे शाति पूर्वक जीवन व्यतीत करता रहे ।

(४५)

चिच्चाण णंतगं सोयं,
निरवेक्खो परिव्वए ।

सू०, ९, ७

टीका—आतरिक शोक को, ताप को, आसक्ति को त्याग कर निरपेक्ष होकर, तृष्णा रहित होकर, मुमुक्षु या परमार्थी पुरुष अपना जीवन-काल व्यतीत करता रहे । सेवा की साधना मे सलग्न रहे ।

(४६)

जो धोवती लूसयती व वत्थं,
अहाहु से णाग णियस्स दूरे ।

सू०, ७, २१

टीका—जो मुनि होकर, त्यागी होकर, शृंगार- भावना से वस्त्र को घोता है, अथवा शोभा की दृष्टि से बड़े वस्त्र को छोटा करता है, या छोटे को बड़ा करता है तो वह सयम से दूर है, ऐसा तीर्थंकरो ने तथा गणधरो ने कहा है ।

(४७)

अभयंकरे भिक्खु अणाविलप्पा ।

सू०, ७, २८

टीका—मुनि का यही धर्म है कि वह प्राणियों को अभय देने वाला हो, तथा विषय-कषाय से रहित हो । स्वस्थ चित्त वाला होकर अच्छी रीति से सयम की परिपालना करे ।

(४८)

भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा ।

सू०, ७, २९

टीका—मुनि अथवा निस्पृह त्यागी स्वाद के लिये और शरीर को बलिष्ठ बनाने की भावना से भोजन नही करे, वल्कि सयमरूपी यात्रा के लिये और पांच महाव्रत की रक्षा के लिये अनासक्त होकर भोजन करे।

(४९)

दुक्खेण पुट्ठे धुय माइएज्जा ।

सू०, ७, २९

टीका—दु.ख का स्पर्श होने पर, कठिनाइयो के आने पर, परिषहों और उपसर्गों के उपस्थित होने पर, साधु विचलित न हो, परन्तु दृढता के साथ, सयम पर स्थित रहे और मोक्ष का ही ध्यान रखें।

(५०)

अणगारे पच्चक्खाय पावए ।

सू०, ८, १४

टीका—साधु या त्यागी महात्मा, पाप कर्मों का-अशुभ मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मों का त्याग करके, भोगों को और कषायों को दूर करके निर्मल आत्मा वाला होवे। कषाय यानी क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करने पर ही मुनि धर्म और त्याग-अवस्था कायम रह सकती है।

(५१)

भिक्खवत्ती सुहावहा ।

उ०, ३५, १५

टीका—मानव-जीवन प्राप्त करके, सभी सासारिक सम्बन्धों को त्याग करके, निश्चितता पूर्वक भिक्षा वृत्ति से जीवन चलाना वास्तव में महान् आनन्द दायक है। अनासक्ति के साथ जीवन-व्यवहार को चलाने के लिये भिक्षा वृत्ति निस्सदेह सुख को लाने वाली है।

(५२)

अणगार चरित्त धम्मे दुविहे,
सराग सजमे चेव, वीयराग संजमे चेव।

ठाणा, २, रा, ठा, उ, १, २५

टीका--अणगार चारित्र अथवा साधु धर्म भी दो प्रकार का है --१ सराग सयम और २ वीतराग सयम।

सराग सयम मे शरीर, धार्मिक-उपकरण, यश कीर्ति, सन्मान आदि के प्रति ममत्व-भाव रहता है, जब कि वीतराग सयम में ममता, आसक्ति आदि का सर्वथा लोप हो जाता है।

(५३)

मुणी मोणं समायाय,
धुणे कम्म सरीरगं।

आ०, २, १००, उ, ६

टीका--आत्मार्थी मुनि-मौन को ग्रहण कर, अपनी वृत्तियो को नियन्त्रित कर, सात्विक-मार्ग पर उन्हे सयोजित कर, अपने पूर्व सचित कर्मो का और, मानसिक अशुभ सस्कारो का, तथा अनिष्ट वासनाओ का क्षय करता रहता है। अथवा इन्हे क्षय करे।

(५४)

चत्तारि आयरिया, आमलग महुरफल समाणे,
मुद्दियामहुर फल समाणे खीर महुर फल समाणे,
खंड महुरफल समाणे।

ठाणा०, ४ था, ठा०, उ, ३, १३

टीका--आचार्य चार प्रकार के होते है--१-आवले के रस के समान शब्द-प्रयोग में उपालभ आदि रूप खटास-मिटास-पद्धति का प्रयोग

करते हुए हित शिक्षा देने वाले गुरु । २ द्राक्ष के समान अधिक मधुर वचनो का प्रयोग करते हुए और उपालभ रूप शब्दों का अति सूक्ष्म ही प्रयोग करने वाले शिक्षा-दाता गुरु-देव दूसरे प्रकार के आचार्य है। ३ क्षीर के समान अति मधुर शब्दो का प्रयोग करके हित-शिक्षा देने वाले गुरु तीसरे प्रकार के है। ४ शक्कर के समान सर्वथा मधुर-मधुर शब्दो का प्रयोग करते हुए ही हित-शिक्षा देने वाले आचार्य चौथे प्रकार के गुरु देव है।

*

महापुरुष-सूत्र

(१)

सड्ढी आणाए मेहावी ।

आ०, ३, १२५, उ, ४

टीका—जो भगवान की आज्ञा में–वीतराग के आदेश में विश्वास करता है, ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रति आस्था रखता है, वही मेधावी है । वही तत्वदर्शी महापुरुष है ।

(२)

विणियट्टंति भोगेसु,
जहा से पुरिसुत्तमो ।

द०, २, ११

टीका—जो भोगो से दूर रहते है, वे ही वास्तव में पुरुषोत्तम हैं । वे ही श्रेष्ठ और महापुरुष है ।

(३)

पंडिया पवियक्खणा,
विणियट्टन्ति भोगसु ।

उ०, ९, ६२

टीका—पडित तथा विचक्षणपुरुष यानी प्रतिभा सपन्न महापुरुष भोगो से निवृत्ति लेते है । वे भोगो में कभी भी नही फसते है ।

(४)

बुद्धो भोगे परिच्चयई ।

उ०, ९, ३

टीका—वुद्धिमान् पुरुप, विवेकी पुरुष ही भोगो को छोड़ता है ।

मूर्ख तो भोगों में फस जाता है और अत में जाल में फसी हुई मछली के समान दुःख पाता है।

(५)

मेधाविणो लोभ मयावतीता।

सू०, १२, १५

टीका—बुद्धिमान् पुरुष लोभ से दूर रहते हैं। ज्ञानी तृष्णा के जाल मे नहीं फसते है। और इस प्रकार अपनी वीतराग भावना की वृद्धि करते रहते है।

(६)

अंताणि धीरा सेवंति,
तेण अंतकरा इह।

सू०, १५, १५

टीका—महापुरुष विषय और कषाय का अन्त कर देते हैं, इसलिये वे ससार का भी अत कर देते हैं, जहाँ विषय और कषाय है, वही ससार है; और जहा ये नही हैं, वही अमर शान्ति है।

(७)

से हु चक्खू मणुस्साणं,
जे कंखाए य अंतए।

सू०, १५, १४

टीका—जिस पुरुष को भोग की तृष्णा नही है, वही पुरुष सब मनुष्यो को नेत्र के समान उत्तम मार्ग दिखाने वाला है।

(८)

जिइंदिए जो सहइ, स पुज्जो।

द०, ९, ८; तृ, उ,

टीका—जितेन्द्रिय होकर, स्थित प्रज्ञ होकर, कर्म योगी होकर जो दूसरो के द्वारा बोले हुए दुष्ट और अनिष्ठ वचनों को भी अकारण सहता है, तथा सत्कार्य म मलग्न रहता है, वही पूजनीय है।

(९)

चउक्कसायावगए स पुज्जो ।

द०, ९, १४, तृ, उ,

टीका—जो पुरुष चारो कषायो से–क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित है, वही कर्म योगी है । और वही पुरुष पूजनीय है ।

(१०)

संतोस पाहन्न रए स पुज्जो ।

द०, ९, ५ तृ, उ

टीका—जो उपलब्ध यानी प्राप्त सामग्री में ही संतोष कर लेता है, और इच्छा तृष्णा को नही वढ़ाता है, पर-धन को धूल के समान और पर-वनिता को माता-वहिन के समान समझता है, वही पूजनीय है ।

(११)

अणासए जो उ सहिज्ज, कंटए स पुज्जो ।

द०, ९, ६, तृ, उ,

टीका—विना किसी आशा-तृष्णा के, एवं निष्काम भाव से जो संकट सहता रहता है, और स्व-पर-कल्याण में रत रहता है, वही पूजनीय है ।

(१२)

जो राग दोसेहिं समो स पुज्जो ।

द०, ९, ११, तृ, उ,

टीका—जो पुरुष निन्दा स्तुति मे, मान-अपमान में, इष्ट-अनिष्ट के संयोग-वियोग में समान भावना रखता है, तथा हर्ष शोक से दूर रहता है, वही पूजनीय है ।

(१३)

गुरुं तु नासाययई स पुज्जो।

द०, ९, २, तृ, उ,

टीका—जो अपने गुरु की यानी अपनी से ज्ञान-वृद्ध की, आयु वृद्ध की, चारित्र वृद्ध की, गुण वृद्ध की आशातना नही करता है, अविनय नही करता है, अभक्ति नही करता है, दुर्भावना नही करता है। वही पूज्य है-वही आदर्श है।

(१४)

सूरा दृढ़ परक्कमा।

उ०, १८, ५२

टीका—जो शूरवीर होते है, जो प्रबल पुरुष होते है, वे ही धर्म मार्ग मे और सेवा मार्ग में दृढ तथा पराक्रम शील और पुरुषार्थी होते है।

(१५)

परिसह रीऊ दंता धूअ मोहा जिइंदिया।

द०, ३, १३

टीका—जो परिषह-उपसर्ग रूपी शत्रुओ को जीतने वाले है, मोह रूपी पर्वत को भेदने वाले है और इन्द्रिय रूपी घोड़ों को वश में करने वाले है, वे ही महर्षि है।

(१६)

संजया सुसमाहिया।

द०, ३, १२

टीका—जो वास्तव में सयमी हैं, वे सदैव इन्द्रियो और मन को ज्ञान-ध्यान और समाधि में ही लगाये रखते है।

(१७)

अवि अप्पणो वि देहंमि,
नायरंति ममाइयं।

द०, ६, २२

टीका—विवेकी पुरुप, सज्जन पुरुप-धन, वैभव, पुत्र, पत्नी, परिवार, मकान, मोटर, परिग्रह, यश. कीर्ति, सुख और सन्मान में मूर्च्छा, ममता या आसक्ति नही रखते है, यह तो ठीक है, परन्तु अपने शरीर तक में भी ममत्व-भाव, आसक्ति-भाव नही रखते है। ऐसे महापुरुप हमारे लिये आदर्श है।

(१८)

खवंति अप्पाण ममोह दंसिणो।

द०, ६, ६८

टीका—मोह रहित यानी अनासक्ति के साथ साँसारिक दशाओ को और विपमता को देखने वाले, तत्त्व और अतत्व पर विचार करने वाले, प्रकृति के मूल रहस्य का चिंतन करने वाले, ऐसे तत्त्व दर्शी अपने पूर्व जन्मो में सचित सभी कर्मों का क्षय इस प्रकार कर देते हैं जैसे कि आग घास का कर देती है।

(१९)

महप्पसाया इसिणो हवन्ति।

उ०, १२, ३१

टीका—ऋपिगण और स्व-पर की कल्याण कारी भावना वाले मुनिगण सदा ही प्रसन्न चित्त और निर्लिप्त चित्त वाले होते है। ये महात्मा निन्दा और स्तुति, मान और अपमान, पूजा और तिरस्कार, सभी अनुकूल और प्रतिकूल सयोगो के प्रति समभावशील रहते है। ये हर्प-शोक से अतीत होते है। ये राग द्वेष से रहित होते है।

(२०)

हिरिमं पडिसंलीणे सुविणीए।

उ०, ११, १३,

टीका—जो लज्जा वाला है, जो मर्यादा पूर्वक जीवन-व्यवहार को चलाने वाला है, जो इन्द्रियो को वश में करने वाला है, जो भोगों

के प्रति आसक्ति नही रखने वाला है, ऐसा पुरुष ही विनीत है, मोक्ष का अधिकारी है ।

(२१)

पियं न विज्जई किंचि,
अप्पियं पि न विज्जई ।

उ०, ९, १५

टीका—सात्विक विचारो वाले पुरुष के लिये न कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय । उसकी दृष्टि में तो सभी समान है । किसी पर भी उसका राग अथवा द्वेष नही है, चाहे कोई उसकी निन्दा करे या स्तुति करे ।

(२२)

किरियं चरो अए धीरो ।

उ०, १८, ३३

टीका—धीर पुरुष, आत्मार्थी पुरुष, इन्द्रियो का दमन करने वाला पुरुष सत् क्रिया में रुचि रक्खे, नैतिक और धार्मिक क्रियाओ के प्रति आस्तिकता रक्खे । चरित्र के प्रति दृढ़ श्रद्धावान् हो ।

(२३)

धोरेय सीला तवसा उदारा,
धीरा हु भिक्खारियं चरन्ति ।

उ०, १४, ३५

टीका—तप-प्रधान जीवन वाले तपस्वी और धर्म धुरन्धर धीर पुरुष ही भिक्षा-चर्या और मुनिवृत्ति का अथवा मोक्ष मार्ग का अनुसरण कर सकते है । निर्बल पुरुषो में, इन्द्रियो के दास पुरुषो में यह शक्ति नही हो सकती है ।

(२४)

धीरा बंध णुम्मुक्का ।

सू०, ३, १५ उ, ४

टीका—धीर पुरुष अर्थात् कठिनाइयाँ आने पर भी कर्त्तव्य-मार्ग से पतित नही होने वाले महापुरुष—बंधनो से मुक्त हो जाते हैं। वे ससार से शीघ्रही पार होकर मुक्त हो जाते है।

(२५)

सव्वेसु काम जाएसु,
पासमाणो न लिप्पई ताई।

उ०, ८, ४

टीका—आत्मार्थी पुरुप ससार के दु.खो को देखता हुआ और संसार की विषमताओ का विचार करता हुआ काम भोगो मे लिप्त नहीं होता है। वह विषयो मे मूर्च्छित नही होता है।

(२६)

भुंजमाणो य मेहावी,
कम्मणा नोवलिप्पइ।

सू०, १, २८, उ, २

टीका—जिसके अन्त करण में राग-द्वेष नही है, जो अनासक्त है, जो निर्ममत्व शील है, ऐसा ज्ञानी आत्मा शरीर-निर्वाह के लिये विविध रीति से आहार करता हुआ एव जीवन-व्यवहार चलाता हुआ भी कर्मो से लिप्त नही होता है। वह संसार में अधिक जन्म-मरण नही करता है।

(२७)

मोहावी अप्पणो गिद्धि मुद्धरे।

सू०, ८, १३

टीका—वुद्धिमान् पुरुष और आत्मार्थी पुरुष अपनी ममत्व बुद्धि को, अपने आसक्ति-भाव को हटादे, इन्हें खतम कर दे और निर्ममत्व होकर, अनासक्त होकर विचरे। यही कल्याण-मार्ग है। यही महा-पुरुषो का पथ है।

(२८)

एत्थोवरए मेहावी सव्वं,
पावं कम्मं झोसइ ।

आ०, ३, ११३, उ, २

टीका—जो मेधावी पुरुष, जो तत्त्वदर्शी पुरुष भगवान् के वचनो पर स्थित है, भगवान् के वचनो पर श्रद्धा शील है और धर्म-मार्ग पर आरूढ है, ऐसा पुरुष अपने सभी पाप-कर्मों का क्षय कर डालता है ।

(२९)

न या वि पूयं गरहं च संजए ।

उ०, २१, १५

टीका—सयमी पुरुष और आत्म-कल्याणी पुरुष, अपनी निंदा-स्तुति, तिरस्कार अथवा पूजा की तरफ चित्त वृत्ति को चचल नही करे । सम तोल चित्त-वृत्ति ही समाधि का प्रमुख लक्षण है ।

(३०)

मेरुव्व वाएण अकम्पमाणो,
परीसहे आयगुत्ते सहिज्जा ।

उ०, २१, १९

टीका—सयम निष्ठ और आत्मार्थी पुरुष सदैव कछुए के समान इन्द्रियो को गोप कर, वायु के वेग से कम्पायमान नही होने वाले मेरु पर्वत की तरह दृढ रह कर कल्याण-मार्ग में आने वाले परिषहों को-उपसर्गो को और कठिनाइयो को सहन करता रहे ।

(३१)

अणुन्नए नावणए महेसी ।

उ०, २१, २०

टीका—महर्षि और महात्मा पुरुष, न तो हर्ष से अभिमानी हो

और न दु:ख से दीन हो। दीनता और हीनता से आत्मार्थी सदैव दूर रहे।

(३२)

सउणी धंसयइं सियं रय,
एवं कम्मं खवइ तवस्सिमाहणो।

सू०, २, १५, उ, १

टीका—जैसे पक्षिणी अपने शरीर मे लगी हुई धूल को गिरा देती है, उसे झाड देती है, उसी तरह से तपस्वी महात्मा भी अपने पूर्व-कृत कर्मों को अपने सत्कार्यो द्वारा झाड़ देते है, उन्हे अलग कर देते है।

(३३)

चिच्चा वित्त च णायओ,
आरंभं च सुसंवुडे चरे।

सू० २, २२, उ, १

टीका—आत्मार्थी के लिये यही सुन्दर मार्ग है कि धन, ज्ञाति-वर्ग, माता-पिता आदि को और आरंभ-परिग्रह को छोड़ कर उत्तम सयमी वन कर जीवन-व्यवहार चलावे।

(३४)

पूयणा पिट्ठतो कता,
ते ठिया सुसमाहिए।

सू०, ३, १७, उ, ४

टीका—जिन्होने स्व-पूजा, अपनी यश. कीर्ति, सन्मान आदि की इच्छा का त्याग कर दिया है, वे ही सुसमाधि मे स्थित है। ऐसे ही पुरुषो की इन्द्रियाँ और मन उनके वश मे है।

(३५)

सुव्वते समिते चरे।

सू०, ३, १९, उ, ४

टीका—उत्तम व्रतो वाला, कर्त्तव्य-निष्ठ और इन्द्रियों को वश मे रखने वाला पुरुष ही समितियो का और विवेक पूर्वक जीवन-व्यवहार का, सम्यक् प्रकार से परिपालन कर सकता है।

(३६)

जे णिव्वुया पावेहिं कम्मेहिं
अणियाणा ते वियाहिया ।

आ०, ८, १९७, उ, १

टीका—जिन धर्मात्मा पुरुषो ने पाप-कर्म की, अनिष्ट प्रवृत्तियों की, अनैतिक-कामो की निवृत्ति कर ली है, जो सदैव दान, शील, तप और भावना रूप सयम मे ही संलग्न है, वे अनिदान-यानी अपनी धर्म क्रियाओ का मुह मागा फल नही चाहने वाले कहे गये है। वे शल्य-रहित यानी निर्दोष और पवित्र आत्मा वाले कहे गये है। उनकी गणना महापुरुपो में की गई है।

(३७)

णीवारे व ण लीएज्जा,
छिन्न सोए अणाविले ।

सू०, १५, १२

टीका—सुअर आदि प्राणी को आकर्षित करके मृत्यु के स्थान पर पहुँचाने वाले चावल के दाने के समान स्त्री प्रसग है। अत. स्त्री प्रसग से दूर रहने मे ही जीवन की सार्थकता है। इसी प्रकार विषय-भोग में इन्द्रियो की प्रवृत्ति करना ही संसार में आने के द्वार है, इसलिये जिसने विषय-भोग रूप आश्रव द्वार को छेदन कर डाला है, वही राग द्वेष रूप मल से रहित है—वही महापुरुष है।

(३८)

सव्व धम्माणु वत्तिणो
देवेसु उववज्जई ।

उ०, ७, २९

टीका—धर्म क्रियाओ का यानी दया, क्षमा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सतोष, अनासक्ति, इन्द्रिय–दमन, कषाय-विजय आदि का आचरण करने वाला देव गति मे या उच्च गति मे उत्पन्न होता है।

(३९)

जे य बन्ध पमुक्ख मन्नेसी
कुसले पुणो नो बद्धे नो मुक्के।

आ०, २, १०३, उ, ६

टीका—जो प्रशान्त आत्मा, बन्ध और मोक्ष के कारणो का अन्वेषण करने वाली है, यानी जो वीतराग भावना के साथ निर्जरा करती हुई आत्म-विकास कर रही है, वह नवीन बध नही करती है और वर्तमान मे मुक्त नही होने पर भी शीघ्र ही मुक्त हो जाने वाली है।

(४०)

बहुं पि अणुसासिए जे तहच्चा,
समे हु से होइ अझंझपत्ते।

सू०, १३, ७

टीका—भूल होने पर गुरुजनो द्वारा उपालभ आदि के रूप में शासन करने पर जो पुरुष अपनी चित्त-वृत्ति को शुद्ध और निर्मल रखता है, यानी क्रोध नही करता हुआ भूल स्वीकार कर पुन. कर्त्तव्य-मार्ग मे आरूढ हो जाता है, ऐसा पुरुष ही आध्यात्मिक गुणो को, समता और शाति आदि गुणो को प्राप्त करने का अधिकारी है, ऐसा पुरुष ही शुद्ध अन्त. करण वाला होने से भव्य आत्मा है।

(४१)

विभज्ज वायं च वियागरेज्जा।

सू०, १४, २२

टीका—पंडित पुरुष स्याद्वाद-मय भाषा बोले, एकान्त आग्रह पूर्ण और निश्चयात्मक भाषा नही बोले। स्याद्वाद युक्त भाषा लोक-व्यवहार से मिलती हुई और सर्वव्यापी भाषा है। यह निर्दोष भी

है और अक्लेशकर भी है, इसलिये ज्ञानी को स्याद्वाद मय भाषा ही बोलना चाहिये ।

(४२)

कहं धीरो अहे अहिं,
उम्मत्तो व महिं चरे ।

उ०, १८, ५२

टीका—धर्य शाली और विचार शील महापुरुष घर गृहस्थी का, परिग्रह का, सुख का और वैभव का त्याग क्या बिना कारण ही और क्या बिना विचारे ही करते हैं ? पृथ्वी पर उन्मत्त की तरह क्या बिना कारण ही घूमते रहते है ? नही, उनके विचारों के पीछे ठोस आत्म बल, नैतिक पृष्ठ भूमि और आध्यात्मिक विमल विचारो का आधार होता है । इसलिए साधारण पुरुषों को उनका अनुकरण निश्शक होकर करना चाहिए ।

(४३)

विगय संगामो भवाओ परिमुच्चए ।

उ०, ९, २२

टीका—जिस आत्माने कर्मों और विकारो के साथ सग्राम कर, उन पर विजय प्राप्त कर ली है, यानी अब ससार में जिस आत्मा का किसी के भी साथ कषाय-रूप सग्राम नही रहा है, जो आत्मा विगत कषाय हो गई है, वह ससार-बधन से शीघ्र ही छूट जाती है ।

(४४)

आयगुत्ते संयादंते,
छिन्नसोए अणासवे ।

सू०, ११, २४

टीका—अपनी आत्मा को पाप से बचाने वाला, सदा जितेन्द्रिय होकर रहने वाला, ससार की मिथ्यात्व पूर्ण शोक आदि धारा को तोडने वाला तथा आश्रव रहित, ऐसा सत्पुरुष ही ससार का सन्मार्ग दर्शक है। वही स्व और पर के कल्याण का उत्कृष्ट साधक है।

(४५)

पंतं लूहं सेवंति वीरा समत्त दंसिणो।

आ०, २, १००, उ, ६

टीका—सम्यक्त्व दर्शी आत्माए ही-यानी राग द्वेप रहित वीर आत्माऐ हो काम-वासनाओ और विकारो पर विजय प्राप्त करने के लिये नीरस तथा स्वाद रहित आहार करती है, वे रूखा सूखा आहार करके आत्म बल और चारित्र बल का विकास करती है तथा ज्ञान बल से सभी प्रकार की काम-वासनाओ को खत्म कर देती है।

(४६)

जे गरहिया सणियाणप्पओगा,
ण ताणि सेवंति सुधीर धम्मा।

सू०, १३, १९

टीका—जो काम निंदनीय है, अथवा जो सत् क्रियाऐं फल-विशेष की प्राप्ति की दृष्टि से की जाती है, उनको ज्ञानी-पुरुष न तो स्वय करते है, और न करते हुए को अच्छा ही समझते है। सज्जन पुरुष तो अनासक्त भाव से और सात्विक-रीति से अपना जीवन-व्यवहार चलाते है और इसी में स्व-पर-का कल्याण समझते है।

(४७)

नारइं सहई वीरे,
वीरे न सहई रतिं।

आ०, २, ९९, उ, ६

टीका--जो अपनी आत्मा को भोगो से और कषायो से हटाता है, उसे ही वीर महापुरुष कहते है। ऐसा वीर महापुरुष न तो रति यानी आसक्ति करता है और न भोगो की तरफ जरा भी आकर्षित होता है। इसलिये ऐसे वीर-पुरुषो में "राग" का धीरे धीरे अभाव हो जाता है। इसी प्रकार किसी भी वस्तु के प्रति उनकी घृणा नही होती है, इस कारण से उनकी भावना तटस्थ हो जाती है, इसलिये उन मे "द्वेष" का भी धीरे धीरे अभाव हो जाता है, तदनुसार वीर-आत्माएं "वीतराग" बनती चली जाती है। इस तरह पूर्ण विकास की ओर प्रगति करती जाती है।

(४८)

जे अणन्न दंसी से अणण्णारामे,
जे अणण्णारामे से अणन्न दंसी।

आ०, २, १०२, उ, ६

टीका—जो आत्माऐ अनन्य दर्शी है, यानी अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अनासक्ति आदि आदर्श सात्विक मार्ग का ही अवलम्बन लेने वाली है और जीवन में विपरीत बातो को स्थान नही देती है, वे निश्चय ही मोक्ष-गामी है। और जो मोक्ष गामी है, वे उच्च आदर्शो वाली ही हैं। तात्पर्य यह है कि जो अनन्य दर्शी है वह अनन्य आराम वाला यानी मोक्ष वाला है, और जो अनन्य आराम वाला है, वह अनन्य दर्शी है।

(४९)

चत्तारि समणो वासगा,
अद्दागसमाणे, पडागसमाणे,
खाणुसमाणे, खर कंट समाणे।

ठाणा०, ४ था, ठा, उ, ३, २०

(४)

आणाए अभि समेच्चा अकुओभयं ।

आ०, १, २२, उ, ३

टीका—जैसा वीतराग देव ने फरमाया है, उसी के अनुसार जो जानता है, जो श्रद्धा करता है, तदनुसार जो आचरण करता है, तदनुसार जो प्ररूपणा करता है, उसको संसार का भय कैसे हो सकता है ? उसको ससार का मिथ्या-मोह कैसे आकंपित कर सकता है ? वह पुरुष कैसे कर्त्तव्य-मार्ग से विचलित होकर भोगो में फंस सकता है ?

(५)

सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं ।

आ०, ३, १२४, उ, ४

टीका—जो प्रमादी नही है, यानी जो विषय-विकार, वासना, तृष्णा आदि मे फंसा हुआ नही है, उसको किसी भी तरह से भय, चिन्ता, अशांति, दुःख आदि नही उत्पन्न होते है । अप्रमादी को किसी भी ओर से भय नही है ।

(६)

आवट्ट सोए संग मभिजाणइ ।

आ०, ३, १०८, उ, १

टीका—जो सम्यक् दर्शी है, वह आवर्त्त यानी जन्म, जरा, मरण आदि रूप संसार को और श्रुति रूप शब्द आदि को तथा काम-गुण रूप विषय की इच्छा को-इन दोनों के सम्बन्ध को भली-भांति जानता है । और ऐसा जानने वाला ही संसार के चक्र से तथा काम-गुणो से मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

(७)

जिणा भक्खरो करिस्सइ
उज्जोयं सव्व लोगम्मि पाणिणं ।

उ०, २३, ७८

टीका—जिनदेव अर्थात् अरिहंत-रूप सूर्य, संपूर्ण ससार में मोहाघकार से आच्छादित जीवो के लिये ज्ञान और चारित्र के प्रकाश को प्रकट करते है, इसी प्रकार भविष्य मे भी अनन्त अरिहत होंगे, जो कि इसी रीति से ज्ञान और चारित्र का प्रकाश करते रहेगे।

(८)

मुहादाई मुहाजीवि दो वि गच्छंति सुग्गइं।

द०, ५, १००, उ, प्र

टीका—नि स्वार्थ भाव से लेने वाले, और निःस्वार्थ भाव से ही देने वाले, दोनो ही सुगति को प्राप्त होते है। नि.स्वार्थ सेवा ही आदर्श व्रत है। नि.स्वार्थ सेवा मे किसी भी प्रकार की आशा नही होती है, कोई आसक्ति या वासना अथवा विकार नही होता है। इसीलिये यह उच्च भावना धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान रूप होती है।

(९)

से यं खु मेयं ण पमाय कुज्जा।

सू०, १४, ९

टीका—"इसमें मेरा ही कल्याण है" ऐसा सोच-विचार कर, आत्मार्थी प्रमाद का सेवन नही करे। जो प्रमाद या आलस्य नहीं करेगा, उसी को लाभ होगा। अतएव प्रमाद के स्थान पर कर्मण्यता को ही जीवन मे स्थान देना चाहिये।

(१०)

चरित्त संपन्नयाए,
सेलेसी भावं जणयइ।

उ०, २९, ६१वां ग,

टीका—चारित्र-संपन्नता से जीवन में निर्मल गुण पैदा होते हैं। सात्विक वृत्ति से कर्मण्यता आती है। इस प्रकार शैलेशी भाव उत्पन्न

टीका— श्रावकों की चार श्रेणियाँ और भी इस प्रकार हैं :—

(१) जैसा साधुजी कहते हैं, वैसी ही श्रद्धा रखने वाला श्रावक-दर्पण में पड़ने वाले प्रतिविम्ब के समान-आदर्श श्रावक है।

(२) साधुजी की प्रसंगोपात्त-विविध देशना सुनकर चंचल बुद्धि का हो जाने वाला श्रावक पताका समान श्रावक है।

(३) अपना हठ कभी भी नहीं छोड़ने वाला श्रावक ठूठ के समान स्थाणु श्रावक है।

(४) साधुजी द्वारा हित की शिक्षा देने पर भी कठोर और-दुष्ट वचन बोलने वाला श्रावक खर-कंटक समान श्रावक है।

★

प्रशस्त-सूत्र

(१)

नो लोगस्सेसणं चरे।

आ०, ४, १२८, उ, १

टीका—लोक-रुचि के अनुसार आचरण मत करो। लोक तो गाड़रिया प्रवाह है, लोक तो दो रगी चाल वाला है। लोक-समूह तो सस्कारो और वातावरण का गुलाम होता है। अतएव जिसमे अपना कल्याण प्रतीत होता हो, अपना स्वतन्त्र विकास होता हो उसी मार्ग का अवलबन लेना चाहिये। लोक-भावना के स्थान पर कर्त्तव्य-भावना प्रधान है।

(२)

बुद्धा धम्मस्स पारगा।

आ०, ८, १८, उ, ८

टीका—जो बुद्ध होते है, जो ज्ञानी होते है, जो तत्व दर्शी होते है, वे ही धर्म और चारित्र का सम्यक् प्रकार से ज्ञान रखने वाले होते है। धर्म के गभीर रहस्य का सूक्ष्म स्वरूप उनसे छिपा हुआ नही रह सकता है।

(३)

नाणी नो परिदेवए।

उ०, २, १३

टीका—ज्ञानी कभी विषाद यानी खेद अथवा शोक नही करता है। ज्ञानी जानता है कि खेद करना प्रमादजनक है, ज्ञान-नाशक है, निरर्थक है, आर्त्तध्यान है और शक्ति विनाशक है।

(४)

आणाए अभि समेच्चा अकुओभयं।

आ०, १, २२, उ, ३

टीका—जैसा वीतराग देव ने फरमाया है, उसी के अनुसार जो जानता है, जो श्रद्धा करता है, तदनुसार जो आचरण करता है, तदनुसार जो प्ररूपणा करता है, उसको संसार का भय कैसे हो सकता है ? उसको ससार का मिथ्या-मोह कैसे आकर्षित कर सकता है ? वह पुरुष कैसे कर्त्तव्य-मार्ग से विचलित होकर भोगो में फस सकता है ?

(५)

सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं।

आ०, ३, १२४, उ, ४

टीका—जो प्रमादी नही है, यानी जो विषय-विकार, वासना, तृष्णा आदि में फंसा हुआ नही है, उसको किसी भी तरह से भय, चिन्ता, अशांति, दुःख आदि नही उत्पन्न होते है। अप्रमादी को किसी भी ओर से भय नही है।

(६)

आवट्ट सोए संग मभिजाणइ।

आ०, ३, १०८, उ, १

टीका—जो सम्यक् दर्शी है, वह आवर्त्त यानी जन्म, जरा, मरण आदि रूप संसार को और श्रुति रूप शब्द आदि को तथा काम-गुण रूप विषय की इच्छा को-इन दोनों के सम्बन्ध को भली-भाति जानता है। और ऐसा जानने वाला ही ससार के चक्र से तथा काम-गुणो से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

(७)

जिणा भक्खरो करिस्सइ
उज्जोयं सव्व लोगम्मि पाणिणं।

उ०, २३, ७८

टीका—जिनदेव अर्थात् अरिहत-रूप सूर्य, संपूर्ण ससार में मोहांधकार से आच्छादित जीवो के लिये ज्ञान और चारित्र के प्रकाश को प्रकट करते है, इसी प्रकार भविष्य में भी अनन्त अरिहत होंगे, जो कि इसी रीति से ज्ञान और चारित्र का प्रकाश करते रहेंगे ।

(८)

मुहादाई मुहाजीवि दो वि गच्छंति सुग्गइं ।

द०, ५, १००, उ, प्र

टीका—नि.स्वार्थ भाव से लेने वाले, और निःस्वार्थ भाव से ही देने वाले, दोनो ही सुगति को प्राप्त होते हैं । नि.स्वार्थ सेवा ही आदर्श व्रत है । नि.स्वार्थ सेवा में किसी भी प्रकार की आशा नहीं होती है, कोई आसक्ति या वासना अथवा विकार नही होता है । इसीलिये यह उच्च भावना धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान रूप होती है ।

(९)

से यं खु मेयं ण पमाय कुज्जा ।

सू०, १४, ९

टीका—"इसमें मेरा ही कल्याण है" ऐसा सोच-विचार कर, आत्मार्थी प्रमाद का सेवन नही करे । जो प्रमाद या आलस्य नहीं करेगा, उसी को लाभ होगा । अतएव प्रमाद के स्थान पर कर्मण्यता को ही जीवन मे स्थान देना चाहिये ।

(१०)

चरित्त संपन्नयाए,
सेलेसी भावं जणयइ ।

उ०, २९, ६१वां ग,

टीका—चारित्र-संपन्नता से जीवन में निर्मल गुण पैदा होते है । सात्विक वृत्ति से कर्मण्यता आती है । इस प्रकार शैलेशी भाव उत्पन्न

होते हैं, आत्मा ऊँचे दर्जे के विकास-भाव को प्राप्त होती है। आत्मा अनत वलशाली और अनंत गुणशाली वनती है।

(११)

सम्मग्गं तु जिणक्खायं,
एस मग्गे हि उत्तमे।

उ०, २३, ६३

टीका—सम्यक् मार्ग और मोक्ष-मार्ग, भगवान् वीतराग प्रभु श्री जिनदेव का वतलाया हुआ ही है। यही मार्ग उत्तम है, यही श्रेष्ठ है, यही कल्याण कारी है और यही मोक्ष का दाता है।

(१२)

अणुत्तरे नाणधरे जसंसी,
ओभासई सूरिं एवं अंतलिक्खे।

उ०, २१, २३

टीका—सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने पर आत्मा; सर्वोत्तम और अप्रतिपाती केवलज्ञान का धारक होकर पूर्ण यश को प्राप्त करता हुआ ऐसा शोभा पाता है, जैसा कि आकाश मे सूर्य।

(१३)

अप्पमत्तो जए निच्चं।

द०, ८, १६

टीका—प्रमाद पाप का घर है, इसलिये सदैव अप्रमादी रहना चाहिये, कर्मण्यशील रहना चाहिये, यानी सत्कार्य, सेवा में ही लगे रहना चाहिये। अप्रमाद से इन्द्रियो और मन पर नियत्रण रहता है। इससे कषाय और विकार जीतने में मदद मिलती है। कर्मण्यता जीवन का शृङ्गार है—भूषण है।

(१४)

अच्चन्त नियाण खमा,
एसा मे भासिया वई।

उ० ९/ ५३

टीका—कर्म-मल के शोधन में, पाप को हटाने में दुष्वृत्तियो और विकारो को दूर करने में, अत्यत समर्थ इस वाणी मे यह उपदेश श्री वीतराग प्रभु महावीर द्वारा दिया गया है। यानी यह जिनवाणी, यह जैन धर्म, आत्मा मे स्थित सपूर्ण दोषो को, वासना को, आसक्ति को, अज्ञान को और अविवेक को, हटाने में पूर्ण रीति से समर्थ है—शक्ति शाली है।

(१५)

भाव विसोहीए,
निव्वाण मभिगच्छइ।

सू०, १, २७, उ, २

टीका—भावो की विशुद्धि से-अनासक्ति और निर्ममत्व भावना से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। भाव-विशुद्धि से कर्म-बन्धन नही होता है, और कर्म-बन्धन के अभाव में स्वभाव से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

(१६)

समो निन्दा पसंसासु
तहा माणावमाणओ।

उ०, १९, ९१

टीका—निन्दा और स्तुति मे, मान और अपमान मे समभाव रखना चाहिए। अनुकूल और प्रतिकूल सभी परिस्थितियो मे समता रखने से बुद्धि का समतोलपना रहता है, विवेक बराबर बना रहता है और इससे पथ-भ्रष्ट होने का डर नही रहता है।

(१७)

पणए वीरे महा विहिं
सिद्धिपहं णेआउयं धुवं।

सू०, २, २१, उ, १

टीका—कर्म का भेदन करने मे समर्थ महापुरुप उस महान् मार्ग से चलते है, जो मोक्ष के पास ले जाने वाला है, जो ध्रुव है और जो सिद्धि मार्ग है ।

(१८)

नोऽवि य पूयण पत्थए सिया ।

सू०, २, १६, उ, २

टीका—जिसका ध्येय एक मात्र स्व-कल्याण और पर-सेवा ही है, उसको स्व-पूजा–और स्व-अर्चना की भावना से विल्कुल दूर ही रहना चाहिये ।

(१९)

गुरुणो छंदाणुवत्तगा,
विरया तिन्न महोघ माहिय ।

सू०, २, ३२, उ, २

टीका—गुरु की-अनासक्त महात्मा की एव ज्ञान-चारित्र सम्पन्न महापुरुप की आज्ञा मे चलकर और विषय-कषाय से तथा वासनाओ से रहित होकर अनेक सरल आत्माओ ने इस महासागर रूप ससार को पार कर लिया है ।

(२०)

सासयं परिणिव्वुए ।

उ०, ३६, २१

टीका—जो पुरुष वीतरागी होते है, जो राग द्वेप से रहित होते हैं, जो आश्रव-भाव से दूर रहते है, वे ही शाश्वत् अवस्था को प्राप्त होते है, वे ही मुक्ति स्थान को प्राप्त करते है ।

(२१)

अप्पमत्तो कामेहिं उवरओ पावकम्मेहिं ।

आ०, ३, ११०, उ, १

टीका--जो ज्ञानी आत्मा, कामों से, तथा शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श और आसक्ति आदि से अप्रमादी है, यानी इनमें नही फंसा हुआ है और ज्ञान, दर्शन, चारित्र को ही अपना एकमात्र लक्ष्य मानता है; वह पाप कर्मों से और नवीन-बन्धन से छूट जाता है। इस प्रकार वह शीघ्र ही निर्वाण अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

(२२)

अणोम दंसी निसण्णो,
पावेहिं कम्मेहिं।

आ०, ३, ११५, उ, २

टीका--जो सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र वाला है, जो संयमी है, वह पाप कर्मों से निवृत्त हुआ जैसा ही है। क्योकि उसके जीवन का तो प्रत्येक क्षण आत्म-चिंतन में ही जाता है, आत्म मनन में ही जाता है। ऐसी स्थिति मे उसके पाप-कर्मों के बन्धने का कारण ही क्या रहा ?

(२३)

अदीणो वित्ति मेसिज्जा।

द०, ५, २८, उ, द्वि

टीका--अदीन होकर यानी अपना गौरव अक्षुण्ण रख कर और आत्मा की अनन्त शक्ति पर विश्वास रखकर जीवन-निर्वाह के योग्य आवश्यक वस्तुओं की खोज करना चाहिये।

(२४)

जय संघ चंद ! निम्मल-
सम्मत्त विसुद्ध जोण्हागा।

नं०, ९

टीका--निर्मल सम्यक्त्व रूपी शुद्ध चाँदनी वाले हे चन्द्र रूप श्रीसंघ ! तुम्हारी जय हो, सदा तुम्हारी विजय हो।

(२५)

संघ पउमस्स भद्दं,

समण गण सहस्स पत्तस्स

न०, ८

टीका—श्रीसघ कमल रूप है, जिसके हजारो साधु रूपी सुन्दर आदर्श और गुणकारी पत्र लगे हुए है, ऐसा कमल रूप श्रीसघ हमारे लिये कल्याण कारी हो। ऐसे श्री सघ का सदैव कल्याण ही कल्याण हो।

योग-सूत्र

(१)

पंच निग्गहणा धीरा ।

द०, ३, ११

टीका—जो पाँचो इन्द्रियो का निग्रह करते हैं, विषयों से हटकर सेवा, त्याग, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति आदि सात्विक मार्ग में इन्द्रियो को चलाते है, वे ही धीर पुरुष हैं, वे ही आदर्श पुरुष है।

(२)

आय गुत्ते सया वीरे ।

आ०, ३, ११७ उ, ३

टीका—जो वीर होता है, जो महापुरुष होता है, वह सदैव अपने मन, वचन और काया को नियत्रण में रखता है। मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और काया-गुप्ति का वह सदैव सम्यक् रीत्या पालन करता है।

(३)

भावणा जोग सुद्धप्पा,
जलेणावा व आहिया ।

सू०, १५, ५

टीका—उत्तम-भावना के योग से जिसका अन्त.करण शुद्ध हो गया है, वह पुरुष ससार के स्वभाव को छोड़कर, ससार के मोह को त्याग कर, जल में नाव की तरह संसार-सागर के ऊपर रहता है। जैसे नाव जल में नही डूबती है, उसी तरह वह पुरुष भी संसार-सागर में नही डूबता। यह सब महिमा उत्तम भावना के साथ शुद्ध योग की है।

(४)

पच्छा पुरा व चइयव्वे ।
फेण बुब्बुय सन्निभे ।
उ०. १९, १४

टीका—यह शरीर आगे या पीछे छोडना ही पड़ेगा, इसकी स्थिति तो जल के फेन-या झाग के बुलबुले के समान है, जो कि अचानक और शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाला है ।

अनित्यवाद्-सूत्र

(१)

जीवियं चेववि रूव च,
विज्जु संपाय चंचलं ।

उ०, १८, १३

टीका—यह जीवन और रूप-सौन्दर्य, भोग और पौद्गलिक सुख, ये सव विजली के प्रकाश के समान चचल है, क्षणिक हैं । इसलिये भोगो मे मूर्च्छित न वनो । वासना और विकार को छोड़ो ।

(२)

इमं सरीरं अणिच्चं,
असुइं असुइ संभवं ।

उ०, १९, १३

टीका—यह शरीर अनित्य है । न मालूम किस क्षण नष्ट हो जाने वाला है । अशुचि से भरा हुआ है । मल-मूत्र, मांस, हड्डी, खून आदि घृणित पदार्थों से वना हुआ है । इसी प्रकार अशुचिमय कारणो से ही, घृणित और निंदनीय मैथुन से ही, अब्रह्मचर्यमय क्रिया से ही इसकी उत्पत्ति हुई है ।

(३)

असासया वासमिणं,
दुक्ख केसाण भायणं

उ०, १९, १३

टीका—जीव और शरीर का सम्वन्ध अशाश्वत् है, अस्थायी है, क्षणभगुर है, अचानक और शीघ्र टूट जाने वाला है । इसी प्रकार यह शरीर दु ख और क्लेशो का, विपत्ति और रोगों का घर है ।

(४)

एगग्ग मणसंनिवेसणा याए,
चित्तनिरोहं करेइ ।

उ०, २९, २५वाँ, ग

टीका—मनको एकाग्र करने से, चित्तको एक ही शुभ विचार पर स्थिर करने से अव्यवस्थित चित्तवृत्ति और अस्थिर चित्तवृत्ति से छुटकारा मिलता है। चित्त की समाधि होती है। और इससे मनोबल बढता है, जिससे कर्मण्यता, निर्भयता तथा कार्यकुशलता आदि सद्गुणों की वृद्धि होती है।

(५)

मणो साहस्सिओ भीमो,
दुट्ठस्सो परिधावई ।

उ०, २३, ५८

टीका—यह मन ही एक प्रकार का बड़ा दुस्साहसिक, भयकर और दुष्ट घोड़ा है, अनीति मार्ग पर दौड़ने वाला विनाशकारी घोड़ा है। यह रात और दिन सदैव स्वच्छद होकर विषयो के मार्ग पर दौडता रहता है। इस मन रूपी घोड़े पर नियन्त्रण रखना अत्यन्त आवश्यक है।

(६)

मण गुत्तो वय गुत्तो काय गुत्तो,
जिंइदिओ जावज्जीवं दढव्वओ ।

उ०, २२, ४९

टीका—मनको गोपकर, वचन को गोपकर, जितेन्द्रिय होकर, यावत् जीवन तक व्रत मे और धर्म मार्ग मे दृढ रहना चाहिये। धर्म मार्ग से विचलित नही होना चाहिये।

(७)

अल्लीण गुत्तो निसिए।

द०, ८, ४५,

टीका—सदैव मन और इन्द्रियो को वश मे रखने वाला बने। वचन, मन और काया को उपयोग के साथ मर्यादा में रखने वाला बने। उठने, बैठने आदि की क्रियाऐ मर्यादा वाली और विवेक वाली हो।

(८)

गुत्ते जुत्ते सदा जए आय परे।

सू०, २, १५, उ, ३

टीका—मन, वचन और काया को विषय, कषाय और भोग-उपभोग से हटाते हुए सदैव स्व और पर के कल्याण के लिये यत्न करते रहना ही मानवता है।

(९)

आयाग गुत्ते वलया विमुक्के।

सू०, १२, २२

टीका—कर्त्तव्य-निष्ठ पुरुष मन, वचन और काया को अपने वश मे रक्खे, इन्हे स्वच्छंद-रीति से नही विचरने दे। जीवन में माया-कपट को स्थान नही दे। मायाचार स्व-कल्याण और पर-कल्याण का विघातक है। इसलिये कल्याण की भावना वाला योगों पर सयम रखता हुआ अमायावी होकर जीवन व्यतीत करता रहे।

(१०)

अगुत्ते अणाणाए।

आ० १, ४३, उ, ५

टीका—जो मन, वचन और काया पर नियत्रण नही रखता है, इन योगो द्वारा अशुभ प्रवृत्तियो का सेवन करता है, वह भगवान की आज्ञा का आराधक नही है, किन्तु विराधक है।

कर्त्तव्य-मार्ग से अर्थात् मानवता के मार्ग से ऐसा पुरुष बहुत दूर है ।

(११)

जे इन्दियाणं विसया मणुन्ना,
न तेसु भावं निसिरे कयाइ ।

उ०, ३२, २१

टीका—इन्द्रियो के जो विषय, मनोज्ञ, सुन्दर और आकर्षक दिखाई देते है, उनमें चित्त को, आकाक्षा को और आसक्ति को कभी भी प्रस्थापित नही करना चाहिये ।

(१२)

नाणा रुइं च छन्दं च,
परिवज्जेज्ज संजओ ।

उ०, १८, ३०

टीका—नाना रुचि यानी मन की अस्थिरता को, अव्यवस्था को, अनवस्था को और छन्द यानी आसक्ति एव मूर्च्छा आदि को साधु पुरुष छोड़ दे । मन की अस्थिरता और चित्त की आसक्ति आत्मा की शक्तियों को छिन्न-भिन्न करने वाली है । अतएव आत्मार्थी इनका परित्याग कर दे ।

(१३)

अमणुन्न समुप्पायं दुक्खमेव ।

सू०, १, १०, उ, ३

टीका—अशुभ अनुष्ठान करने से ही—मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियो से ही दु ख की उत्पत्ति होती है ।

(१४)

सावज्ज जोगं परिवज्जयंतो,
चरेज्ज भिक्खू सुसमाहि इंदिए ।

उ०, २१, १३

टीका—सावद्य योग का-यानी पापकारी प्रवृत्तियो का परित्याग करते हुए समाधिस्थ होकर और चित्त वृत्तियों को रोक कर एवं इन्द्रियो का दमन करते हुए भिक्षु विचरे। आत्मार्थी अपना काल-क्षेप करे।

(१५)

सरीर माहु नावत्ति,
जीवो वुच्चइ नाविओ।

उ०, २३, ७३

टीका—यह मानव-शरीर संसार रूप समुद्र को तैरने के लिये नाव के समान है और भव्य आत्मा तैरने वाला नाविक है।

(१६)

न सव्व सव्वत्थ अभिरोयएज्जा।

उ०, २१, १५

टीका—प्रत्येक स्थान पर और प्रत्येक वस्तु के प्रति यानी सर्वत्र और सब वस्तुओ के प्रति मन को नही ललचावें। मन को वश में रक्खें।

(१७)

सद्देसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्वं
अकालियं पावइ से विणासं।

उ०, ३२, ३७

टीका—जो शब्दो में-यानी रागात्मक गीत-गायनों मे तीव्र गृद्धि भाव रखता है, इनमें मूर्च्छा-भावना और मूढ़ भावना रखता है, उसकी अकाल में ही मृत्यु होती है। वह अकाल में ही घोर-दुःख का भागी होता है।

(१८)

रूवेसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्वं
अकालिय पावइ से विणासं।

उ० ३२, २४

टीका—जो पुरुष रूप मे और स्त्री-सौंदर्य में तीव्र मूर्च्छा रखता है वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है। वह घोर दुर्गति का भागी बनता है।

(१९)

गन्धाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।

उ०, ३२, ५८

टीका—गध रूप घ्राण-इन्द्रिय के भोग मे फसे हुए मनुष्य के लिये कैसे सुख प्राप्त हो सकता है ? कब सुख प्राप्त हो सकता है ? क्योकि इन्द्रियाँ तो कभी तृप्त होती ही नही हैं, इनकी तृष्णा तो उत्तरोत्तर बढती ही चली जाती है।

(२०)

रसेसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्वं
अकालियं पावइ स विणासं।

उ०, ३२, ६३

टीका—जो प्राणी रस में, यानी जिह्वा के भोग में तीव्र गृद्धि भावना रखता है, महती आसक्ति रखता है, तो ऐसा प्राणी अनिष्ट एव नीच कर्मों का उपार्जन करता है और अकाल मे ही मृत्यु को प्राप्त होता है।

(२१)

फासेसु जो गिद्धि मुवेइतिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।

उ०, ३२, ७६

टीका—जो प्राणी स्पर्श इन्द्रिय के भोगो में तीव्र आसक्ति रखता है, जो भोगो में ही तल्लीन है, वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है।

(२२)

आवज्जई इन्द्रिय चोर वस्से।

उ०, ३२, १०४

टीका—जो आत्मा इन्द्रिय-भोग रूपी चोरो के वश मे पडा हुआ है, उसका जन्म-मरण कभी वद नही होने वाला है, वह तो ससार मे परिभ्रमण करता ही रहेगा।

(२३)

जे दूमण ते हि णो णया,
ते जाणंति समहि माहियं।

सू०, २, २७, उ, २

टीका—मन को दुष्ट वनाने वाले जो शब्द-गध आदि विषय है, जो इन्द्रियो के सुख है, उनमे जो आत्माये आसक्त नही होती है, वे ही अपने में स्थित राग-द्वेष का त्याग कर, अनासक्त होकर धर्म-ध्यान का असली रहस्य जानते ह या जान सकते है। इन्द्रिय सुख-भोग और धर्म-ध्यान का आरावन-दोनो साथ २ नही हो सकते है।

(२४)

विहरेज्ज समाहि इंदिए,
अत्तहियं ख दुहेण लब्भइ।

सू०, २, ३० उ, २

टीका—आत्महित का मार्ग, यानी वास्तविक कल्याण-मार्ग बहुत ही कठिनाई से प्राप्त होता है। इसलिये इन्द्रियो को वश में रखो। मन घोड़ा रूप है और इन्द्रियाँ लगाम रूप है-इसलिये लगाम द्वारा घोड़े को नियन्त्रित रखना चाहिए। इस तरह समाधि के साथ सयम का अनुष्ठान करे।

(२५)

मणसा काय वक्केणं,
णारंभी ण परिग्गही।

सू०, ९, ९

टीका—आत्महित की कामना वाला पुरुष, मन, वचन और काया से न तो आरंभी यानी तृष्णामय प्रयत्न वाला हो और न परिग्रही-यानी ममतामय संग्रह वाला हो। आरंभ और परिग्रह का त्याग करने पर ही आत्मा विकास की ओर गति कर सकती है।

(२६)

तिविहेणावि पाण माहणे।

सू०, २, २१, उ, ३

टीका—मन, वचन और काया से प्राणियो की हिसा नही करनी चाहिये। मन से किसी भी प्राणी के लिये अनिष्ट और घातक विचार अथवा षड्यन्त्र नही सोचना चाहिये। वचन से किसी भी प्राणी के लिये मर्म घातक या कष्ट दायक शव्द नही वोलना चाहिये। काया से किसी भी प्राणी को कष्ट, हानि अथवा मरणान्त दु ख नहीं पहुँचाना चाहिये। यानी तीनो योगो से प्राणी मात्र के लिये हित की ही कामना करनी चाहिये, इसी में कल्याण है।

(२७)

झाण जोगं समाहट्टु,
कायं विउसेज्ज सव्वसो।

सू०, ८, २६

टीका—आत्मार्थी पुरुप अथवा परमार्थी पुरुप, ध्यान-योग को ग्रहण करके, चित्त वृत्तियो को सुस्थित और एकाग्र करके, सव प्रकार से शरीर को वुरे व्यापारो से रोक दे। शरीर-कार्यों को एकान्त रूप से स्व-पर सेवा में लगा दे। इस प्रकार स्व-पर कल्याण में ही मग्न हो जाय।

(२८)

तओ गुत्तीओ पण्णात्ताओ,
मणगुत्ती, वयगुत्ती, कायगुत्ती।

ठाणा, ३ रा ठा, १ ला, उ, ९

टीका—गुप्तियाँ तीन प्रकार की कही गई है.—१ मन-गुप्ति २ वचन गुप्ति और ३ काया-गुप्ति। मन, शरीर और इन्द्रियों की प्रवृत्तियों पर विवेक-पूर्वक धर्मानुसार नियत्रण करना गुप्ति-धर्म है।

कर्मवाद-सूत्र

(१)

रागो य दोसोऽवि य कम्मबीयं ।

उ०, ३२, ७

टीका—राग और द्वेष, इष्ट पदार्थो पर आसक्ति, प्रिय पदार्थो पर मुर्च्छा और रति भाव, इसी प्रकार अप्रिय पदार्थो पर घृणा, ईर्षा और अरति भाव ही कर्म के मूल-बीज है ।

(२)

पदुट्ठ चित्तो य चिणाइ कम्मं ।

उ०, ३२, ५९

टीका—मूर्त्त रूपसे, बाह्य रूप से, शरीर द्वारा कोई कार्य नहीं करने पर भी यदि चित्त मे द्वेष भरा हुआ है, तो ऐसा प्राणी भी कर्मों का बध करता रहता है । निस्सदेह कर्मो के बधने और छूटने में मन की क्रिया का यानी चित्त की भावना का बहुत बड़ा सबध रहा हुआ है ।

(३)

कडाण कम्माण न मोक्खो अत्थि ।

उ०, १३, १०

टीका—बाध हुए कर्मो को भोगे विना उनसे मोक्ष यानी छुटकारा नही मिल सकता है । इसलिये कर्मों की निर्जरा के लिये तप, सयम, दया, दान, परोपकार, सेवा आदि का आचरण जीवन में अति आवश्यक है ।

(४)

कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ।

उ०, ४, ३

टीका—अपने किये हुए कर्मों को भोगे बिना उनसे छुटकारा नही मिल सकता है। इसलिये पाप-कर्मो को त्याग कर, पुण्य कर्मों का अर्थात् शुभ कर्मों का ही आचरण करना चाहिये।

(५)

कम्माणि बलवन्ति हि।

उ०, २५, ३०

टीका—कर्म ही बलवान् है। कर्मो के उदय होने पर बुद्धि और बल, धन और जन, सुख और सुविधा, कर्मानुसार हो जाते हैं। पुण्य कर्मों के उदय से अनुकूल सयोगो की प्राप्ति होती है और पाप-मय कर्मों के उदय से प्रतिकल सयोगो की प्राप्ति होती है।

(६)

कम्म च मोहप्प भवं।

उ०, ३२, ७

टीका—कर्म ही मोहको उत्पन्न करता है, यानी द्रव्य-आश्रव से भाव-आश्रव होता है, और भाव-आश्रव से द्रव्य आश्रव होता है।

(७)

गाढा य विवाग कम्मुणो।

उ०, १०, ४,

टीका—कर्मों का फल महान् कटु होता है, भयकर रूप से त्रास कारी होता है, इसलिये आश्रव को-यानी कर्म-द्वार को रोकना चाहिये। पाप प्रवृत्ति से बचना चाहिये।

(८)

कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो।

सू० २, ४, उ १

टीका—अशुभ-योग वाले प्राणी यानी अशुभ-प्रवृत्तियाँ वाले प्राणी कर्मों से सबंधित होते रहते है। उनके कर्मों का निरंतर आश्रव होता ही रहता है।

(९)

कम्मं च जाइ मरणस्स मूलं।

उ०, ३२, ७

टीका—कर्म से ही जन्म और मृत्यु के दुःख उठाने पड़ते हैं। जन्म-मृत्यु का मूल कर्म ही हैं।

(१०)

संसरइ सुहा सुहेहिं कम्मेहिं।

उ०, १०, १५

टीका—शुभ और अशुभ कर्मों के बल पर ही, जीवन और मरण का, सुख और दुःख का, उत्पत्ति और विनाश का चक्कर चलता है।

(११)

आहा कम्मेहिं गच्छई।

उ०, २, ३

टीका—प्रत्येक आत्मा स्व-कृत शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार ही सुख और दुःख का भागी बनता है। मूल में कर्म ही सुख-दुख के कर्त्ता है। अन्य तो निमित्त मात्र है।

(१२)

कम्मुणा उवाही जायइ।

आ०, ३, ११०, उ, १

टीका—कर्मों से ही यानी अशुभ कार्यों से ही, जन्म, मरण, वृद्धत्व, रोग, नानापीड़ाएँ, विषम संयोग-वियोग, भव-भ्रमण आदि उपाधियाँ पैदा हुआ करती है।

(१३)

इहं तु कम्माइं पुरे कडाइं।

उ०, १३, १९

टीका—यहाँ पर जो कुछ भी सुख-दु.ख मिलता है, वह सब पहिले किये हुए कर्मो का ही फल है।

(१४)

सकम्म वीओ अवसो पयाइ,
परं भवं सुंदर पावगं वा।

उ०, १३, २४,

टीका—यह जीव एक तो आप स्वय और दूसरे कर्म को लेकर कैदी के समान परवशता को प्राप्त होता हुआ कर्मानुसार परलोक में या तो सुन्दर स्थान को अर्थात् देवगति आदि को–अथवा पाप स्थान को यानी नरक आदि को जाता है। यथा कर्म तथा गति अनुसार स्थिति को प्राप्त होता है।

(१५)

असुहाण कम्माणं निज्जाणंपावगं

उ०, २१, ९

टीका—अशुभ कर्मों का अन्तिम फल निश्चय मे पाप रूप ही होता है, महान् वेदना रूप ही होता है।

(१६)

अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे,
न मूलओ छिंदइ वन्धणं से।

उ०, २०, ३९

टीका—जो आत्मा निर्वल होकर इन्द्रियो के अधीन हो जाता है तथा रसो मे मुर्च्छित हो जाता है, वह राग द्वेष जनित कर्म वधन का उच्छेद जड-मूल से नही कर सकता है।

(१७)

कत्तार मेव अणुजाइ कम्मं ।

उ०, १३, २३,

टीका—जो जीव कर्मों का वध करता है, वे कर्म सुख दुख देने की शक्ति को अर्थात् विपाक-शक्ति को साथ मे लेकर ही उस जीव के साथ साथ जाते है। कर्म परमाणु जीव-कर्त्ता के अनुयायी होते है।

(१८)

कम्मुणा तेण संजुत्तो गच्छई उ परं भवं ।

उ०, १८, १७

टीका—मृत्यु प्राप्त होने पर जीव केवल कर्मो से-यानी पाप-पुण्यो से सयुक्त होता हुआ ही पर-भव को जाता है। धन-वैभव, कुटुम्व आदि तो सव ज्यो के त्यो यही पर रह जाने वाले है।

(१९)

अज्झत्थ हेउं निययस्स वन्धो,
संसार हेउं च वयन्ति बन्धं ।

उ०, १४, १९

टीका—अध्यात्म हेतु यानी मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय, अशुभ योग और अव्रत, ये वन्ध के कारण है। और यह बन्ध ही ससार को वढाने वाला है। ऐसा महर्षि, सन्त, महात्मा गण कहते है।

(२०)

अभिणूम कडेहिं मूच्छिए,
तिव्वं ते कम्मेहिं किच्चती ।

सू०, २, ७, उ, १

टीका—जो पुरुप मायामय कामो मे सलग्न है, माया मे मूच्छित है, वे कर्मों द्वारा अत्यन्त पीडित किये जाते है। उनको घोर दुख उठाना पडता है। सुख उनको मिल ही नही सकता है।

(२१)

जहा कडं कम्म तहा से भारे ।

सू०, ५, २६, उ, १

टीका—पूर्व जन्म मे जिसने जैसे कर्म किये है, उन कर्मो के अनुसार ही उसे पीड़ा प्राप्त होती है । यथा कर्म-तथा फल, इसलिये दु.ख के समय धैर्य और सतोष रखना चाहिये ।

(२२)

जं जारिसं पुव्व मकासि कम्मं,
तमेव आगच्छति संपराए ।

सू०, ५, २३, उ, २

टीका—प्राणियो ने पूर्व जन्म मे जेसी स्थिति वाले तथा जैसे प्रभाव वाले जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट कर्म किये है, दूसरे जन्म मे वैसी ही स्थिति वाले और वैसे ही प्रभाव वाले जघन्य, मध्य और सयोग-वियोग रूप फल पाते है । इसलिये विचार कर काम करना चाहिये, जिससे इस लोक और पर लोक मे शाति मिले ।

(२३)

कम्मी कम्मेहिं किच्चती ।

सू०, ९, ४

टीका—पाप कर्म करने वाला अकेला ही पाप कर्मों के फल को भोगता है । उसमे हिस्सा वटाने के लिये न तो कोई समर्थ है और न कोई हिस्सा वटाने के लिये ही आता है ।

(२४)

वाला वेदंति कम्माइं पुरे कडाइं ।

सू०, ५, १, उ, २

टीका—विवेक-भ्रष्ट और अनीति के मार्ग पर चलने वाले अज्ञानी मनुष्य पूर्व जन्म मे किये हुए अपने कर्मों का फल अवश्य

भोगते है । पाप का फल अवश्य भोगना पडता है, यह प्रकृति का अटल नियम है ।

(२५)

सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ।

सू०, ७, ११

टीका—जीव अपने कर्म के बल से ही सुख के लिये इच्छा करता हुआ भी दु ख ही पाता है । कर्म-गति बलीयसी, बड़े २ तीर्थंकर, चक्रवर्ती, गणधर, आचार्य आदि सभी कर्म के आगे क्या कर सकते है ?

(२६)

चउव्विहे वंधे, पगइ वंधे, ठिइवंधे,
अणुभाव वंधे, पएस वंधे ।

ठाणां०, ४ था, ठा, उ, २, २७

टीका—आत्मा के साथ बन्धने वाले कर्मो का बन्ध चार प्रकार का कहा गया है —१ प्रकृति बन्ध, २ स्थिति बन्ध, ३ अनुभाव बन्ध और ४ प्रदेश बन्ध ।

(२७)

आयाणिज्जं परिन्नाय परियाएणा विगिंचइ ।

आ०, ६, १८१, उ, २

टीका—-कर्म-सिद्धान्त के अनुसार कर्मो के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग आदि भेद-प्रभेद को और इनके स्वरूप को जान कर ज्ञानी सयम-धर्म के द्वारा पूर्व सचित कर्मो का क्षय करे । इस रीति से कर्मो की निर्जरा करके मोक्ष को प्राप्त करे ।

(२८)

देह दुक्खं महाफलं ।

द०, ८, २७

टीका—दु खो की उत्पत्ति पूर्व कर्मो के उदय का फल है। इसलिये यदि कर्मों के उदय से शरीर मे व्याधि खडी हो जाय, शरीर मे नाना रोगो का श्री गणेश हो जाय तो भी चित्त मे शाति रक्खे, सहिष्णुता से उन्हे सहन करे। इसीमे महान् सुख का खजाना रहा हुआ है।

☙

कषाय-सूत्र

(१)

छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं ।

द०, २, ५,

टीका—द्वेष, अरति और ईर्षा को छोड दो । राग, मोह और आसक्ति का विनाश कर दो ।

(२)

रागस्स हेउं समणुन्न माहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्ना महु ।

उ०, ३२, ३६

टीका—राग का कारण आसक्ति भावना है और द्वेप का कारण घृणा-भावना है । इस प्रकार राग और द्वेष ही विश्व-वृक्ष है । ससार भ्रमण के मूल कारण है ।

(३)

राग दोसा दओ तिव्वा,
नेह पासा भयंकरा ।

उ०, २३, ४३

टीका—रागद्वेष आदि कषाय रूपी पाश और तीव्र मोह रूपी पाश वडी ही भयकर है । मोह, माया और ममता पाश रूप ही है, जाल रूप ही है । ससारी आत्माएँ इसी जाल मे फँसी हुई है । समर्थ और स्थिर समाधि वाली आत्माएँ ही इस पाश से मुक्ति पा सकती है

(४)

कसाया अग्गिणो वुत्ता,
सुय सील तवो जलं ।

उ०, २३, ५३

टीका—कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों जाज्वल्यमान अग्नि है, इनको शांत करने के लिये श्रुत-शास्त्र का और सात्विक साहित्यका अध्ययन, पठन-पाठन, मनन-चिन्तन ही शक्तिशाली जल है। ब्रह्मचर्य और मर्यादा पालन कषाय-अग्नि को शांत कर सकता है। तथा बारह प्रकार का बाह्य और आभ्यतर तप भी कषाय-अग्नि को बुझा सकता है।

(५)

चत्तारि वमे सया कसाए ।

द०, १०, ६

टीका—सदैव चारों कषायो का, क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करते रहना चाहिये। क्योंकि कषाय से मुक्ति होगी, तभी ससार से भी मुक्ति प्राप्त हो सकेगी।

(६)

वमे चत्तारि दोसे उ इच्छंतो हिय मप्पणो ।

द०, ८, ३७

टीका—क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चारो दोषो को छोड दो। यदि अपना हित चाहते हो तो इनका नाश कर दो। कषाय-मुक्ति ही मोक्ष का सच्चा मार्ग है, यह नही भूलना चाहिये।

(७)

चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचिंति मूलाइं पुणब्भवस्स ।

द०, ८, ४०

टीका—ये चारों कषाय-क्रोध, मान, माया और लोभ, पुनर्भव की अर्थात् जन्म-मरण की जड़े सीचते रहते है। इन कषायो के बल से ही अनन्त ससार की वृद्धि होती रहती है।

(८)

वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ।

सू०, १०, २१

टीका—वासना और कषाय के वश होकर, भोगों से आकर्षित होकर, जीव वैर तो बाँध लेते हैं, परन्तु यह नहीं जानते हैं कि वैर-बाँधना इस लोक और परलोक में महान भय पैदा करना है, महान् दुःख मोल लेना है ।

(९)

वेराणुगिद्धे णिचयं करेति ।

सू०, १०, ९

टीका—जो प्राणी अन्य प्राणियों के साथ वैर-भाव रखता है, प्रति-स्पर्धा जनित राग-द्वेष के भाव रखता है, वह घोर पाप कर्म का उपार्जन करता है, वह चिकने कर्मों का बंध करता है ।

(१०)

माया मोसं विवज्जए।

द०, ५, ५१, उ, द्वि०

टीका—बुद्धिमान् अपने कल्याण के लिये, अणु-मात्र भी, थोड़ा सा भी माया-मृषावाद नहीं बोले यानी कपट पूर्वक झूठ मिथ्यात्व का पोषक है और मोक्ष का नाशक है ।

(११)

माया मित्ताणि नासेइ ।

द०, ८, ३८

टीका—माया या कपट, मित्रता का नाश कर देता है । सम्यक्त्व का भी कपट से नाश हो सकता है । कपट से विश्वास उठ जाता है ।

(१२)

माया गई पडिग्घाओ,
लोभाओ दुहओ भयं ।

उ०, ९, ५४

टीका—माया से अच्छी गति का नाश होता है, और लोभ से दोनो लोक में भय पैदा होता है ।

(१३)

पेज्जवत्तिया मुच्छा दुविहा,
माए चेव लोहे चेव ।

ठाणा, २, रा, ठा, उ, ४, १३

टीका—राग यानी मूर्च्छा और राग जनित आसक्ति दो कारणों से हुआ करती है :— १ माया से और २ लोभ से ।

(१४)

मायं च वज्जए सया ।

उ०, १, २४

टीका—माया का. कपट का सदैव परित्याग करते रहना चाहिए क्योंकि माया आत्म-विकास के मार्ग में शल्य समान है, काटे के समान है । माया मैत्री का और सहृदयता का नाश करने वाली है ।

(१५)

जे इह मायाइ मिज्जई,
आगंता गब्भाय णंतसो ।

सू०, २, ९, उ, १

टीका—जो पुरुष यहाँ पर माया आदि कषाय का सेवन करता है, कपट क्रियाओं में ही सुख मानता है, उसे अनन्त बार जन्म-मरण धारण करने पड़ते है । उसे अनेक वार गर्भ में आने के दुःख उठाने पड़ेगें ।

(१६)

जे माण दंसी. से माया दंसी।

आ०, ३, १२६, उ, ४

टीका—जो मान वाला है, उसके हृदय मे कपट है ही। जिसके हृदय मे मान होता है, उसके हृदय मे कपट भी होता ही है। मान और माया का सहचर सम्बन्ध है।

(१७)

माणो विणय नासणो।

द०, ८, ३८

टीका—मान विनय का नाश करता है, नम्रता को दूर भगाता है। मान से आत्मा मे गुणो का विकास होना रुक जाता है।

(१८)

अत्तणं न समुक्कसे।

द०, ८, ३०

टीका—अपने आपको बडा नही समझे, यानी अहकार का सेवन नही करे। अहकार-सेवन से आत्माकी उन्नति रुकती है, ज्ञान-दर्शन और चारित्र मे बाधा पहुँचती है, एव मरणात मे दुर्गति की प्राप्ति होती है।

(१९)

न बाहिरं परिभवे।

द०, ८, ३०

टीका—कभी किसी का तिरस्कार नही करे। तिरस्कार करने से पर के मर्म की हिसा होती है, तथा अपनी आत्मा मे मान-कषाय का पोषण होता है।

(२०)

सुअलाभे न मज्जिज्जा।

द०, ८, ३०

टीका—बहुत विद्वान् होने पर भी विद्या का अभिमान नहीं करे। अपने श्रुत-ज्ञान के प्रति अहंकार-भावना नही लावे। अहंकारी का सदैव सिर नीचा ही रहता है।

(२१)

इमा पया बहु माया,
मोहेण पाउडा ।

सू०, २, २२, उ, २

टीका—भौतिक-सुख की मान्यता वाली आत्माएं माया आदि कषाय से युक्त होती है। और मोह से ग्रसित होती हैं। ऐसी आत्माएं अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करती रहती है।

(२२)

छन्नं च पसंस णो करे,
न य उक्कोस पगास माहणे ।

सू०, २, २९, उ, २

टीका—विवेक शील पुरुष, छन्न यानी अभिप्राय को छिपाने रूप माया न करे। प्रशस्य-यानी सभी ससारी आत्माओ मे रहने वाला लोभ भी न करे। उत्कर्ष यानी जन साधारण को विवेक हीन कर देने वाला जो अभिमान है, उसको भी स्थान न दे। इसी प्रकार प्रकाश यानी आत्मा के स्वभाव को विकृत रूप से पेश करने वाला जो क्रोध हैं, उसको भी तिलांजली दे दे। "कषाय-मुक्ति किल मुक्ति रेव" यही सिद्धात आदर्श है।

(२३)

अहे वयइ कोहेणं,
माणेणं अहमा गई ।

उ०, ९, ५४

टीका—क्रोध से अधोगति मे जाता है और मान से नीच-गति की प्राप्ति होती है।

(२४)

उक्कसं जलणं णूमं,
मज्झत्थं च विगिंचए।

सू०, १, १२, उ, ४

टीका—आत्मा का हित चाहने वाला पुरुष, क्रोध. मान, माया और लोभ का त्याग कर दे। कषाय के त्याग मे ही आत्मा का अमर सुख रहा हुआ है।

(२५)

णो कुज्झे णो माणि।

सू०, २, ६ उ, २

टीका—न तो क्रोध करे और न मान करे। आत्मार्थी का यही मार्ग है। परमार्थी का यही जीवन—व्यवहार है।

(२६)

कोहं माणं ण पत्थए।

सू०, ११, ३५

टीका—क्रोध और मान को सर्वथा छोड़ दो। क्रोध नाना पापों को लाने वाला है। यह विवेक, समता, सद्बुद्धि आदि गुणों का नाश करने वाला है। इसी प्रकार मान भी सभी गुणो का नाश करने वाला है। आत्माकी उन्नति को रोक कर उसे पीछे धकेलने वाला है।

(२७)

जे कोहदंसी से माणदंसी।

आ०, ३, १२६, उ, ४

टीका—जो क्रोधी है, वह मानी भी है ही। जिसके हृदय में क्रोध का निवास है, उसके हृदय मे मान भी अवश्य है। क्रोध और मान का परस्पर मे अविनाभाव सम्बन्ध समझना चाहिये।

(२८)

दोस वत्तिया मुच्छा दुविहा,
कोहे चेव, माणे चेव।

ठाणा, २रा, ठा, उ, ४, १३

टीका—द्वेष-मूर्च्छा, अथवा द्वेष-जनित घृणा, दो कारणो से हुआ करती है :— १ क्रोध से और २ मान से।

(२९)

सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे,
विउमंता पयहिज्ज संथवं।

सू०, २, ११, उ, २

टीका—सूक्ष्म शल्य का नाश करना यानी अभिमान का त्याग करना वड़ा ही दुष्कर काम है। जड़ मूल से इसको उखाड़ फेकना अत्यन्त कठिन है, इसलिये आत्मार्थी पुरुष वदना-पूजना आदि रूप परिचय से दूर रहे। मुमुक्षु आत्मा वदना-पूजना, यश-कीर्ति की वाछा न करे। सेवा और त्याग को ही सर्वस्व समझे।

(३०)

दुविहे बंधे पेज्ज बंधे चेव,
दोस बंधे चेव।

ठाणा, २ रा, ठा, उ, ४, ४

टीका—आत्मा के साथ कर्मों का बधन दो कारणो से हुआ करता है—१ राग भाव से और २ द्वेष भाव से। माया और लोभ के कारण से राग भाव पैदा होता है, तथा क्रोध और मान से द्वेष भाव पैदा हुआ करता है।

(३१)

एत्थ मोहे पुणो पुणो।

आ०, ५, १४३, उ, १

टीका—जब तक ज्ञान, दर्शन और चारित्र का आराधन करके आत्मा को पूर्ण निर्मल नहीं किया जायगा, शात और अनासक्त नही किया जायगा, तब तक वार बार मोह अपनी ताकत लगाता ही रहेगा। मोह की प्रवृत्तियो का प्रवाह अनासक्त होने पर ही रुक सकता है, अन्यथा नही।

(३२)

मोहेण गब्भं मरणाइं एइ।

आ०, ५, १४३, उ, १

टीका—मोह कर्म के कारण से ही ससारी जीव को बार बार गर्भ मे आना पड़ता है और बार बार मृत्यु के चक्कर मे फसना पडता है। मोह की महिमा बहुत ही गूढ है, वह अनेक रूप धारण कर जीवन में आता है। मोह आत्मा को मदिरा के समान बेभान कर देता है। ससार का सारा चक्र मोह रूपी नट के हाथ में ही स्थित है।

(३३)

अहिगरणं न करेज्ज पंडिए।

सू० २, १९, उ, २

टीका—जो पडित है, यानी जो आत्मा को शाश्वत् सुख में पहुँचाना चाहता है, तो उसको कलह से दूर ही रहना चाहिये। वैर-भाव, लडाई-झगडा आदि के स्थान पर प्रेम, सहानुभूति और बन्धुत्व भावना रखनी चाहिये।

(३४)

आरंभ संभिया कामा,
न ते दुक्ख विमोयगा।

सू०, ९, ३

टीका—जो विषय लोलुप है, और जो तृष्णा मय आरंभ कार्यों से भरे हुए है, ऐसे पुरुष दुःखो से यानी आठो कर्मो के जाल से मुक्त होने वाले नही है। वे तो कोल्हू के बैल के समान निरन्तर संसार में ही चक्कर लगाते रहेगे।

(३५)

अणुवसन्तेणं दुक्करं दमसागरो।

उ०, १९, ४३

टीका—जिस आत्मा की कषाय वृत्ति शान्त नही है, ऐसी आत्मा से दम रूप समुद्र का यानी इन्द्रिय-दमन रूप सागर का-तैरा जाना दुष्कर है। ससार से मुक्ति पाने के लिये कषायो पर विजय प्राप्त करना सर्व प्रथम आवश्यक है।

(३६)

अवि ओसिए घासति पावकम्मी।

सू०, १३, ५

टीका—कलह आदि कषाय मे और ईर्षा-द्वेष में सलग्न पुरुष अधम है, वह पाप कर्मी है, और दु ख का ही भागी है।

(३७)

जो विग्गहीए अन्नाय भासी,
न से समे होइ अझंझपत्ते।

सू०, १३, ६

टीका—जिस पुरुष की वृत्ति ही झगडा करने की हो गई है, तथा जो न्याय को छोड़कर बोलता है, यानी अनीति पूर्वक भाषण करता है, ऐसा पुरुष राग और द्वेष से युक्त होने के कारण समता धर्म नही प्राप्त कर सकता है, वह शाति का अनुभव नही कर सकता है और न कलह से ही उसका छुटकारा हो सकता है।

★

कामादि-सूत्र

(१)

नागो जहा पंक तलाव सन्नो,
एवं वयं काम गुणेसु गिद्धा ।

उ० १३, ३०

टीका—जैसे हाथी कीचड़ वाले तालाब मे फस जाता है और कीचड़ की वहुतायत से वही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही हम संसारी जीव भी काम-भोगो मे फसे हुए है और अंत मे मर कर दुर्गति को प्राप्त होते है।

(२)

अबंभ चरिअ घोरं ।

द०, ६, १६

टीका—अब्रह्मचर्य, मैथुन या वीर्य-नाश घोर पाप है, इससे आत्मा का तो पतन होता ही है, परन्तु शारीरिक, मानसिक और वाचिक शक्तियाँ भी इससे नष्ट होती है। सासारिक आपत्तियाँ भी नाना प्रकार की इससे पैदा हो जाती है।

(३)

इत्थी वसं गया वाला,
जिण-सासण परम्मुहा ।

सू०, ३, ९, ३, ४

टीका—स्त्री के वश में गये हुए जीव यानी ब्रह्मचर्य का पालन नही करने वाले मूर्ख-अज्ञानी जीव, जिन-शासन से—अहिंसा धर्म से परामुख है यानी ऐसे कामी पुरुष जिन-शासन के पालक या आराधक नही कहे जा सकते है।

(४)

रूवेहिं लुप्पंति भयावहेहिं ।

सू० १३, २१

टीका—स्त्री का रूप, अग-प्रत्यंग आदि भयकर हैं, जो पुरुष स्त्री के रूप मे आसक्त होते है, उनकी इस लोक मे भी निंदा होती है, और पर लोक मे नरक-आदि नीच-गति की प्राप्ति होती है। दोनो लोक मे स्त्री-आसक्ति से विविध दुःख, ताडना, मारना आदि पीडाऐ सहन करनी पडती है।

(५)

कामे कमाही, कमियं खु दुक्खं ।

द०, २, ५

टीका—कामनाओ को यानी पांचो इन्द्रिय संबधी विषयो को और मन की वासनाओ को हटा दो। इससे दु ख, सक्लेश, जन्म-मरण आदि व्याधियॉ अपने आप ही हट जायगी। विषय-वासना का नाश ही दुःख का नाश है।

(६)

मूलमेय महमस्स ।

द०, ६, १७

टीका—यह अब्रह्मचर्य पाप की जड़ ह, अधर्म का मूल है। यह सभी प्रकार के पतन और दुःखो को लाने वाला है। इस लोक और परलोक मे शांति चाहने वाले को इससे वचना चाहिये।

(७)

सल्लं कामा विसं कामा,
कामा आसी विसोवमा ।

उ०, ९, ५३

टीका—ये काम-भोग तीक्ष्ण नोक वाले शल्य यानी काटे के समान है, जो कि शरीर और चित्त में गहरे घुसकर रात और दिन

पीडा पहुचाते रहते है। ये मधु-मिश्रित विष के समान है, जो कि भोगते समय तो मधुर दिखाई देते हैं, किन्तु परिणाम मे घोर दुख के देने वाले हैं। ये काम-भोग, जिसके डाढ़ में जहर है ऐसे सर्प के समान है, जो कि देखने मे तो सुन्दर है, किन्तु स्पर्श करते ही आत्मा मे महान् अनर्थ पैदा करने वाले है।

(८)

दुप्परिच्चया इमे कामा,
नो सुजहा अधीर पुरिसेहिं।

उ०, ८, ६

टीका—ये काम-विकार अत्यत कठिनाई से छूटते है, इसलिये अधीर पुरुषो से-निर्बल आत्माओ से ये विकार सरलता के साथ नही त्यागे जा सकते है। इनके लिये धैर्य और दृढ निश्चय की आवश्यकता है।

(९)

कामा दुरतिक्कमा।

आ०, २, ९३, उ, ५

टीका—काम-भोगो की इच्छाऐ बहुत ही कठिनाई से जीती जाती है। बहुत ही सावधानी के साथ, ज्ञान-पूर्वक प्रयत्न करने पर ही इन पर विजय और नियन्त्रण किया जा सकता है। इसलिये कभी भी काम-इच्छा को जीतने के प्रति ढीलाई नही रखनी चाहिये। बल्कि हर क्षण इनके लिये जागृत और प्रयत्न शील रहना चाहिये।

(१०)

काम भोग रसगिद्धा,
उववज्जन्ति आसुरे काए।

उ०, ८, १४,

टीका—काम-भोगो मे मूर्च्छित, इन्द्रिय-रसो मे आसक्त, विकार और वासनाओ मे मूढ आत्माऐ मर कर असुर कुमारो मे-हलकी जाति के देवो मे उत्पन्न होती है।

(११)

उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीण फलं व पक्खी ।

उ०, १३, ३१

टीका—जैसे पक्षी फल हीन वृक्ष को छोडकर चले जाते हैं, वैसे ही काम-भोग भी पुरुप को क्षीण करके छोड देते हैं, यानी काम-भोगो से पुरुप क्षीण होकर, अशक्त होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

(१२)

भोगा इमे संग करा हवंति ।

उ०, १३, २७

टीका—ये काम भोग ही, इन्द्रिय-पोषण की प्रवृत्तियाँ ही, दु ख देने वाले कर्मों का अर्थात् अनन्त जन्म मरण कराने वाले कर्मो का घोर वधन कराने वाली होती है।

(१३)

खाणी अणत्थाण उ काम भोगा ।

उ०, १४, १३

टीका—काम-भोग और इन्द्रिय-विषय-विकार, अनर्थों की खान है। ये अनन्त विपत्ति और घोर पतन को लाने वाले है।

(१४)

कामे संसार वड्ढणे,
संकमाणो तणुं चरे ।

उ०, १४, ४७

टीका—काम-भोग अर्थात् मूर्च्छा और विकार वासना, इन्द्रिय-भोगो की आसक्ति ससार के दुखो को वढाने वाली है। भोगो से कदापि तृप्ति होने की नही है। ऐसा समझ कर यत्न पूर्वक इन से दूर होकर विचरण करे, अपना जीवन व्यतीत करे।

(१५)

दुज्जए काम भोगे य,
निच्चसो परिवज्जए ।

उ०, १६, १४

टीका—ये काम-भोग अत्यत कठिनाई से जीते जाने वाले हैं, पूर्ण ज्ञान-साधना और सतत जागरूकता होने पर ही इन काम-भोगो पर विजय प्राप्त की जा सकती है । अतएव सदैव के लिये ब्रह्मचारी इनका परित्याग कर दे ।

(१६)

काम भोगे य दुच्चए ।

उ०, १४, ४९

टीका—ये काम-भोग अत्यत कठिनाई से त्यागे जाते है । इनसे पिड छुडाना महान् कठिन है । यत्न पूर्वक और ज्ञान पूर्वक ही भोगों का त्याग किया जा सकता है । इसलिये सदैव भोगो के प्रति जागरूक रहने की-सावधान रहने की आवश्यकता है ।

(१७)

सत्ता कामेसु माणवा ।

आ०, ६, १७५, उ, १

टीका—आश्चर्य की बात है कि मनुष्य काम-भोगो मे फसे हुए है । पर-लोक, मौत और नाना-विध दु खो का जरा भी विचार भोग भोगते समय नही किया करते है । आयु क्षीण हो रही है, परन्तु इसका उन्हे जरा भी ख्याल नही है । क्या यह आश्चर्य की बात नही है ?

(१८)

न कामभोगा समयं उवेन्ति ।

उ०, ३२, १०१

टीका—काम-भोगो मे आसक्त रहता हुआ प्राणी कभी भी राग द्वेष से रहित नहीं हो सकता है।

(१९)

काम भोगाणु राएणं केसं संपडिवज्जई।

उ०, ५, ७

टीका—काम भोग के अनुराग से, भोगों में आसक्ति रखने से क्लेश ही क्लेश प्राप्त होता है। भोगो से सुख की आशा करना बालू से तेल निकालने के समान है।

(२०)

काम भोगा विसं तालउडं।

उ०, १६, १३

टीका—काम-भोग तालपुट विष के समान है जो कि तत्काल मृत्यु को लाने वाले है। आत्मा के गुणो का नाश करने वाले है। शीघ्र ही अधोगति को देने वाले है। काम-भोगो से सिवाय विनाश के, सिवाय नाना विध दुःखो की प्राप्ति के अन्य कुछ भी प्राप्त होने वाला नही है।

(२१)

वित्ते गिद्धे य इत्थसु,
दुहओ मलं संचिणइ।

उ०, ५, १०

टीका—स्त्रियो मे और धन में मूर्च्छित होने से, इनमें आसक्त रहने से, आत्मा इस लोक मे भी अपना समय, अपनी शक्ति-और अपना जीवन व्यर्थ खोता है, तथा पर लोक मे भी नाना तरह के दुःख उठाता है। वास्तव मे भोग घृणित वस्तु है।

(२२)

जहा य किंपाग फला मणोरमा,
एओवमा काम गुणा विवागे।

उ०, ३२, २०

टीका—जैसे किंपाक-फल देखने मे सुन्दर और आकर्षक होते है, खाने मे स्वादिष्ट और मधुर होते है, परन्तु परिणाम मे विष रूप है, प्राण-नाशक है, वैसे ही काम-भोग भी देखने मे सुन्दर, आकर्षक, मनोरम होते है और भोगने मे क्षण-भर के लिये-थोड़ी देर के लिये आनन्द-जनक, सुख दायक प्रतीत होते है, परन्तु फल मे आत्म-घातक, दुर्गति-दायक और अनन्त जन्म-मरण के बढ़ाने वाले होते है।

(२३)

कामाणु गिद्धिप्पभवं खु दुक्खं।

उ०, ३२, १९

टीका—निश्चय करके दुःखो की उत्पत्ति काम-भोगो मे मूर्च्छित होने से पैदा होती है। मूर्च्छा ही दुःख है।

(२४)

कुररी वि वा भोग रसाणु गिद्धा,
निरट्ठ सोया परितावमेइ।

उ०, २०, ५०

टीका—काम भोगो में और इन्द्रिय रसो में निरन्तर आसक्त जीव, विकार और वासनाओ मे मूर्च्छित जीव, निरर्थक शोक करने वाली कुररी नामक पक्षिणी की तरह मरने पर घोर वेदना और असह्य परिताप को ही प्राप्त होता है।

(२५)

सन्नाइह काम-मुच्छिया,
मोहं जंति नरा असंवुडा।

सू०, २, १०, उ, १

टीका—जो पुरुष अथवा जो आत्माऐं इस मनुष्य-भव मे, अथवा इस ससार मे आसक्त हैं, एव काम-भोग में मूर्च्छित हैं, तथा हिसा आदि पापो से निवृत्त नही है, वे पुरुष मोहनीय-कर्म का सचय करते हैं।

(२६)

गिद्ध नरा कामेसु मुच्छिया।

सू०, २, ८, उ, ३

टीका—क्षुद्र मनुष्य ही काम भोग मे मूर्च्छित होते हैं। लघु प्रकृति के जीव ही विषयो मे आसक्त होकर नरक आदि यातना-स्थान को प्राप्त करते हैं।

(२७)

वज्जए इत्थी विसलित्तं, व कंटगं नच्चा।

सू०, ४, ११, उ, १

टीका—जैसे विष-लिप्त काटा तत्काल निकाल कर फेक दिया जाता है, उसी प्रकार अनन्त जन्म-मरण को उत्पन्न करने वाले स्त्री रूप काटे को भी तत्काल छोड़ देना चाहिये। यानी पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ जीवन-व्यतीत करना चाहिए। जीवन विकास के इच्छुक को सर्व-प्रथम ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिये।

(२८)

नो विहरे सह णमित्थीसु।

सू० ४, १२, उ, १

टीका—आत्म-कल्याण की भावना वाला, स्व-पर-सेवा की इच्छा वाला, स्त्रियो के साथ विहार नही करे। स्त्रियो की सगति से सदैव दूर रहे।

(२९)

अद्‌क्खु कामाइं रोगवं ।

सू०, २, २, उ, ३

टीका—जिन्होंने निश्चय रूप से, अडोल हृदय से, काम-भोगों को साक्षात् रोग रूप समझ लिया है, मैथुन को दु.खों का मूल-स्थान और आदि-कारण समझ लिया है, वे मुक्त-आत्मा के समान ही है, उन्हे शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त होगी, इसमे जरा भी सदेह नही है।

(३०)

विसन्ना विसयं गणाहिं,
दुहओऽवि लोयं अणु संचरंति ।

सू०, १२, १४

टीका—जो जीव विषयो मे अर्थात् भोगो में और स्त्रियो में आसक्त है, जो विषयांध है, भोगांध है या कामांध है, वे वार वार स्थावर और त्रस-योनियो में जन्म लेते है, अनन्त जन्म मरण करते है, उनको संसार में अनन्त काल तक परिभ्रमण करना पड़ेगा।

(३१)

विसएसणं झियायंति,
कंका वा कलुसाहमा ।

सू० ११, २८

टीका—जो विषय-भोगो की प्राप्ति का ध्यान करते रहते है, वे ढक पक्षी की तरह पापी और अधम है। जैसे ढक आदि पक्षी सदैव मछली पकड़ने का ही ख्याल रखते है, वैसे ही मूढ़ जन भी सदैव विषय-पोषण और विकार सेवन का ही ख्याल रखते है। ऐसे प्राणी निश्चय ही नीच और दुष्ट है, तथा निरन्तर दु:ख के ही भागी है।

(३२)

सव्व लोयंसि जे कामा,
तं विज्जं परिजाणिया ।

सू०, ९, २२

टीका—समस्त लोक में जो काम-भोग है, विद्वान् पुरुष उनको दुःख के कारण समझ कर तथा ससार में परिभ्रमण कराने वाले समझ कर उन्हे त्याग दे । काम भोग से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद कर दे ।

(३३)

पंचविहे काम गुणे निच्चसो परिवज्जए ।

उ०, १६, १०,

टीका—पांचो प्रकार के काम गुणो को–(१) मधुर काम वर्द्धक शब्द, (२) काम दृष्टि से देखना (३) पुष्प माला आदि सुगन्धित पदार्थो का शृङ्गार, (४) काम वर्द्धक-भोजन और (५) काम वर्द्धक स्पर्श-क्रिया आदि को ब्रह्मचारी सदैव के लिये छोड़ दे । ब्रह्मचर्य की घात करने वाली पांचो इन्द्रियो की प्रवृत्ति का ब्रह्मचारी परित्याग कर दे ।

(३४)

काम कामी खलु अयं पुरिसे,
से सोयइ, जूरइ, तिप्पइ, परितप्पइ ।

आ०, २, १३, उ, ५

टीका—जो कामान्ध होता है, जो भोगान्ध होता है, उसे भोग-पदार्थो का वियोग होने पर, रोग होने पर अथवा मृत्यु के सन्निकट आने पर शोक करना पड़ता है, झूरना पड़ता है, प्रलाप करना पड़ता है, आतरिक वाह्य रूप से ताप, परिताप भोगना पड़ता है, घोर

वेदना और असह्य मानसिक खेद उठाना पड़ता है। भोगी न तो कभी सुखी हुआ है और न कभी होगा।

(३५)

अज्झोववन्ना कामेहिं,
पूयणा इव तरुण ए।

सू०, ३, १३, उ, ४

टीका—जैसे पूतना नामक डाकिनी अथवा रोग-विशेष बालकों पर आसक्त रहता है, वैसे ही आत्मिक सुख का विरोधी पुरुष भी—कामान्ध पुरुष भी—काम—भोगो मे अत्यत मूर्च्छित रहते है। जिसका परिणाम नरक, तिर्यंच आदि गति में परिभ्रमण करना होता है।

(३६)

थम्मा कोहा पमाएणं,
रोगेणालस्सएण य सिक्खा न लब्भई।

उ०, ११, ३

टीका—अहकार से, क्रोध से, प्रमाद से, रोग से और आलस्य से-इन पाच-कारणो से ज्ञान प्राप्त नही हो सकता है। ज्ञान प्राप्ति के लिये विनय, नम्रता, प्रयत्न, और भावना मय आकाक्षा की आवश्यकता है।

(३७)

थद्धे लुद्धे अणिग्गहे अविणीए।

उ०, ११, २

टीका—जो अहकार युक्त है, लोभी है, और इन्द्रियो का गुलाम है, वह अविनीत है। वह भगवान की आज्ञा का विराधक है। जो विराधक है, वह मोक्ष से दूर है।

(३८)

वोच्छिंद सिणेहमप्पणो।

उ०, १०, २८

टीका—आत्मा मे रहे हुए मोह, मूर्च्छा, आसक्ति, वासना और विकार को काट दो, इन्हे हटा दो।

(३९)

बहिया उड्ढ मादाय,
नावकंखे कयाइ वि।

उ०, ६, १४

टीका—अनासक्त जीवन को ही और स्थितप्रज्ञ अवस्था को ही सर्वोच्च तथा सर्वश्रेष्ठ समझ कर आत्मार्थी पुरुष विषयसुख की किसी भी समय मे और किसी भी दशा मे आकांक्षा न करे, भोग सुख की तृष्णा न करे।

★

क्रोध-सूत्र

(१)

कोहो पीइं पणासेइ ।

द०, ८, ३८

टीका—क्रोध, प्रेम का और मित्रता का नाश करता है। क्रोध से हिंसा की, अविवेक आदि दुर्गुणो की उत्पत्ति होती है।

(२)

उवसमेण हणे कोहं ।

द०, ८, ३९

टीका—शाति गुण से क्रोध को हटाना चाहिये। शाति के बल पर हिंसक से हिंसक प्राणी भी और विरोधी से विरोधी मनुष्य भी वश में हो जाता है।

(३)

कोहं असच्चं कुव्वेज्जा ।

उ०, १, १४

टीका—सदैव क्रोध को दवाते रहना चाहिये। क्रोध का जड़-मूल से नाश हो ऐसा प्रयत्न करते रहना चाहिये। क्योकि क्रोध वैर-विरोध का मूल है।

(४)

कलहं जुद्धं दूरओ परिवज्जए ।

द०, ५, १२, उ, प्र,

टीका—हित को चाहने वाला पुरुष क्लेश को, वाक्युद्ध को और अन्यविध लड़ाई को दूर से ही छोड़ दे। यानी उसके समीप नहीं जावे।

(५)

आसुरत्तं न गच्छिज्जा,
सुच्चाणं जिण-सासणं ।

द०, ८, २५,

टीका—जिन-शासन यानी जैन धर्म के सिद्धान्तों का रहस्य समझ कर कभी किसी पर क्रोध नही करे। क्रोध विवेक को भ्रष्ट करने वाला है, बुद्धि को उलझन में डालने वाला है, प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का भेद नही करने वाला है। क्रोध कलह को पैदा करने वाला है और अत मे दुर्गति का दाता है।

(६)

न हु मुणी कोवपरा हवन्ति ।

उ०, १२, ३१

टीका—मुनि, आत्मार्थी कभी क्रोध नही करते है। संयमी कषाय-भाव से दूर ही रहते है।

(७)

दुविहे कोहे-आय पइट्ठिए चेव,
पर पइट्ठिए चेव ।

ठाणां०, २ रा, ठा, उ, ४, ६

टीका—क्रोध दो प्रकार का कहा गया है—१ आत्म प्रतिष्ठित और २ पर-प्रतिष्ठित। स्वभाव से ही आत्मा में उत्पन्न होने वाला क्रोध तो आत्म-प्रतिष्ठित है और बाह्य-कारणो से आत्मा में उत्पन्न होने वाला क्रोध पर-प्रतिष्ठित है।

हिंसा-सूत्र

(१)

पाणि वहं घोरं ।

द०, ६, ११

टीका—प्राणियो का वध करना, मन, वचन और काया से जीवों को कष्ट पहुँचना घोर पाप है ।

(२)

अजयं चरमाणो अ पाण भूयाइं हिंसइ ।

द०, ४, १

टीका—जो अयत्ना से यानी अविवेक से और उच्छृखलता से चलता है, उसको प्राणियों की उसके द्वारा भले ही हिंसा न होती हो तो भी प्राणियो को मारने का पाप लग जाता है ।

(३)

अजयं भुजमाणो अ,
पाण भूयाइं हिंसइ ।

द०, ४, ५

टीका—जो अयत्ना से, अविवेक से और लोलुपता से, भोजन करता है, उसको प्राणियो की उसके द्वारा भले ही हिंसा न होती हो तो भी प्राणियों को मारने का पाप उसको लग जाता है ।

(४)

हिंसन्नियं वा ण कहं करेज्जा ।

सू०, १०, १०

टीका—जिन कथा-वार्त्ताओ से हिंसा पैदा होने की सम्भावना जिनसे हिंसा को अर्थात् पर-पीडन को और गरीबो के शोषण

को उत्तेजना मिलती हो, ऐसी कथा-वार्त्ताओं से तथा चर्चाओ से दूर रहे।

(५)

न हु पाणं वहं अणुजाणे,
मुच्चेज्ज कयाइ सव्व दुक्खाणं।

उ०, ८, ८

टीका—प्राणियों के प्राणो के वध की, उनको नाश करने की अनुमोदना करने वाला मनुष्य कभी भी सम्पूर्ण दु खों से छुटकारा नही प्राप्त कर सकता है। ऐसा मनुष्य कभी मुक्ति नही प्राप्त कर सकता है।

(६)

किं हिंसाए पसज्जसि।

उ०, १८, ११

टीका—हिंसा में क्यो आसक्त होते हो ? हिंसा कदापि सुख की देने वाली नही है। हिंसा राग और द्वेष को ही पैदा करने वाली है। हिंसा दु.ख का ही मल है।

(७)

ण पंडिए अगणि समारभिज्जा।

सू०, ७, ६

टीका—पडित मुनि, आत्मज्ञ पुरुष अग्नि का समारम्भ नही करे। यानी सम्यक्-दर्शनी और श्रावक आदि मनुष्य बड़े २ मील, कारखाने आदि रूप अग्नि का समारम्भ नही करे ! क्योकि इनमें त्रस, स्थावर जीवो की हिंसा के साथ साथ मनुष्यो का शोषण भी होता है तथा साथ में नैतिक पतन भी होता है।

(८)

पाणाणि चेवं विणिहंति मंदा ।

सू०, ७, १६,

टीका—मूर्ख जीव, अज्ञानी नेताओ के पीछे चलकर भोगो के लिये और मनोरंजन के लिये नाना विध प्राणियो की घात करते रहते है, और अन्त में घोर कष्ट दायक कर्मों का बन्धन करते रहते है

★

लोभ-सूत्र

(१)

लोभो सव्व विणासणो ।

द०, ८, ३८

टीका—लोभ सभी आत्मिक-गुणो का नाश कर देता है। लोभ पाप का बाप है । लोभ वशात् मनुष्य न जाने क्या क्या पाप कर बैठता है ?

(२)

इच्छा हु आगास समा अणन्तिया ।

उ०, ९, ४८

टीका—विश्व भर की सपत्ति और वैभव प्राप्त हो जाने पर भी लोभी चित्त को शांति नही हो सकती है, क्योंकि इच्छा-तृष्णा तो आकाश के समान अनन्त है, इनका कोई पार नही है, ऐसा सोच कर सतोष को ग्रहण करना चाहिये ।

(३)

दुप्पूरए इमे आया ।

उ०, ८, १६

टीका—संसार का संपूर्ण वैभव भी प्राप्त हो जाय, पुद्गलों की अपरिमित रूप से सुखमय प्राप्ति हो जाय, तो भी तृष्णा-ग्रस्त आत्मा सतुष्ट नही हो सकती है। तृष्णा के आगे तृप्ति अत्यत कठिन है । इसलिये यह आत्मा दुष्पूर है ।

(४)

जहा लाहो तहा लोहो,
लाहा लोहो पवड्ढई ।

उ०, ८, १७

टीका—ज्यो ज्यो लाभ होता जाता है, त्यों त्यो लोभ बढता जाता है, इस प्रकार तृष्णा के रहते हुए लाभ से लोभ बढता ही रहता है।

(५)

मोहाययणं खु तण्हा ।

उ० ३२, ६

टीका—तृष्णा ही मोह का स्थान है, मोह का नाश करने के लिये सर्व-प्रथम तृष्णा का नाश किया जाना चाहिये । तृष्णा रूपी लता के जन्म-मरण रूपी कटु फल है ।

(६)

मोहं च तण्हाययणं ।

उ०, ३२, ६

टीका—मोह तृष्णा का घर है, तृष्णा के नाश के लिये मोह की वृत्तियो पर नियत्रण रखना परम आवश्यक है ।

(७)

भव तण्हा लया वुत्ता,
भीमा भीम फलोदया ।

उ०, २३, ४८

टीका—ससार मे तृष्णा यानी अतृप्ति एक प्रकार की विष लता के समान कही गई है, जो कि बडी ही भयकर है, और जो भयकर फलो को, यानी नानाविध आपत्तियों को और विपत्तियों को-

देने वाली है। तृष्णा कभी भी शात होने वाली नही है और यह आकाश के समान अनन्त विस्तृत है।

(८)

करेइ लोहं वेरं वड्ढेइ अप्पणो।

आ०, २, ९५, उ, ५

टीका—जो लोभ करता है, जो तृष्णा-वासना मे फसा रहता है, उसके लिये चारो तरफ से वैर-भावना ही बढ़ती है। उसको प्रति क्षण क्लेश ही क्लेश आते रहते हैं। लोभ मे वास्तविक शांति का सर्वथा अभाव है।

(९)

इच्छं कामं च लोभ च,
सज्जओ परिवज्जए।

उ०, ३५, ३

टीका—सयती आत्मा और तत्त्व दर्शी आत्मा अपने मे रही हुई इच्छा को, मूर्च्छा को, मूढता को, पाचो इन्द्रियो के काम-गुणो को और लोभ को छोड दे।

(१०)

अतुट्ठि दोसेण दुहीपरस्स,
लोभाविले आययई अदत्तं।

उ०, ३२, ६८

टीका—जिस प्राणी का चित्त असतोष से भरा हुआ होता है, वह सदैव दु खी रहता है। ऐसा प्राणी दूसरे के सुख को देख कर अदर ही अदर मन मे जला करता है, और लोभाध होकर दूसरे की वस्तु को अदत्ता-रूप से अर्थात् चोरी रूप से लेने को तैयार हो जाता है।

(११)

इच्छा लोभं न सेविज्जा।

आ० ८, ३९, उ, ८

टीका--सासारिक पुद्गलो की अथवा सांसारिक सुखों की इच्छा कभी भी नही करनी चाहिये । लोभ-तृष्णा का भी परित्याग कर देना चाहिये । लोभ ही-अनर्थों की जड़ है। अतएव लोभ का नाश करना, तृष्णा-जाल को दूर फेक देना, जीवन-विकास के लिये आवश्यक सीढी है ।

(१२)

संतोसिणो नो पकरेंति पावं ।

सू०, १२, १५

टीका--सतोषी पुरुष पाप कर्म नही करते है । संतोष से चित्त वृत्तिया स्थिर होती है, और इससे सेवा तथा कर्त्तव्य के मार्ग की तरफ अभिरुचि बढती है । संवर और निर्जरा का आचरण जीवन मे बढता है । नवीन कर्म रुकते है, और प्राचीन कर्म क्षय होते हैं, इससे आत्मा निर्मल और सबल होती है, यही मोक्ष का मार्ग है ।

(१३)

आयं ण कुज्जा इह जीवियट्ठी ।

सू०, १०, १०,

टीका--कल्याण के अर्थी पुरुष, ससार का अत करने वाले पुरुष, चिरकाल तक जीवित रहने की इच्छासे द्रव्य-पदार्थों का संचय नही करे । तृष्णा-भाव नही रक्खे । धनादि पदार्थों और मकानो का संग्रह नहीं करे ।

(१४)

विणीअ तिण्हो विहरे ।

द०, ८, ६०

टीका--तृष्णा को हटा कर, लालसा से रहित होकर, जीवन को परम संतोष के साथ व्यतीत करना चाहिये ।

(१५)

पहीयए कामगुणेसु तण्हा ।

उ०, ३२, १०७

टीका—शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श, इन काम-भोगों में तृष्णा को हटाओ, इन्हे छोडोगे तभी सच्ची शांति प्राप्त होगी ।

(१६)

सव्वं पि ते अपज्जत्तं,
नेव ताणाय तं ।

उ०, १४, ३९

टीका—यदि सारे संसार का वैभव भी प्राप्त हो जाय, तो भी तृष्णा के लिये वह अपर्याप्त है । तृष्णा की शाँति होना अत्यन्त कठिन है । ससार का वैभव आत्मा को जन्म-मरण से मुक्ति प्रदान करने मे कदापि समर्थ नही हो सकता है । आत्मा की मुक्ति तो भोगों के छोड़ने मे ही रही हुई है ।

★

अधर्म-सूत्र

(१)

अहम्मं कुणमाणस्स,
अफला जन्ति राइओ ।

उ० १४, २४

टीका—अधर्म करने वाले के लिये, पाप का सेवन करने वाले के लिये प्रत्येक रात्रि अर्थात् रात और दिन व्यर्थ ही जा रहे है ।

(२)

पडन्ति नरए घोरे,
जे नरा पाव कारिणो ।

उ०, १८, २५

टीका—जो आत्माऐं पाप करनें वाली है, जो पांचों इन्द्रियों के भोग भोगने वाली है, जो मोह, माया और ममता मे ही मस्त रहने वाली है, वे घोर नरक में पडती है । विविध दुःख को प्राप्त करने वाली होती है ।

★

भोग-दुष्प्रवृत्ति-सूत्र

(१)

णिक्खम्म से सेवइ अगारि कम्मं,
ण से पारए होइ विमोयणाए ।

सू०, १३, ११

टीका—संयम-मार्ग पर आरूढ होकर भी जो पुरुष सांसारिक आरंभ-समारंभ करता है, या भोगो को भोगने की इच्छा करता है, ऐसा पुरुष अपने कर्मों को यानी अपनी दुष्वृत्तियो को और वासनाओं को क्षय नही कर सकता है, और इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति भी या अनन्त निर्मलता की प्राप्ति भी-उस कैसे हो सकती है ?

(२)

भोगा भुत्ता विसफलोवमा,
कडुय विवागा अणुबंध दुहावहा ।

उ०, १९, १२

टीका—हमने भोग तो भोगे है अथवा भोग रहे है, किन्तु इनके फल साक्षात् विष के समान है; इनका विपाक-या परिणाम अत्यत कड़ुआ है. और निरन्तर दु खो को देने वाला है ।

(३)

भुत्ताण भोगाणं परिणामो न सुन्दरो ।

उ०, १९, १८

टीका—भुक्त भोगो का परिणाम कभी भी सुन्दर नही हो सकता है । इन भोगो का फल कदापि श्रेयस्कर नहीं हो सकता है ।

(४)

सद्दाणु गासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइणेगरूवे ।

उ०, ३२, ४०

टीका—जो पुरुष शब्द आदि इन्द्रिय-भोगो मे सुख की खोज करता है, वह विविध रीति से अनेक त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा करता है ।

(५)

दुक्खाइं अणुहोंति पुणो पुणो,
मच्चु वाहि जरा कुले ।

सू०, १, २६, उ, १

टीका—भोगो मे फंसी हुई आत्माएँ बार बार मृत्यु का, रोग का, बुढापे का, सयोग-वियोग का, आदि नाना दुःखो का अनुभव करती है ।

(६)

रसा पगामं न निसेवियव्वा ।

उ०, ३२, १०

टीका—इन्द्रियो पर सयम की इच्छा रखने वाले को दूध, दही, घृत, तेल, मेवा, मिठाई आदि रस-वर्धक एव उत्तेजक आहार नही करना चाहिये ।

(७)

उवलेवो होइ भोगेसु,
अभोगी नोव लिप्पई ।

उ०, २५, ४१

टीका—पाचो इन्द्रियो के भोगो से कर्मों का ही बन्ध होता है, जीव को भोगो से नानाविध आपत्तियो का और विपत्तियो का ही सयोग होने की परिपाटी कायम होती है । और अभोगी जीव कर्मों से लिप्त नही होता है । अभोगी जीव को स्थायी आनन्द और निराबाध सुख की प्राप्ति होती है ।

(८)

भोगी भमइ संसारे,
अभोगी विप्पमुच्चई ।

उ०, २५, ४१

टीका—शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श के भोगो मे मूर्च्छित भोगी जीव-ससार में एवं नाना योनियो में परिभ्रमण करता ही रहता है । उसका अनन्त जन्म-मरण बढ जाता है । किन्तु अभोगी जीव, अनासक्त आत्मा या विषय मुक्त आत्मा, बन्धन के चक्कर से और दु.खो के जाल से छूट जाता है—मुक्त हो जाता है ।

(९)

जे गुणे से आवट्टे,
जे आवट्टे स गुणे ।

आ०, १, ४१, उ, ५

टीका—जहाँ पाचो इन्द्रियो के भोग है, वहाँ ससार है । और जहाँ ससार है, वहाँ पांचो-इन्द्रियो के भोग है । भोग और ससार का परस्पर में कार्य-कारण सम्बन्ध है, सहयोग सम्बन्ध है, तदुत्पत्ति सम्बन्ध है । भोगों के छोड़ने पर ही ससार का तथा सासारिक तृष्णा और व्यामोह का भी छुटकारा हो सकेगा । गुण यानी भोग और आवट्ट यानी आवर्त्तन-सांसारिक जन्म मरण का चक्र ।

(१०)

पुणो पुणो गुणासाए,
वंकसमायारे ।

आ०, १, ४४, उ, ५

टीका—जो पुरुष बार बार इन्द्रियो के भोगो का आस्वादन करता है, भोगों में ही तल्लीन रहता है, वह असयमी है, वह पतित है, वह भ्रष्ट है । उसमें आत्म-बल, ज्ञान-बल और कर्मण्यता-बल कभी भी विकसित नहीं हो सकते है, और जीवन में असयम के

कारण उसे अनेक नीच योनियो मे जन्म-मरण और नानाविध दु खों का सयोग ग्रहण करना पडेगा।

(११)

जे गुणे से मूल ट्ठाणे,
जे मूल ट्ठाणे से गुणे।

आ०, २, ६३, उ, १

टीका—जो आत्मा शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श आदि भोगो में फँसा हुआ है, वह ससार के राग-द्वेष रूपी कीचड मे ग्रसित है ही। इसी प्रकार जो ससार के राग-द्वेष मे ग्रसित है, वह पांचो इन्द्रियों के भोगो मे अवश्यमेव ग्रसित है, जो गुण मे यानी भोग मे है, वह मूलस्थान मे अथवा राग द्वेष में है और जो मूल स्थान मे है, वह गुण में है ही।

(१२)

काम समणुन्ने असमिय दुक्खे,
दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणु परियट्टई।

आ०, २, ८२, उ, ३

टीका—जो मनुष्य काम-भोगो को ही प्रिय समझता है, उसके दुःख कभी भी शान्त नही होते है, वह सदैव दु खी होता हुआ ही दुःखो की परम्परा को प्राप्त करता रहता है।

(१३)

जीवियं दुप्पडि वूहगं।

आ०, २, ९३, उ, ५

टीका—जो मनुष्य काम-भोगों मे फंसकर अपना जीवन पूरा कर देता है, उसको पीछे घोर पश्चात्ताप करना पड़ता है, क्योकि जीवन तो जितना है, उतना ही रहेगा, वह तो बढाया नही जा सकता है, बल्कि भोगो के कारण अकाल मृत्यु भी हो सकती है। अतएव भोग में ग्रस्त रहना मूर्ख आत्माओ की वृत्ति है।

(१४)

सव्वओ पमत्तस्स भयं ।

आ० ३, १२४, उ, ४

टीका—जो प्रमादी है, जो विषय मे, विकार में, वासना में, तृष्णा, आदि में फसा हुआ है, उसको हर तरह से भय, चिन्ता और अशाति घेरे रहती है। प्रमादी को सब तरह से और सब ओर से भय ही बना रहता है।

(१५)

मंदा विसीयंति,
मच्छा विट्ठा व केयणे ।

सू०, ३, १३, उ, १

टीका—भोगों में मूर्च्छित जीव एवं मोह में डूबे हुए जीव इस तरह दुःख पाते है, जैसे कि जाल में फसी हुई मछली दुःख पाती है। भोग ही रोग का और दुःख का घर है।

★

अनिष्ट-प्रवृत्ति-सूत्र

(१)

संतप्पती असाहुकम्मा ।

सू०, ५, ६, उ, २

टीका—नीच कर्म करने वाला पुरुष महान् वेदनाएँ और ताप भोगता है। पाप और ताप का स्वाभाविक संबध है।

(२)

दुक्खी इह दुक्कडेणं ।

सू०, ५,-१६, उ, १

टीका—दुष्कृत से, इन्द्रिय-भोगो से, मन की वासनाओं से और तृष्णा से, इस लोक में भी अर्थात् इस जीवन में भी दु ख प्राप्त होते हे और मरने पर भी दु.ख प्राप्त होते हे ।

(३)

जे गारवं होइ सलोग गामी,
पुणो पुणो विप्परियासुवेति ।

सू०, १३ १२

टीका—जो अभिमान करता है, या जो अपनी स्तुति की यशः-कीर्त्ति की इच्छा रखता है, वह वार वार ससार में जन्म-मरण आदि दु.खों को भोगता है, वह अनिष्ट और विपरीत सयोगों को प्राप्त करता है, एवं तदनुसार नाना दु.खो का वह भागी वनता है ।

(४)

पाविणी अप्पा दीसंति दुहमेहना ।

द०,९ , ७, द्वि, उ,

टीका—अविनीत आत्माऐं-विकथा, कलह, हास्य, व्यसन, निद्रा, प्रमाद, आज्ञा-विराधना आदि दुर्गुणो में ग्रस्त आत्माऐ दु.ख, रोग, वियोग, अपयश, अकीर्ति, विपत्ति, दरिद्रता, दुर्गति आदि अनिष्ट और अप्रिय सयोगो को प्राप्त करती हुई देखी जाती है।

(५)

वुज्झइ से अविणी अप्पा,
कट्ठं सोअगयं जहा।

द०, ९, २, द्वि, उ

टीका—जैसे समुद्र मे सूखी लकड़ी का टुकड़ा कही का कही बह जाता है और लापता हो जाता है, वैसे ही अविनीत पुरुष भी धर्म-भ्रष्ट होकर ससार-समुद्र मे डूब जाता है। अनन्त जन्म-मरण की वृद्धि कर लेता ह ।

(६)

न यावि मुक्खो गुरू हीलणाए।

द०, ९, ७, प्र, उ

टीका—गुरु की हीलना करने से, गुरु का अविनय करने से, उन की आज्ञा का भंग करने से, मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती है।

(७)

आसायण नत्थि मुक्खो।

द०, ९, ५, प्र, उ

टीका—आसातना मे, यानी दृढ श्रद्धा के अभाव में, अविनय में और आज्ञा-भग में मोक्ष नही रहा हुआ है। विकार-पोषण में और विकथा मे मोक्ष का अभाव है।

(८)

सिक्ख जज्ज गुणवं, विहरिज्जासि।
द०, ५, ५२, ह, द्वि

टीका—लज्जा रहित जीवन और गुण रहित जीवन पृथ्वी पर भार-भूत है। इसलिये जीवन-विकास के लिये लज्जा शील और गुण शील होना चाहिये।

(९)

अगुणप्पेही ण आराहेइ संवरं।

द०, ५, ४३, उ, द्वि

टीका—गुणो को नही देखने वाला यानी छल-छिद्र को और अवगुणो को ही देखने वाला, सवर-धर्म का भागी नही हो सकता है, उसके लिये आश्रव अवस्था ही रहती है। उसकी आत्मा के साथ कर्मो का घोर बधन होता रहता है।

(१०)

पूयणट्ठा जसो कामी,
बहुं पसवइ पावं।

द०, ५, ३७, उ, द्वि०

टीका—पूजा की, यश की इच्छा करने वाला, बहुत पाप का भागी होता है, क्योकि पूजा, सन्मान और यश मे आसक्ति रहने से, कपट, कृत्रिमता, झूठ आदि नाना पापो के साथ घोर पतन प्रारम्भ हो जाता है। इसलिये पूजा-सन्मान की और यश-कीर्ति की कामना नही रखना चाहिये।

(११)

अ-यकरी अन्नेसी इंखिणी।

सू०, २, १, उ, २

टीका—दूसरे की निन्दा करने की बुराई कल्याण का नाश करने वाली है। पर-निन्दा करने से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, इससे कषाय-भाव पैदा होते है। इसलिये पर-निन्दा करना आत्म घातक है और वह ससार को बढ़ाने वाली है।

(१२)

जो परिभवइ परं जणं,
संसारे परिवत्तई महं।

सू०, २, २, उ, २

टीका—जो पुरुष दूसरे का तिरस्कार करता है, जो दूसरे का अपमान करता है, वह ससार में चिर काल तक घूमता है, वह अनेक-जन्म और मरण करता है।

(१३)

इंखिणिया उ पाविया।

सू०, २, २, उ, २

टीका—पर निन्दा साक्षात् पाप की प्रति-मूर्त्ति है, पाप की निधि ही है।

(१४)

दुस्सील पडिणीए मुहरी निक्कसिज्जई।

उ०, १, ४

टीका—दुराचारी, प्रतिकूल वत्ति वाला और वाचाल प्रत्येक स्थान पर धिक्कारा जाता है। वह दुत्कारा जाता है। वह बहिष्कृत किया जाता है।

(१५)

पडिणीए असंबुद्धे अविणीए।

उ०, १, ३

टीका—व्यवहार से और मर्यादा से प्रतिकूल वृत्ति वाला, तथा समझदारी यानी योग्यता नही रखने वाला अविनीत कहलाता है। वह विनय-शून्य कहा जाता है।

(१६)

वेराणुबद्धा नरयं उवेंति।

उ०, ४, २

टीका—जो अन्य जीवो से वैर बाधता है, जो हिंसा, कष्ट, पराधिकार-अपहरण आदि रूप वैर कार्य करते है, वे मर कर नरक मे उत्पन्न होते है। वे घोर-कष्ट प्राप्त करते है।

(१७)

पमत्ते अगार मावसे।

आ०, १, ४५, उ, ५

टीका—जो पुरुष साधु वेश धारण करके भी अर्थात् त्याग-भावना का वेश धारण करके भी शब्द आदि इन्द्रिय-विषयो मे अनुरागी है, वह द्रव्य साधु है, वह दिखाऊ त्यागी है। ऐसा पुरुष तो भोगों में फसे हुए पुरुष के समान ही है। गृहस्थ-पुरुष के समान ही वह आरभी-समारभी है। वह पाप-पंक मे ही मग्न है।

(१८)

दोसं दुग्गइ वड्ढणां।

द०, ६, २९

टीका—दोष यानी आत्म-निर्बलता ही दुर्गति को बढाने वाली है। इसलिये आत्मा को सबल, निर्भय, साहसी और सेवा-मय बनाना चाहिये।

(१९)

सप्पहासं विवज्जए।

द०, ८, ४२

टीका—अत्यन्त हसना भी नही चाहिये। क्योकि अधिक हंसना असभ्यता का द्योतक है। यह गैर जिम्मेदारी को बढाने वाला होता है।

(२०)

जे इह आरंभ निस्सिया, आत दंडा।

सू०, २, ९, उ, ३

टीका—जो पुरुष यहाँ पर आरंभ-परिग्रह मे ही एवं स्वार्थ-पोषण मे ही रत रहते है, वे अपनी आत्मा के प्रति घोर अन्याय करते है, अपनी आत्मा के लिये वे नाना प्रकार का दुख संचय करते है।

(२१)

मज्ज मंसं लसुणं च भोच्चा,
अनत्थ वासं परिकप्पयंति।

सू०, ७, १३

टीका—प्राणी मोह-वश, एव भोग वश, भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार न कर, मद्य, मास लशुन आदि अभक्ष्य पदार्थों को भोग कर अपना ससार वढाया करते है। इन्द्रिय-तृष्णा पर क्या कहा जाय ? मनुष्य इन्द्रियो के दास बन कर नाना दुख उठाया करते है।

(२२)

रसाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।

उ०, ३२, ७१

टीका—जो मनुष्य रात और दिन रसो में ही अनुरक्त है, उसको कभी भी कैसे सुख मिल सकता है।

(२३)

दुक्खी मोहे पुणो पुणो।

सू० २, १२, उ, ३

टीका—दु.खी-प्राणी वार बार मोह को प्राप्त होता रहता है। वह बार बार भले और बुरे के विवेक से रहित होता रहता है।

(२४)

पावाइं कम्माइं करंति रुद्दा,
तिव्वाभितावे नरए पडंति।

सू०, ५, ३, उ, १

टीका—प्राणियो के लिये नाना प्रकार का भय उत्पन्न करने वाले अज्ञानी जीव, सकारण और अकारण घोर पाप करते रहते है, और वे मर कर तीव्र ताप वाली एव घोर अधकार वाली तथा महा दुःख देने वाली नरक में जाकर उत्पन्न होते है।

(२५)

पावोवगा य आरभा,
दुक्खफासा य अंतसो।

सू०, ८, ७

टीका—आरभ-समारभ ही, और तृष्णा की तृप्ति के लिये किया जाने वाला प्रयत्न ही, हिंसा झूठ आदि पाप को उत्पन्न करता है, और अन्त मे परिणाम स्वरूप दु.ख की परपरा ही उत्पन्न होती है।

(२६)

भुज्जो भुज्जो दुहावासं,
असुहत्तं तहा तहा।

सू०, ८, ११

टीका—अज्ञान-भाव, स्वार्थ-भाव, इन्द्रिय-पोषण भाव और भोग-उपभोग की वृत्ति, ये सब जीव को बार बार दु ख ही दु ख देती रहती है, और ज्यो ज्यो अज्ञानी जीव दु ख-भोगता है, त्यो त्यो उसका अशुभ-विचार वढता जाता है। इस प्रकार अज्ञान से अशुभ विचार और अशुभ-विचार से दु.खोत्पत्ति-यह चक्र चलता ही रहता है।

(२७)

मिच्छ दिट्ठी अणारिया।

सू०, ३, १३; उ, ४

टीका—जो अनार्य है, जो मास-मदिरा के खाने वाले है, जो

अहिंसा और ब्रह्मचर्य मे विश्वास नही रखने वाले है, वे मिथ्यादृष्टि है, वे अनार्य है, और जो अनार्य है, वे मिथ्यादृष्टि है।

(२८)

असमियंति मन्नमाणस्स,
समिया वा असमिया वा असमियाहोइ।

आ०, ५, १६४, उ, ५

टीका—जो आत्मा ज्ञान में, दर्शन मे और चारित्र में विश्वास नही करता है, जो जिन-वचनो के प्रति अश्रद्धा प्रकट करता है, वह मिथ्यात्वी है। उस मिथ्यात्वी के लिये सत्य भी झूठ हो जाता है। और झूठा ज्ञान तो उसके लिय झूठा है ही। यानी सत्य और झूठ दोनों ही उस मिथ्यात्वी के लिये झूठ रूप ही है। यह मिथ्यात्व-श्रद्धा का परिणाम है।

(२९)

पाव दिट्ठी विहन्नई।

उ०, २, २२

टीका—पाप दृष्टि वाला प्राणी विकार का और विषय का पोषण करने वाला होता है। वह मर्यादा का उल्लघन करने वाला होता है। वह वीतराग भगवा न की वाणी और आज्ञा की विराधना करता है।

(३०)

अणियते अयं वासे,
णायएहि सुहीहि य।

सू०, ८, १२

टीका—आत्मा-अज्ञानवश "यह मेरा, यह मेरा" ऐसा कहता ही रहता है और अपने आपको इस मोह में भूलाये रखता है। परन्तु

आत्मा इस बात को भूल जाता है कि ज्ञाति वालो के साथ और बन्धु-बाधवो के साथ तथा वैभव एव सुख सुविधाओ के साथ आत्मा का सम्बन्ध अनित्य है और एक दिन इन सब को छोड़ कर जाना है।

(३१)

वीरा असमत्त दंसिणो,
असुद्धं तेसिं परक्कंतं ।

सू०, ८, २२

टीका—जो मिथ्यात्वी है, यानी जिनकी दृष्टि मे पौद्गलिक सुख प्राप्त करना ही एक मात्र ध्येय है, ऐसे पुरुष भले ही वीर हो परन्तु उनका सारा प्रयत्न चाहे वह सत् हो या असत् कैसा भी हो— तो भी वह अशुद्ध ही है यानी पाप मय ही है। क्योकि उनकी भावना, उनका दृष्टिकोण विपरीत है, इसलिये वे ससार में परिभ्र-मण कर्त्ता है ।

(३२)

णिद्दं पि नो पगामाए ।

आ०, ९, ६९, उ, २

टीका—जिसको अपनी आत्मा का कल्याण करना है, उसके लिये अति निद्रा लेना अपराध है । अति निद्रा लेना प्रमाद है, और प्रमाद सेवन से इन्द्रियाँ सुख की अभिलाषा करने लग जाती है । इस प्रकार पतन का प्रारम्भ हो जाता ह, इसलिये अति-निद्रा लेना आत्म- घातक पाप समझो ।

(३३)

तेसिं पि तवो ण सुद्धो,
निक्खता जे महाकुला ।

सू०, ८, २४

टीका—जो महापुरुष-चाहे वे बड़े कुल के ही क्यो न हो, किन्तु यदि उनके तप करने का और पर सेवा करने का ध्येय अपनी यशः

कीर्त्ति और मान मर्यादा प्राप्त करने मात्र जितना ही है, तो उनका यह तप और सेवा कार्य शुद्ध और हितावह नही कहा जा सकता है। वल्कि ससार बढाने वाला ही कहा जायगा।

(३४)

कीवा जत्थ य किस्संति,
नाइ संगेहिं मुच्छिया।

सू०, ३, १२, उ, २

टीका—नपुसक यानी दुर्बल आत्मा वाले पुरुष अपने ज्ञाति वर्ग वालो के साथ, या माता-पिता, पुत्र, भाई-वन्धु आदि के साथ मोह मे पड़ कर और भोगो से सम्वन्ध जोड कर, कर्त्तव्य-मार्ग से भ्रष्ट हो जाते है और वाद में पश्चात्ताप करते है, इस प्रकार वे घोर दु.ख उठाते है।

(३५)

आरंभा विरमेज्ज सुव्वए।

सू०, २, ३, उ, १

टीका—आरम्भ-समारम्भ के कामो से, जीव-हिसा और पर-पीडन के कामो से, वडे २ कल-कारखानो से, आत्म-हित की इच्छा वाला पुरुष दूर ही रहे। वडे २ कल-कारखाने अनीति का प्रचार करने वाले, बेकारी को बढाने वाले, जीव-हिंसा को उत्तेजना देने वाले, तृष्णा को वढाने वाले और मोह मे ग्रस्त करने वाले होते हैं।

(३६)

चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्ख
जोणियत्ताए, कम्मं पगरेंति,
माइल्लयाए, नियडिल्लयाए,
अलियवयणेणं, कूड तुल्ल कूड माणेणं।

ठाणा०, ४ था, ठा, उ, ४, ३९

टीका—चार प्रकार के कामो से जीव तिर्यंच-गति का बंध करते हैं—१, माया के कामो से, २ वचना करने से ठगाई से, ३ असत्य बोलने से और ४ खोटा तोल तथा खोटा माप करने से।

(३७)

चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए
कम्मं पगरेंति, महारंभयाए,
महापरिग्गहयाए, पचेंदिय वहेणं,
कुणिमहारेणं।

ठाणां०, ४ था, ठा, उ, ४, ३९

टीका—चार प्रकार के कामो से जीव नरक-गति का बंध करते हैं—१ महा आरभ के कामो से, २ महा परिग्रह से, ३ पचेन्द्रिय जीवो की घात करने से और ४ मास का आहार करने से।

(३८)

पाणा पाणे किलेसंति।

आ०, ६, १७४, उ, १

टीका—प्राणी ही प्राणियो को दुःख देते हैं। राग-द्वेष-वशात् और कषाय-विकार-वशात् परस्पर में कलह करते है। एक दूसरे को हानि पहुँचाते हैं। एक दूसरे की हत्या करते हैं। परस्पर में ताड़ना, फटकारना–मारना–आदि क्लेश वर्धक कार्य करते हैं।

(३९)

तिविहा उवही,
सच्चित्ते, अचित्ते, मीसए।

ठाणा, ३, रा, ठा १, ला, ३, २७

टीका—वस्तुओं का संग्रह करना उपाधि है और वस्तुओ पर ममता-भाव रखना परिग्रह है। उपाधि तीन प्रकार की कही गई है—१ सचित्त उपाधि, २ अचित्त उपाधि, और ३ मिश्र उपाधि।

दास, दासी, नौकर-चाकर, पशु, पक्षी आदि का संग्रह करना सचित्त उपाधि है। मोटर, गाड़ी, खेत, मकान, सोना, चाँदी, धान्य आदि का संग्रह करना अचित्त उपाधि है। सचित्त-अचित्त-दोनो का संग्रह मिश्र उपाधि है।

(४०)

छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं।

उ०, ४, ८

टीका—इच्छाओं को तथा वासनाओ को, और आसक्ति को रोकने से ही, इन पर काबू करने से ही आत्मा मोक्ष प्राप्त कर सकती है। इच्छा, वासना और आसक्ति पर काबू नही करने वाला अनन्त जन्म-मरण करता है।

बाल-जन-सूत्र

(१)

बाल भावे अप्पाणं नो उवदंसिज्जा ।

आ०, ५, १६४, उ,५

टीका—अन्य साधारण पुरुषो द्वारा आचरित मार्ग पर अपनी आत्मा को नही लगाना चाहिये, यानी जन-साधारण के मार्ग पर अपने जीवन को नही खेचना चाहिये । बल्कि जिस मार्ग को ऋषि-मुनियो ने और सत-महात्माओ ने श्रेष्ठ बतलाया है उसी पर चलना चाहिये । साधारण आदमियो का ज्ञान और आचरण सामान्य कोटि का, एवं इन्द्रिय-सुख प्राप्ति का होता है । साधारण आदमी तत्त्व के तह तक कैसे पहुँच सकते है ? अतएव आदर्श मार्ग का अवलंबन करो ।

(२)

बाले य मन्दिए मूढे,
बज्झई मच्छिया व खेलम्मि ।

उ०, ८, ५,

टीका—बाल यानी आत्मा के गुणो की उपेक्षा करने वाला, मंद यानी हित और अहित का विवेक नही रखने वाला, मूढ यानी काम भोगो में और इन्द्रिय-विकारो मे मूर्च्छित रहने वाला, ससार-चक्र में इस प्रकार फस जाता है, जंसे कि मक्खी नाक और मुख के मल में यानी श्लेष्म में फँसकर जीवन खत्म कर देती है । इसी प्रकार भोगी आत्मा भी अपने सभी गुणो का नाश कर देती है ।

(३)

बालाणं मरणं असइं भवे ।

उ०, ५, ३

टीका—मूर्खो की, अज्ञानियों की और भोगियो की मृत्यु बार-बार होती है । उनको अनेक जन्म-मरण करने पड़ते है ।

(४)

लुप्पन्ति बहुसो मूढा,
संसारम्मि अणन्तए ।

उ०, ६, १

टीका—मूढ आत्माऐं यानी विषय और विकारो में ही मूर्च्छित रहने वाली आत्माऐं, इस दुःख पूर्ण ससार में अनन्त बार जन्म और मरण के चक्कर में फँसती है और निरन्तर दुःख ही दुःख भोगती है ।

(५)

अकोविया दुक्ख ते न इतुट्टंति,
सउणी पंजरं जहा ।

सू०, १, २२, उ, २

टीका—जैसे पक्षी पीजरे को नही तोड़ सकता है, वैसे ही अकोविद यानी भोगो में मूर्च्छित प्राणी, आसक्त-प्राणी भी कर्म-बन्धन को नही तोड़ सकते है । मूढ आत्माऐं तो निरन्तर कर्मों के जाल में फँसती ही रहती है ।

(६)

न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला ।

सू०, १२, १५

टीका—अज्ञानी जीव तृष्णा और भोगो में फँसे रहते है । इसलिये वे निरन्तर पाप का ही आश्रव करते रहते है और अपने कर्मों का क्षय नही कर सकते है । निरन्तर आश्रव होने से निर्जरा का

मौका ही कैसे मिल सकता है ? आश्रव रुके तो संवर की और निर्जरा की सम्भावना हो ।

(७)

अट्टेसु मूढे अजरामरेव्व ।

सू०, १०, १८

टीका—मूढ आदमी तृष्णा और वासना के वश होकर धन कमाने में इतना अंधा, आसक्त और अविवेकी हो जाता है कि मानो वह कभी मरेगा ही नही । मानो कभी उसको बुढापा आवेगा ही नही ।

(८)

अन्नं जणं खिंसति बालपन्ने ।

सू०, १३, १४

टीका—मूर्ख पुरुष, मदमति पुरुष, अन्य जनों की निंदा करता ही रहता है । अज्ञानी को दूसरे की निंदा करने में ही आनन्द आता है । बाल बुद्धि पुरुष दूसरे का तिरस्कार ही करता है ।

(९)

जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं,
न तं सुदिट्ठं कुसला वयन्ति ।

उ०, १२, ३८

टीका—जो केवल बाह्य-विशुद्धि को ही, स्नान-शृंगार-शरीर-सफाई को ही सब कुछ मानते है और इसी में कर्त्तव्य की इतिश्री समझते है, उन्हे ज्ञान शील पुरुष सुयोग्य, सुदृढ और धर्मानुगामी नहीं कहते है । आन्तरिक शुद्धि अर्थात् कषाय त्याग के अभाव में बाह्य-शुद्धि निरर्थक है । यह तो मृत पुरुष को शृंगारित करने के समान है ।

(१०)

मिच्छा दिट्ठी अणारिया,
संसारं अणुपरियट्टंति ।

सू०, १, ३२, उ, २

टीका—जो मिथ्या दृष्टि है, जो भोग-उपभोग को ही सर्वस्व समझने वाले है, इन्द्रिय-सुख को ही मोक्ष का सुख समझने वाले हैं, वे अनार्य है। और इससे ससार मे परिभ्रमण करना ही उनके जीवन का प्रमुख अग बन जाता है। यानी ऐसी आत्माऐ ससार मे ही परिभ्रमण करती रहती है।

(११)

न सरणं बाला पंडिय माणिणो ।

सू०, १, १ उ, ४

टीका—जो पडित या आत्म ज्ञानी नहीं होते हुए भी अपने आप को पडित मानते है और इन्द्रिय भोगो में फसे हुए हैं, ऐसी बाल आत्माओ के लिये ससार मे कही भी शरण नही है, उनके लिये कही भी वास्तविक सुख नही है। ये आत्माऐ तो फुट बाल (Foot Ball) के समान इधर की उधर जन्म-मरण करती रहती है।

(१२)

बाल जणो पगब्भइ ।

सू०, २१, उ, २

टीका—जो मूर्ख है, जो वासना और विषय मे मूच्छित है, वही पापी है। मूर्च्छा ही पाप है।

(१३)

बाले पावेहिं मिज्जती ।

सू०, २, २१, उ, २

टीका—विवेक हीन आत्माऐ पापो से लिप्त होती हैं। विवेक हीन का सत्कार्य भी असत्य कार्य ही है। ऐसी आत्माऐं पौद्गलिक सुख को ही वास्तविक सुख समझती है।

(१४)

वित्तं पसवो य नाइओ,
तं बाले सरणं ति मन्नइ ।

सू०, २, १६, उ, ३

टीका—मूर्ख प्राणी, विषयासक्त प्राणी ही धन को, पशु को, कुटुम्ब को, ज्ञाति-बन्धुओं को अपना शरण देने वाले मानता है। उन्हें आधार-भूत मानता है। "ये मुझे दुःख से बचा सकेंगे" ऐसी मान्यता रखता है।

(१५)

हिंडंति भयाउला सढा,
जाइ जरा मरणेहिं अभिदुता ।

सू०, २, १८, उ, ३

टीका—जन्म, जरा और मरण से पीडित प्राणी, भयाकुल शठ प्राणी, भोगी प्राणी बार बार संसारचक्र में भ्रमण करते हैं। भोगों से इस लोक और परलोक में नाना दुःख उठाते हैं, नाना कष्ट सहते हैं।

(१६)

मंदा मोहेण पाउडा ।

सू०, ३, ११ उ, १

टीका—मूर्ख प्राणी, वासना-ग्रसित प्राणी, विवेकहीन प्राणी, मोह से ढके हुए रहते हैं। उन्हें हित का और अहित का भान नहीं रहता है। ऐसे जीव भोग-सुख को ही आत्म-सुख समझते हैं। स्वच्छंदता को ही स्वतंत्रता समझते हैं।

(१७)

बुद्धामोत्ति य मन्नंता,
अंत ए ते समाहिए ।

सू०, ११, २५

टीका—जो अपने आप को ज्ञानी मानते हैं, स्वयं को पंडित समझते हैं, तथा ऐसी धारणा रखते हैं कि हम तो परिपूर्ण ज्ञाता हैं, वे अभिमानी हैं, उनका आत्मविकास रुक जाता है, वे वास्तविक मार्ग से बहुत दूर हैं तथा उनका बाल मरण होने से अंत में उन्हें नरक गति, तिर्यंच गति आदि नीच गति की ही प्राप्ति होती है।

(१८)

सीयंति अबुहा ।

सू०, ३, १४, उ, २

टीका—अज्ञानी पुरुष, कर्त्तव्य-मार्ग से पतित होकर और भोगों में आसक्त होकर, महा दुःख भोगते हैं।

(१९)

कीवा वसगया गिहं ।

सू०, ३ १७ उ, १

टीका—कायर पुरुष, इन्द्रियो के दास पुरुष, निर्बल आत्मा-वाले पुरुष, स्व-पर के कल्याण मार्ग में आने वाले उपसर्गों से, कठिनाइयों से घबरा कर पुन संसार मार्ग पर और इन्द्रिय-पोषण मार्ग पर चलने लग जाते हैं। यानी सेवा-मार्ग को या धर्म-मार्ग को त्याग देते हैं।

(२०)

मंदा विसीयंति,
उज्जाणंसि व दुब्बला ।

सू०, ३, २० उ, २

टीका—जैसे दुर्बल बैल ऊंचे मार्ग मे दुःख पाते है, गिर जाते हैं और महान् वेदना का अनुभव करते हैं, वैसे ही वासना-ग्रसित और मूर्च्छित मूर्ख जीव भी विभिन्न जन्मो मे नाना प्रकार के दुःख उठाते हैं। इन्हे अनेक प्रतिकूल पदार्थों का और प्रिय वस्तुओ के वियोगों का सामना करना पड़ता है।

(२१)

बद्धे विसय पासेहिं,
मोह मावज्जइ पुणो मंदे ।

सू०, ४, ३१, उ, १

टीका—विपय-वासना रुपी जाल मे फंसा हुआ मूर्ख मनुष्य बार बार मोह को प्राप्त होता है। वह आत्मा का स्वरूप भूल जाता है, और ससार में अनेक जन्म-मरण की वृद्धि करता है, नाना तरह के प्रतिकूल सयोग-वियोग को वह प्राप्त करता रहता है।

(२२)

रागदोसस्सिया बाला,
पावं कुव्वंति ते बहुं ।

सू०, ८, ८,

टीका—राग-द्वेप के आश्रित होकर तथा मूर्च्छा और ममता में पड़ कर, मूर्ख जीव या अज्ञानी और स्वार्थी जीव नाना प्रकार के पाप कर्म और जघन्य कर्म-करते रहते है। वे अत में दु.ख प्राप्त होने पर पश्चात्ताप करते हैं।

(२३)

कूराइं कम्माइं बालेपकुव्वमाणो,
तेण दुक्खेण संमूढे विप्परियास मुवेइ ।

आ० २, ८१, उ, ३

टीका—जो मद बुद्धि वाला है, जो मूर्ख है, ऐसा बाल प्राणी क्रूर कर्म करता है, घोर पाप पूर्ण कर्म करता है। अत मे उन कर्मों के कारण उत्पन्न दु ख से वह मूढ होता हुआ, हित-अहित के विवेक से शून्य होता हुआ विपर्यास स्थिति को प्राप्त होता है, राग-द्वेष के चक्कर मे फस जाता है। इस प्रकार मूढ बुद्धि वाले की ससार-परम्परा चक्रवत् चालू ही रहती है।

(२४)

मंदस्सा विसणओ ।

आ० १, ५०, उ, ६

टीका—जो मंद बुद्धि है, यानी मिथ्या-शास्त्रो के कारण से जिसकी बुद्धि मे भ्रम आ गया है, जो सासारिक-विषय-वासना को ही सर्वस्व और आराध्य मानता है, वह विवेक हीन है, और ऐसा पुरुष चिर काल तक नाना दु खो का भाजन बनता है ।

(२५)

मंदा नरयं गच्छन्ति,
वाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ।

उ०, ८, ७

टीका—मन्द यानी हित और अहित का विवेक नही रखने वाले और बाल यानी आत्मा के गुणो की उपेक्षा करने वाले, पाप-पूर्ण विचारो मे ही ग्रस्त रहने के कारण से तथा अनीति पूर्ण आचरणों में ही ग्रस्त रहने के कारण से मर कर नरक मे जाते है, नीच गति मे जाते है ।

(२६)

ममाइ लुप्पई वाले ।

सू०, १, ४ उ, १

टीका—"यह मेरा है" ऐसा करके ही मूर्ख आत्मा पापों से-दुष्ट कार्यों से और दुर्भावनाओ से परिलिप्त होती है । ससार-समुद्र मे डूबती है ।

(२७)

सत्ता कामे हि माणवा ।

उ०, १, ६, उ, १

टीका—मद बुद्धि वाले मनुष्य ही कामो में-यानी इन्द्रीय-भोगों में आसक्त रहते है । मूर्च्छित रहते है ।

(२८)

अन्नाणिया नाणं वयंतावि,
निच्छयत्थं न याणंति

सू०, १, १६, उ, २

टीका—अज्ञानी आत्माऐ-यानी सासारिक- भोगो में ही सुख मानने वाली आत्माऐ ज्ञान सबधी चर्चा करती हुई भी निश्चित अर्थ को नही जानती है। सच्चे मार्ग को या मोक्ष-मार्ग को नही जानती है।

(२९)

अप्पणो य परं नालं,
कुतो अन्नाणु सासिउं।

सू०, १, ११७, उ, २

टीका—अज्ञानी पुरुष या भोगी पुरुष जब स्वय को भी ज्ञान देने मे समर्थ नही है, तब वे अन्य को तो ज्ञान दे ही कैसे सकते है? भोगी-पुरुषो द्वारा स्व-पर-हित की साधना नही हो सकती है।

(३०)

अन्नप्पमत्ते धणा मेसमाणे,
पप्पोति मच्चुं पुरिसे जरं च।

उ० १४, १४

टीका—दूसरो के लिये दूषित प्रवृत्ति करने वाला और धन कमाने मे ही जीवन समाप्त कर देने वाला अन्त में बुढापा तथा मृत्यु को प्राप्त कर असह्य कष्टो को प्राप्त होता है।

(३१)

पवड्ढती वेरं मसंजतस्स।

उ०, १०, १७

टीका—जो अपनी इन्द्रियों और मन पर काबू नही रखता है, वह असयमी है। प्रतिदिन विभिन्न प्राणियों के साथ असयम के कारण उसका वैर-विरोध और शत्रुता बढती रहती है।

(३२)

सव्वं विलवियं गीयं,
सव्वं नट्टं विडम्बियं ।

उ०, १३ १६

टीका—ससार के गीत-गायन विलाप रूप है, और सब प्रकार का खेल-तमाशा, मनोरजन-कार्य, नाचना, नाटक आदि विडम्वना रूप है, क्योकि ये क्षण भर के लिये आनददायी हैं और अत में परिणाम की दृष्टि से विष समान है ।

(३३)

सएण दुक्खेण मूढे विप्परियास मुवेइ ।

आ०, २, ९८, उ, ६

टीका—मोह और अज्ञान के कारण भोगो में फसा हुआ मूर्ख प्राणी अपने ही किये हुए कर्मों के कारण दु ख पाता है, और सुख का प्रयत्न करने पर भी दु ख ही का स योग मिलता है । कर्मों के कारण अच्छा करने के प्रयत्न में भी बुरा संयोग ही पाता है ।

(३४)

जरा मच्चु व सोवणीए नरे,
सययं मूढे धम्मं नाभि जाणइ ।

आ०, २, १०९, उ, १

टीका—महामोहनीय कर्म के उदय के कारण मूढ़ आत्मा अज्ञान में ग्रसित होता हुआ तथा मृत्यु और जन्म के चक्कर में ही सदैव घूमता हुआ धर्म के स्वरूप को और ज्ञान-दर्शन-चारित्र के रहस्य को नही समझ सकता है । वह इस चक्कर से नहीं छूट सकता है ।

(३५)

कायरा जणा लूसगा भवंति ।

आ० ६, १९० उ, ४

टीका—जो मनुष्य कायर होते है, अस्थिर और चचल बुद्धि के होते हैं, वे अन्त मे जाकर धर्म से भ्रष्ट हो जाते है। वे सम्यक् दर्शन से पतित हो जाते है, और अपना अनन्त जन्म मरण रूप संसार बढ़ा लेते है। कायर पुरुष हर कार्य मे विफल होता है, अयशस्वी होता है।

(३६)

सीयन्ति एगे वहु कायरा नरा।

उ०, २०, ३८

टीका—अनेक आत्माएं कायर वनकर, निर्वल वनकर, नैतिक और आध्यात्मिक मार्ग पर चलने मे असमर्थ होकर दु खी वन जाती हैं। हतोत्साह होकर शुभ-कार्य से हट जाना ही कायरता है। ऐसी कायरता ही विनाश का मार्ग है।

(३७)

कुप्पवयणा पासंडी,
सव्वे उम्मग्ग पट्ठिया।

उ०, २३, ६३,

टीका—कुदर्शन वादी सभी पाखडी हैं, मिथ्यात्वी है, वे सव उन्मार्ग में—मोक्ष मार्ग से सर्वथा विपरीत मार्ग मे स्थित हैं। क्योकि उनका ध्येय संसार के भोगो को भोगने की तरफ है।

(३८)

सयं सय पसंसंता, गरहंता
परं वयं, संसारं ते विउस्सिया।

सू० १, २२, उ, २

टीका—जो मूर्ख केवल अपनी मान्यता की प्रशसा करते रहते हैं और दूसरो की मान्यता की सदैव निंदा करते रहते है, वे सँसार में दृढ़ रूपसे वध जाते है, यानी वे अनन्त जन्म मरण करते है और विविध आपत्तियो में से गुजरते है।

संसार-सूत्र

(१)

जम्मदुक्खं जरा दुक्खं दुक्खो हु संसारो ।

उ०, १९, १६

टीका—यह ससार दुख ही दुख से भरा हुआ है, जन्म का दुख है, जरा यानी बुढापे का दुख है, रोग, मृत्यु, आकस्मिक संयोग-वियोग का दुख है, इस प्रकार नाना विपत्तियो का जमघट इस ससार में भरा हुआ है ।

(२)

एगन्त दुक्खे जरिए व लोए ।

सू०, ७, ११

टीका—यह ससार ज्वर के समान एकान्त दुख रूप ही है । जैसे-ज्वर-ताप-बुखार-एकान्त रूप से दुखदायी ही है, वैसे ही यह संसार भी जन्म-मरण, सयोग-वियोग से युक्त होने के कारण एकान्त रूप से दुखमय ही है ।

(३)

दाराणि य सुया चेव,
मयं नाणुव्वयन्ति य ।

उ०, १८, १४

टीका—जीवन मे और कुटुम्ब में, वैभव मे और भोगो में, इतनी आसक्ति, इतनी मूर्च्छा क्यो रखते हो ? याद रक्खो कि मरने पर स्त्री और पुत्र आदि साथ नही आनेवाले है, ये तो जहाँ के तहाँ ही रह जाने वाले है, केवल पाप और पुण्य ही साथ में आने वाले है ।

(४)

उज्झमाणं न बुज्झामो,
राग द्दोसग्गिणा जगं ।

उ०, १४, ४३

टीका—राग और द्वेष की अग्नि से जलते हुए ससार को हम नहीं पहिचान रहे है-अर्थात् आत्मा मे स्थित राग और द्वेष का हम विचार नही कर रहे है, यह एक लज्जा जनक और दुख जनक बात है।

(५)

संसारो अण्णवो वुत्तो ।

उ०, २३, ७३

टीका—ससार एक भयकर समुद्र है, जिसमे कषाय, विषय, वासना, विकार, मूर्च्छा, परिग्रह, मोह और इद्रियभोग आदि भयकर और विषम एव विनाशकारी जलचर प्राणी है, जो कि भव्य आत्मा को निगलने के लिये तैयार बैठे है ।

(६)

सारीर माणसा चेव,
वेयणा उ अणंतसो ।

उ०, १९, ४६

टीका—इस ससार मे शारीरिक और मानसिक वेदनाऐ अनन्त प्रकार की रही हुई है । कर्मोका उदय आने पर प्रत्येक आत्मा को इन्हे भोगना ही पड़ता है ।

(७)

महब्भयाओ भीमाओ,
नरएसु दुह वेयणा ।

उ०, १९, ७३

टीका—नरक स्थानो मे महाभय उत्पन्न करनेवाली, सुनने मात्र से ही भय पैदा करने वाली, प्रचड और नानाविध दुःख रूप वेदनाऐं है ।

(८)

अणंत गुणिया नरएसु दुःख वेयणा ।

उ०, १९, ७४

टीका—नरक-स्थानो मे यहा से अनन्तगुणी भयकर दुःख वेदनाऐं है। वेदनाऐ अनन्तगुणी ठडी, अनन्तगुणी उष्ण, अनन्तगुणी भूख-प्यास वाली और अनन्तगुणी चिन्ता और खेद जनक है।

(९)

पास ! लोए महब्भयं ।

आ०, ६, १७४, उ, १

टीका—देखो ! ससार मे कितना भय रहा हुआ है। मौत का, वियोग का, अनिष्ट सयोग का, रोग का, हानि-लाभ का, कलह-अशाति का, नाना तरह का भय और शोक ससार में व्याप्त है। इसलिये हमें ईश्वर और आत्मा पर विश्वास करके, सत्कार्यों द्वारा नैतिक और सात्विक आचरण द्वारा इस ससार-परिभ्रमण को समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। आत्मा को निर्मल बनाना चाहिये।

(१०)

बहु दुक्खा हु जन्तवो ।

आ०, ६, १७५, उ, १

टीका—इस ससार मे सभी प्राणी विभिन्न दुःखो में, विभिन्न क्लेशो मे, विभिन्न सतापो मे, विभिन्न पीडाओ और वेदनाओ मे फसे हुए है। इसका मूल कारण पूर्व-जन्मो में कृत और सचित अशुभ कार्य और कर्म ही है। इसलिये कार्य करते समय ध्यान रक्खो कि यह मै अशुभ कार्य कर रहा हूँ या शुभ कार्य कर रहा हूँ। अन्यथा घोर दुःख उठाना पड़ेगा।

(११)

अणिच्चे जीव लोगम्मि किं पसज्जसि ।

उ०, १८, १२

टीका—इस अनित्य, नाशवान् और दुःख पूर्ण ससार में क्यो आसक्त होते हो ? क्यो इसमे मूर्च्छित हो रहे हो ? आत्मा के स्वरूप को क्यो भूल रहे हो ?

(१२)

अणागयं नेव य अत्थिकिंचि,
सद्धा खमं णे विणइत्तु रागं ।

उ०, १४, २८

टीका—संसार मे ऐसा कोई पदार्थ बाकी नही रहा है, जो कि जीव को अतीत के जन्म-काल मे, पूर्व जन्मो में न मिल चुका हो। इसलिये राग-द्वेप को, रति—अरति को, वासना और विकार को मूर्च्छा और माया को हटाकर धर्म मे, तप और सयम मे पूर्ण श्रद्धा तथा पराक्रम रखना चाहिये ।

(१३)

चउव्विहे संसारे, दव्व संसारे,
खेत्त संसारे, काल संसारे, भाव संसारे ।

ठाणा०, ४, था, ठा, उ, १, ३१

टीका—ससार चार प्रकार का कहा गया है —द्रव्य ससार, क्षेत्र ससार, काल ससार और भाव ससार । १—जीव द्रव्यो और पुद्गल द्रव्यो का परिभ्रमण ही द्रव्य ससार है। २—चौदह राजू लोक जितना लोकाकाश ही क्षेत्र ससार है । ३—दिन रात्रि आदि से लगाकर पल्योपम सागरोपम आदि तक की परिभ्रमण अवस्था ही काल ससार है । ४—ससारी आत्मा मे कर्मोदय से पैदा होनेवाले विभिन्न राग-द्वेपात्मक विचार ही भाव ससार है ।

(१४)

अणंते निइए लोए,
सासए ण विणस्सती।

सू०, १, ६, उ, ४

टीका—यह लोक अनन्त है, नित्य है, शाश्वत है और इसका कभी भी-किसी भी काल मे विनाश नही होता है।

★

प्रकीर्णक-सूत्र

(१)

रमइ अज्ज वयणम्मि,

तं वयं बूम माहणं ।

उ०, २५, २०

टीका—जो आर्य वचनो में, सत्य, अहिंसा, अनुकम्पा, दान, शील, तप, भावना आदि में रमण करता है, विश्वास करता है, तदनुसार आचरण करता है, उसी को हम ब्राह्मण कहते है ।

(२)

राग दोस भयाईयं,

तं वयं बूम महाणं ।

उ०, २५, २१

टीका—जो राग, द्वेष और भय आदि दुर्गुंणो से रहित है उसीको हम ब्राह्मण कहते हैं । आचरण से और गुणो से वर्ण-व्यवस्था है, न कि जाति से और जन्म से । ऐसा श्री जैन धर्म का आदेश है ।

(३)

कम्मुणा बम्भणो होइ,

कम्मुणा होइ खत्तिओ ।

उ०, २५, ३३

टीका—कर्म से ही (यथा नाम तथा गुण होने पर ही) ब्राह्मण होता है, और कर्म से ही-आचरण से ही क्षत्रिय होता है । जो क्षमा, दान, ध्यान, सत्य, सरलता, धैर्य, ज्ञान-विज्ञान, दया, ब्रह्मचर्य, आस्तिकता आदि का आचरण करता हो तो वह चाहे किसी भी जाति अथवा वर्ण में पैदा हुआ हो, तो भी ब्राह्मण ही कहा जायगा । और

इसके विपरीत-सद्गुणो से रहित एव दुर्गुणो से ग्रसित ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुआ भी वास्तव मे ब्राह्मण नही है। इसी प्रकार जो जनता की रक्षा करे, परोपकार के लिए जीवन न्यौछावर करे, वही क्षत्रिय है। गुणो के अभाव में क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हुआ भी वास्तविक क्षत्रिय नही कहा जा सकता है। आचरण-अनुसार वर्ण-व्यवस्था है।

(४)

वईसो कम्मुणा होइ,
सुद्दो हवइ कम्मुणा।

उ०, २५, ३३

टीका—कर्म से ही, आचरण से ही वैश्य होता है, और कर्म से ही शूद्र होता है। जो कृषि-कर्म, पशु-पालन और व्यौपार करता है, वही सच्चा वैश्य है, फिर चाहे वह किसी भी कुल अथवा वर्ण मे उत्पन्न हुआ हो।

इसी प्रकार जो शिल्प-कला और सेवा-कार्य में लगा हुआ हो, वही शूद्र है। फिर चाहे जन्म से और वर्ण से कोई भी हो।

जैन धर्म गुणो के आधार से और आचरण के आधार से वर्ण-व्यवस्था का विधान करता है।

रूढि के आधार से और जाति-कुल के आधार से जैन धर्म वर्ण व्यवस्था को नही मानता है।

(५)

असंविभागी न हुतस्स मुक्खो।

द०, ९, २३, द्वि० उ,

टीका—असंविभागी को, स्वार्थी को, दूसरों के सुख दुख का, हित-अहित का ख्याल नही करने वाले को मोक्ष-सुख प्राप्त नही हो सकता है। उसे कदापि शाश्वत् सुख प्राप्त नही हो सकता है।

(६)

विवत्ती अविणीअस्स,
संपत्ती विणिअस्स अ।

द०, ९, २२ द्वि, उ,

टीका—अविनीत आत्मा को सदैव इस लोक और पर लोक में दुःख ही दुःख मिलता है, तथा विनीत आत्मा को सदैव इस लोक और पर लोक मे सुख ही सुख मिलता है।

(७)

गिहे दीव मपासंता,
पुरिसा दाणियानरा।

सू०, ९, ३४

टीका—भोगों मे फँसे हुए रहने की हालत में न तो ज्ञान रूप दीपक के प्रकाश की प्राप्ति हो सकती है, और न चारित्र रूप द्वीप ही ससार-समुद्र की दृष्टि से प्राप्त हो सकता है। इसीलिये परमार्थ की आकाक्षा वाले पुरुप आध्यात्मिक पुरुषो की शरण लेते है।

(८)

कीलेहिं विज्झंति असाहु कम्मा।

सू०, ५, ९, उ, १

टीका—पापी नाना प्रकार के दुःख पाते है, नरक-आदि गति मे कील आदि तीखे शस्त्रो से पीड़ित किये जाते है, परम-अधार्मिक देवता उन्हे घोर पीड़ा पहुँचाते हैं, ऐसा शास्त्रीय विधान है।

(९)

थणंति लुप्पंति तस्संति कम्मी।

सू०, ७, २०

टीका—पाप कर्म करने वाले प्राणी पाप का उदय होने पर, असह्य वेदना होने पर रोते है, तलवार आदि के द्वारा छेदन किये जाते है और नाना विधि से डराये जाते हैं, भयभीत किये जाते है।

(१०)

निरुद्धगं वा वि न दीहइज्जा ।

सू०, १४, २३,

टीका—व्याख्याता पुरुष छोटी बात को भी शब्दों के आडम्बर से बडी नही बनावे । इसी प्रकार जो बात थोडे में कही जा सकती है या समझाई जा सकती है, उसे लम्बे चौडे वाक्यों द्वारा और विस्तृत शब्दो द्वारा कभी नही कहे । क्योकि ऐसा व्याख्यान अरुचि आदि दोषो को पैदा करने वाला होता है और इसमे सिवाय समय नष्ट करने के और स्व-विद्वत्ता-प्रकाशन के और दूसरा कोई अर्थ सिद्ध नही होता है ।

(११)

कोलावासं समासज्ज वितहं पाउरे सए ।

आ०, ८, ३३, उ, ८

टीका—जैसे काठ का कीडा अपना घर बनाने में मशगूल हो जाता है, और अन्ततोगत्वा घोर परिश्रम कर घर बना कर उसमें रहने लगता है, वैसे ही तत्वदर्शी पुरुष भी अपनी आत्मा की वास्तविकता को ढूंढने में और उसको प्राप्त करने में सदैव लगा रहे । जब तक आत्मा की परिपूर्णता प्राप्त नही हो जाय, तब तक निरन्तर ज्ञान की आराधना मे और अपने चारित्र को-अति उज्ज्वल करने मे लगा रहे । प्रत्येक क्षण कर्त्तव्य-मार्ग म लगन की दृढता उत्तरोत्तर बढती ही चली जाय, ऐसा ही प्रयत्न रहे ।

(१२)

एगे जिए जिया पंच,
पंच जिए जिया दस ।

उ०, २३, ३६

टीका—एक के जीत लेने पर, पाचो को जीत लिया जाता है, और पाचो के जीत लेने पर दसो को जीत लिया जाता है ।

अर्थात् एक यानी आत्मा, पाच यानी मन और चारो कषाय, दस यानी पाँचो इन्द्रियाँ, तीनो योग, कषाय और नोकषाय वृत्ति।

(१३)

दुक्खं च जाई मरणं।

उ०, ३२, ७

टीका--जन्म-मृत्यु ही दुःख है, यानी जन्मने और मरने के बराबर घोर दुःख दूसरा और कोई नही है। जन्म-मृत्यु दुःखो की प्रथम श्रेणी में है।

(१४)

पुरिमा उज्जु जड्डा उ,
वक्क जडा य पच्छिमा।

उ० २३, २६

टीका--पहले तीर्थंकर के समय मे जनता सरल और अति सामान्य बुद्धि वाली थी, किन्तु चौबीसवे तीर्थंकर के शासन-काल में जनता कपटी, और मूर्ख होती है। मूर्खता को ही चतुरता समझने वाली होती है।

(१५)

मज्झिमा उज्जु पन्ना उ।

उ०, २३, २६

टीका--द्वितीय तीर्थंकर से लगा कर २३ वे तीर्थंकर तक के शासन-काल मे जनता सरल हृदय वाली और बुद्धि-शालिनी थी।

(१६)

बहु मायाओ इत्थिओ।

सू०, ४, २४, उ, १

टीका--स्त्रियाँ बहुत माया वाली होती है, और इसलिये स्त्रियों के संसर्ग से उनकी सगति करने वालो मे भी माया-जाल की उत्पत्ति

हो जाती है । स्त्रियों का सहवास धन, धर्म, शक्ति और सद्गुण आदि का नाश करने वाला है ।

(१७)

पुढो य छंदा इह माणवा उ ।

सू०, १०, १७

टीका—इस लोक मे मनुष्यों की भिन्न भिन्न रुचि होती है, एक समान रुचि होना अत्यंत कठिन है । "मुंडे मुंडे मति भिन्ना" इसका समर्थक है ।

(१८)

जीवो उवओग-लक्खणं ।

उ०, २८, १०

टीका—जीव का लक्षण, आत्मा का लक्षण उपयोग है । यानी अनुभूति, ज्ञान या चेतना ही आत्मा का मुख्य और असाधारण धर्म है ।

(१९)

वण्ण रस गध फासा,
पुग्गलाणं तु लक्खणं ।

उ०, २८, १२

टीका—पुद्गल का यानी अचेतन रूप जड पदार्थ का—रूपी तत्त्व का लक्षण वर्ण, गध, रस और स्पर्श धर्म वाला होना है । छः द्रव्यो में से केवल इस जड़ द्रव्य मे ही रूप, रस, गध और स्पर्श-धर्म पाये जाते है और किसी मे नही । शेष पाचो द्रव्य अमूर्त्त हैं, अरूपी है, अवर्ण वाले है, अगध वाले है, अस्पर्श वाले हैं और अरस वाले है ।

(२०)

गइ लक्खणो उ धम्मो ।

उ०, २८, ९

टीका—धर्मास्तिकाय का लक्षण, जीव और पुद्गल को गति देने मे—आवश्यकता पड़ने पर सहायक रूप होना है, जैसे जल मछली की चाल मे सहायक है ।

(२१)

अहम्मो ठाण लक्खणो ।

उ०, २८, ९

टीका—अधर्मास्तिकाय का लक्षण जीव और पुद्गल को "स्थिति" धारण करने के समय में सहायक रूप होना है । जैसे—धूप मे थके हुए मुसाफिर के लिये वृक्ष की छाया है ।

(२२)

भायणं सव्व दव्वाणं,
नहं ओगाह लक्खणं ।

उ० २८, ९

टीका—आकाश सभी द्रव्यो का भाजन है, सभी द्रव्यो के अवगाहन के लिये, यानी रहने के लिये स्थान देता है । छ ही द्रव्यो के रहने के लिये आकाश ही केवल एक—आधार भूत द्रव्य है ।

(२३)

वत्तणा लक्खणो कालो ।

उ०, २८, १०

टीका—काल वर्त्तना लक्षण वाला है, यानी नये को पुराना करना और पुराने को जीर्ण-शीर्ण करना ही, वस्तुओ के विनाश मे मदद पहुँचाना ही काल का लक्षण है । जैसे कि कैंची और कपडे का सबध है ।

(२४)

छक्काय- आहिया,
णावरे कोइ विज्जई ।

सू०, ११, ८

टीका—सपूर्ण लोक मे-सपूर्ण ब्रह्माड मे, सभी जीवों का संविभाजन केवल ६ अवस्थाओ मे या ६ काया मे किया गया है। इसमें सभी जीवों का समावेश हो जाता है। वे छ. काय इस प्रकार हैं- १ पृथ्वीकाय, २ अपकाय, ३ तेजसकाय, ४ वायुकाय, ५ वनस्पतिकाय और ६ त्रसकाय।

(२५)

दुविहा पोग्गला,
सुहुमा चेव वायरा चेव।

ठाणा, २ रा, ठा, उ, ३, ३

टीका—पुद्गल दो प्रकार के कहे गये है-१ सूक्ष्म और २ बादर। पुद्गल यानी जड़ और रूपी द्रव्य, जिनमें रूप,रस, गध और स्पर्श पाया जाता है, ऐसे जड़ द्रव्य पुद्गल कहे जाते हैं। जो आखो से दिखाई देते हैं, वे तो बादर पुद्गल हैं, और जो नही दिखाई देते है, वे सूक्ष्म पुद्गल हैं।

(२६)

दुविहे आगासे,
लोगागासे चेव, अलोगागासे चेव।

ठाणा०, २रा, ठा, उ, १, २८

टीका—आकाश दो प्रकार का कहा गया है:—१ लोकाकाश और २ अलोकाकाश।

सभी द्रव्यो को स्थान देने वाला-अवकाश देने वाला द्रव्य-आकाश है। जहाँ तक-जिस परिधि तक छः ही द्रव्य पाये जाते है, वहाँ तक तो लोकाकाश समझा जाता है, और उससे आगे पाच ही द्रव्यो का अभाव है, इसलिये वह अलोकाकाश कहलाता है। अलोकाकाश की कोई सीमाऐं नही है। वह तो अनंतानन्त,

अपरिमित और असीम कोसो तक फैला हुआ है। तीर्थंकर और ज्ञानी भी उसकी सीमाऐ नही वतला सकते है। किन्तु लोकाकाश परिमित है, ससीम है। लोकाकाश की कुल मर्यादा चौदह राजू तक की है।

(२७)

दो दंडा पन्नता तंजहा,
अट्ठा दंडे चेव अणट्ठा दंडे चेव।

ठाणां०, २रा, ठा, १ला उ,२२

टीका—पाप दो कारणो से उत्पन्न हुआ करता है-एक तो इन्द्रियो का पोषण करने से एव स्वार्थ भावना की दृष्टि से और दूसरा विना किसी कारण के केवल मूर्खता वश किया जाने से। प्रथम पाप को अर्थ दड पाप कहा जाता है, और दूसरे को अनर्थ-दंड पाप कहते है। ये दोनो पाप समुच्चय रूप से चारो गति मे पाये जाते है, किन्तु व्यक्तिगत रूप से अनेक विवेकी आत्माऐं इनसे वचते भी है।

(२८)

लोगे तं सव्वं दुपडीआरं,
जीवा चेव अजीवा चेव।

ठाणां०, २रा ठाणा, १, १ला उ,

टीका—ससार मे यानी सपूर्ण ब्रह्माड मे या सम्पूर्ण विश्व में पाये जाने वाले सभी पदार्थो को, सभी द्रव्यो को, सभी वस्तुओ और सभी तत्त्वो को केवल दो मूलभूत द्रव्यो मे या दो मूलभूत वस्तुओ मे वाटा जा सकता है। इन दो मूलभूत तत्त्वो के सिवाय और तीसरा कोई तत्त्व नही है। वे दो है :—जीव और अजीव-अर्थात् चेतन और जड। जीव तत्त्व में या चेतन मे-सभी आत्म द्रव्य आ जाते है और अजीव में—या जड़ तत्त्व मे, धर्मास्तिकाय,

अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, और काल द्रव्य समझना चाहिये ।

(२९)

तओ सुसन्नप्पा,
अदुट्ठे अमूढे, अवुग्गाहिए ।

ठाणा० ३रा, ठा, उ, ४, १४

टीका—तीन प्रकार के मनुष्यो को समझाना सुलभ है । १ अदुष्ट यानी द्वेष रहित को–सरल प्रकृति वाले को, २ अमूढ़ को यानी बुद्धि शाली को और ३ कुसगति मे नही पड़े हुए को अर्थात् मिथ्यात्वियो से भ्रमित नही हुए को ।

(३०)

तओ दुसण्णप्पा,
दुट्ठे, मूढे, कुग्गाहिए ।

ठाणा०, ३रा, ठा, उ, ४, १४

टीका—तीन प्रकार के पुरुषो को समझाना बहुत ही कठिन होता है —१ दुष्ट यानी सात्विक बातो के कट्टर विरोधी को, खल पुरुष को, २ मूढ यानी सर्वथा अज्ञानी को, और ३ मिथ्या धर्म मोह मे पूरी तरह से ग्रसित पुरुष को, यानी कुगुरुओ द्वारा अथवा कुसगति से भ्रमित पुरुष को ।

(३१)

तओ सुग्गया, सिद्ध सुग्गया,
देव सुग्गया, मणुस्स सुग्गया ।

ठाणा०, ३रा, ठा, ३ उ, १५

टीका—सुगति तीन प्रकार की कही गई है :—१ सिद्ध सुगति, २ देव सुगति, और ३ मनुष्य-सुगति ।

(३२)

चउव्विहे संघे, समणा,
समणीओ, सावगा, साविगाओ।

ठाणा०, ४था, ठा, उ, ४, ३०

टीका—भगवान महावीर स्वामी की शासन-व्यवस्था, यानी महावीर स्वामी के अनुयायी चार भागो मे विभाजित किये गये हैं:—१ साधु, २ साध्वी, ३ श्रावक और ४ श्राविका।

(३३)

चत्तारि वायणिज्जा विणीए,
अविगइपडिबद्धे, विउसवियपाहुडे अमायी।

ठाणां०, ४था, ठा, उ, ३, २७

टीका—चार प्रकार के पुरुष वाचना देने के योग्य होते हैं —(१) विनीत, (२) स्वाद-इन्द्रिय में अगृद्ध-अनासक्त, (३) क्षमाशील और (४) सरल हृदय वाला।

(३४)

चत्तारि अवायणिज्जा,
अविणीए, विगइपडिबद्धे,
अविउसविय पाहुडे, मायी।

ठाणां०, ४था, ठा, उ, ३, २७

टीका—चार प्रकार के पुरुष वाचना देने के अयोग्य हैं-(१) अविनीत, (२) स्वाद-इन्द्रिय में गृद्ध-आसक्त, (३) क्रोधी और (४) मायावी-कपटी।

(३५)

चत्तारि समणो वासगा
अम्मापिइ समाणे, भाइसमाणे
मित्तसमाणे, सवत्ति समाणे।

ठाणा०, ४था, ठा, उ, ३, २०

टीका—चार प्रकार के श्रावक कहे गये है ।—

(१) बिना किसी बदले की भावना के विशुद्ध हृदय से "साधु-साध्वियो के लिये सुसमाधि रहे "—ऐसी हितकारी व्यवस्था करने वाला श्रावक माता-पिता समान श्रावक है ।

(२) साधु-साध्वियो को प्रमादी देख कर ऊपर से क्रोध करे, किन्तु मन मे हित की भावना ही रक्खे—ऐसा श्रावक भाई समान श्रावक है ।

(३) साधु-साध्वियो के दोषो को ढक कर, दोषो की उपेक्षा कर केवल गुणो की तरफ ही लक्ष्य देने वाला श्रावक मित्र समान श्रावक है ।

(४) जो श्रावक साधु-साध्वियो के गुणो को तो नही देखता है, किन्तु दोष ही दोप देखता है, ऐसा श्रावक शत्रु-श्रावक है ।

(३६)

चत्तारि सूरा, खंति सूरे,
तवसूरे, दाणसूरे, जुद्धसूरे ।

ठाणा०, ४था, ठा, उ, ३, ७

टीका—चार प्रकार के शूरवीर-माने गये हैं —१ क्षमा-शूर, कठिनाइयो में और विकट एव प्रतिकूल परिस्थिति में भी घोर क्षमा रखने वाले क्षमा-शूर है ।

२ तप-शूर :—तपश्चर्या मे-एवं सेवा मे असाधारण वीरता रखने वाले तप-शूर है ।

३ उदारता पूर्वक और अनासक्ति के साथ मुक्त हस्त होकर दान देने वाले महापुरुष दान-शूर है ।

४ कायरता को भगाकर असाधारण साहस के साथ युद्ध करने वाले युद्ध-शूर होते है ।

(३७)

खंति सूरा अरहंता, तवसूरा अणगारा,
दाणसूरे वेसमणे, जुद्धसूरे वासुदेवे ।

ठाणां०, ४था, ठा, उ, ३, ७

टीका—क्षमा-शूरो मे सर्वोत्तम क्षमा-शूर अरिहंत हैं। तप-शूरों मे असाधारण तप-शूर अणगार-साधु होते हैं। दानियों में दान-शूर वैश्रमण है और युद्ध मे शूर-वीर वासुदेव हैं।

(३८)

चत्तारि बिकहाओ पराणत्ताओ,
इत्थिकहा, भत्त कहा, देस कहा, राय कहा ।

ठाणा०, ४था, ठा, उ २, ६

टीका—चार प्रकार की विकथाऐ कही गई है :—१ स्त्री कथा, २ भोजन कथा, ३ देश-कथा और ४ राज कथा।

(३९)

चत्तारि झाणा, अट्टे झाणे,
रोद्दे झाणे, धम्मे, झाणे, सुक्के झाणे ।

ठाणां०, ४था, ठा, उ, १, १५

टीका—ध्यान चार प्रकार के कहे गये है :—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान।

(४०)

चउव्विहे कव्वे,
गज्जे, पज्जे, कत्थे, गेये ।

ठाणा०, ४था, ठा, उ, ४, ४३

टीका—चार प्रकार का काव्य कहा गया है :—१गद्य, २ पद्य, ३ कथा, और ४ गेय।

(४१)

पंचविहे सोए, पुढविसोए, आउसोए,
तेउ सोए, मंतसोए, बंभसोए।

ठाणा०, ५वा,ठा, उ, ३, ६

टीका—पांच प्रकार की वस्तुओ से पवित्रता का कार्य सपादन किया जा सकता है।

१ पृथ्वी-मिट्टी से, २ पानी से, ३ अग्नि से, ४ मत्र से और ५ ब्रह्मचर्य से।

(४२)

पंचविहे ववहारे, आगमे,
सुए, आणा, धारणा, जीए।

ठाणा०, ५ वा, ठा, उ, २, ७

टीका—पाच प्रकार के व्यवहार कहे गये है —१ आगम, २ सूत्र ३ आज्ञा, ४ धारना, और ५ जीत।

(१) केवल ज्ञानी, मन पर्याय ज्ञानी, अवधि ज्ञानी, पूर्वधर आदि का जीवन-व्यवहार-आगम-व्यवहार है।

(२) सूत्रानुसार व्यवहार सूत्र-व्यवहार है।

(३) अनुभवी, विद्वान् महापुरुष की आज्ञानुसार व्यवहार करना आज्ञा-व्यवहार है।

(४) पूर्व महापुरुष कृत व्यवहार को देखकर और प्रसगोपात्त उसे याद कर तदनुसार व्यवहार करना धारणा-व्यवहार है।

(५) परम्परा से चले आये हुए व्यवहार के अनुसार व्यवहार करना जीत-व्यवहार है।

आगम-व्यवहार के सद्भाव मे शेष चार निषिद्ध है।

सूत्र-व्यवहार के सद्भाव में शेष तीन निषिद्ध है।

आज्ञा-व्यवहार के सद्भाव मे शेष दो निषिद्ध है।

धारणा-व्यवहार के सद्भाव मे जीत-व्यवहार निषिद्ध है।

प्रथम चार व्यवहारो के अभाव मे ही जीत-व्यवहार आचरणीय है।

(४३)

पंचणिही-पुत्तणिही, मित्तणिही,
सिप्पणिही, धणणिही धन्नणिही।

ठाणां०, ५वा ठा, उ, ३, ६

टीका—पाच प्रकार की निधि कही गई है :— १ पुत्र निधि, २ मित्र निधि, ३ ज्ञान निधि, ४ धन-निधि, और ५ धान्य निधि।

(४४)

छव्विहे भावे, उदइए, उवसमिए, खइए,
खयोवसमिए, पारिणामिए, संनिवाइए।

ठाणां०, ६ ठ्ठा, ठा, उ, १, ११५

टीका—छ प्रकार के भाव आत्मा के परिणाम कहे गये है :— १ औदयिक, २ औपशमिक, ३ क्षायिक, ४ क्षायोपशमिक, ५ पारिणामिक और ६ सान्निपातिक।

१—कर्मो के उदय से होने वाले आत्मा के विचार-विशेष औदयिक भाव है। २—कर्मो के उपशम से यानी अनुदय के कारण से आत्मा मे पैदा होने वाले विचार-विशेष औपशमिक भाव है। ३—कर्मो के क्षय होने से उत्पन्न होनेवाले आत्मा के विचार-विशेष क्षायिक भाव है। ४-कर्मो में से कुछ एक के क्षय होने पर और कुछ एक के उपशम होने पर आत्मा मे उत्पन्न होने वाले विचार विशेष क्षायोपशमिक भाव है। ५—आत्मिक विचारो का स्वाभाविक स्वरूप परिणमन ही पारिणामिक भाव है।

६—संमिश्रित भावो को सान्निपातिक भाव कहते है।

(४५)

सत्त भय ट्ठाणा, इह लोग भए,
पर लोग भए, आदाण भए,
अकम्हा भए, वेयणा भए,
मरण भए, असि लोग भए।

ठाणा०, ७वा, ठा, १५

टीका—सात प्रकार के भय के स्थान कहे गये है—(१) इस लोक का भय, यानी मनुष्य को मनुष्य का, (२) पर लोक का भय, (३) चोरी, वटवारा आदि का भय, (४) अकस्मात् रूप से पैदा होनें वाला भय, (५) वेदना, रोग आदि का भय, (६) मृत्यु भय और (७) अयश, अपकीर्ति का भय।

(४६)

सत्तविहे आउभेदे, अज्झवसाण,
निमित्ते, आहारे, वेयणा, पराघाए,
फासे, आणापाणू ।

ठाणा०, ७वा, ठा ३८

टीका—सात प्रकार से आयुष्य टूट सकती है—(१) भयानक विचार से, भयानक कल्पना अथवा भयानक स्वप्न से, (२) शस्त्र आदि के निमित्त से, (३) बहुत आहार करने से, (४) शूल आदि से, (५) पराघात से-दूसरो की चोट आदि देखने पर कायर होने की हालत मे हृदय के फेल हो जाने पर, (६) सर्पादि के दश से, और (७) श्वास आदि रोग से।

—इति—

परिशिष्ट नं. १

अकारादि क्रम से छाया सहित

मूल सूक्ति-कोश

(बायी ओर प्राकृत भाग और दाहिनी
ओर शब्दानुलक्षी हिन्दी अनुवाद)

—*—*—

नोट :—सूक्तियों के आगे कोष्टक मे जो शब्द और सख्या अङ्कित है, उनका तात्पर्य विषय-नाम और उसी विषय की सूक्ति संख्या से है, जो कि पुस्तक के मूल भाग मे मुद्रित है ।

अ

१—अकप्पिय न गिण्हिज्जा । (उपदेश, ६९)
२—अकम्मुणा कम्म खवेति धीरा । (सात्विक, ७)

३—अकिरियं परिवज्जए । (कर्त्तव्य, १)
४—अकुसीले सया भिक्खू,णव ससग्गिय भए,(श्रमण—भिक्षु, ३५)
५—अकुव्वओ णव णत्थि । (सात्विक, १२)
६—अकोहणे सच्च रए सिक्खा सीले । (सद्गुण, ३)
७—अकोहणे सच्च रते तवस्सी । (तप, ९)
८—अकोविया दुक्ख ते नाइ तुट्टति, सउणी पजर जहा । (वाल, ५)

९—अगुणप्पेही ण आराहेइ सवर । (अनिष्ट, ९)
१०—अगुणिस्स नत्थि मोक्खो । (मोक्ष,१७)
११—अगुत्ते अणाणाए । (योग, १०)

१२—अच्चन्त नियाण खमा, एसा मे भासिया वई । (प्रशस्त, १४)

१३—अच्चेही अणुसास अप्पगं । (उपदेश, ९४)
१४—अजय भुजमाणो अ पाण भूयाइ हिंसइ । (हिंसा, ३)

१५—अजय चरमाणो अ पाण भूयाइ हिंसइ । (हिंसा, २)

१६—अजरा अमरा असगा । (मोक्ष, ९)

१७—अज्जाइ कम्माइ करेहि । (उपदेश, ६१)

अ

१—अकल्पनीय ग्रहण नहीं करे।

२—वीर पुरुष अकर्म द्वारा, (आश्रव रहित होकर) कर्म का क्षय कर देते है।

३—अकर्तव्य का परिवर्जन कर दे।

४—भिक्षु सदा अकुशील हो, ससर्ग वाला नहीं हो।

५—अकर्त्ता होता हुआ नवीन (कर्म वाला) नहीं है।

६—अक्रोधी, सत्य रत, शिक्षा शील (होता है)।

७—अक्रोधी, सत्य रत तपस्वी (होता है)

८—वे अकोविद दुःख को नहीं तोड सकते है, जैसे कि शकुनि (पक्षी) पीजरे को।

९—अगुणप्रेक्षी सवर को नहीं आराधता है।

१०—अगुणी का मोक्ष नहीं है।

११—अगुप्त अनाज्ञा वाला है। (अगुप्ति वाला आज्ञा से रहित होता है)

१२—मेरे द्वारा भाषित यह वाणी अत्यन्त निदान क्षमा (कर्म काटने मे अत्यन्त समर्थ) है।

१३—त्यागी अपनी आत्मा को अनुशासित करे।

१४—अयत्ना पूर्वक भोजन करता हुआ प्राणियो की, और भूतो की हिंसा करता है।

१५—अयत्नापूर्वक चलता हुआ प्राणियो की, और भूतो की हिंसा करता है।

१६—वे (मुक्त जीव) अजर है, अमर है और असग है। (निरञ्जन निराकार है)

१७—आर्य कर्मों को (श्रेष्ठ कामो को) करो।

१८

१८—अज्झत्थ हेउ निययस्स बन्धो ससार हेउ चवयन्ति बन्ध ।
(कर्म १९)

१९—अज्झप्परए सुसमाहि अप्पा जे स भिक्खू । (श्रमण–भिक्षु ९)

२०—अज्झोववन्ना कामेहि पूयणा इव तरुण ए । (काम ३५)

२१—अट्टेसु मूढे अजरामरेव्वा । (बाल ७)

२२—अणगारे पच्चक्खाय पावए । (श्रमण ५०)

२३—अणगार चरित्त धम्मे दुविहे,
सराग सजमे चेव, वीयराग सजमे चेव । (श्रमण-५२)

२४—अणट्ठा जे य सव्वत्था परिवज्जेज्ज । (कर्त्तव्य ६)

२५—अणाइले या अकसाइ भिक्खू । (श्रमण-भिक्षु ११)

२६—अणागय नेव य अत्थि किंचि,
सद्धा खम मे विणइत्तु रार्ग । (ससार १२)

२७—अणाबाह सुहाभिकखी,
गुरुप्प सायाभिमुहो रमिज्जा । (उपदेश ७१)

२८—आणासए जो उ सहिज्ज कटए, स पुज्जो । (महापुरुप ११)

२९—अणिच्चे जीव लोगम्मि कि पमज्जसि । (ससार ११)

३०—अणियते अय वासे, णायएहि सुहीहि य । (अनिष्ट ३०)

३१—अणियाणभूते सुपरिव्वाएज्जा । (अहिंसा २२)

१८—आत्मस्थ हेतु— (मिथ्यात्व आदि) निज का बन्ध करने वाले हैं और बंध को ससार का हेतु कहते हैं।

१९—जो अध्यात्मरत्त सुसमाधि वाली आत्मा है, वही भिक्षु है।

२०—पूतना (रोग विशेष) से जैसे तरुण बालक (दुखी होते है) वैसे ही कामो से —(भोगो से) विषयो मे आसक्त (आत्माएं दुखी होती हैं)

२१—मूढ आर्त्त (आर्त्तध्यान सबधी कामो) मे अजर अमर की तरह (फसे हुए है)

२२—प्रत्याख्यात अनगार (प्रतिज्ञा लिया हुआ साधु) प्राप्त करे। (निर्मल आत्मावाला होता है)।

२३—अनगार का चारित्र धर्म दो प्रकार का है, सराग सयम और वीतराग सयम।

२४—जो अनर्थ रूप है, उन्हे सर्वथा परिवर्जित कर दे। (छोड दे)

२५—अनाविल (पाप रहित) अथवा अकषायी ही भिक्षु होता है।

२६—किंचित् भी अनागत नही है (यानी कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो कि पहले नही मिला हो) अंत मेरे राग को दूर करने के लिये श्रद्धा ही समर्थ है।

२७—अव्याबाध सुख का आकांक्षी (मोक्ष का अभिलाषी) गुरु की प्रसन्नता के अभिमुख होता हुआ रमण करे। (गुरु की आज्ञानुसार चलता रहे।)

२८—अनासक्त होता हुआ जो काटो को (कष्टो को) सहता है, वही पूज्य है।

२९—अनित्य (नाशवान्) जीव-लोक में क्यो आसक्त रहता है ?

३०—सुख शील जाति वालो के साथ यह वास, अनित्य है।

३१—अनिदान भूत होता हुआ (आश्रव रहित होता हुआ) जीवन-व्यवहार चलावे।

३२—अणिहे से पुट्ठे अहियासए । (क्षमा ५)

३३—अणुक्कसे अप्पलीणे, मज्झेण मुणि जावए ।(श्रमण-भिक्षु २३)

३४—अणु चिंतिय वियागरे । (सत्यादि १५)

३५—अणुत्तरे नाणधरे जससी, ओभासई सूरिए एव अतलिक्खे ।
(प्रशस्त १२)

३६—अणुत्तर धम्म मिण जिणाण, णेयरा मुणी कासव आसुपन्ने ।
(प्रा मं १६)

३७—अणुत्तरं सव्व जगंसि विज्ज, गथा अतीते अभए अणाऊ ।
(प्रा. म १५)

३८—अणुन्नए नावणए महेसी । (महापुरुष ३१)

३९—अणु पुव्व पाणेहि सजए । (अहिंसा १६)

४०—अणुवसन्तेण दुक्कर दमसागरो । (कषाय ३५)

४१—अणुसासण मेव पक्कमे । (उपदेश ७८)
४२—अणुमासिओ न कुप्पिज्जा । (उपदेश ५४)

४३—अणोम दंसी निसण्णे, पावेहि कम्मेहि । (प्रशस्त २७)

३२—अनिह (क्रोध आदि से रहित) होता हुआ स्पर्श किये हुए (प्राप्त हुए उपसर्गों को) सहन करे।

३३—अनुत्कर्ष वाला (किसी भी प्रकार का अहकार नही करने वाला), अप्रलीन वाला (आसक्ति रहित वाला), मुनि मध्यस्थ भाव से (तटस्थ भाव से) विचरे।

३४—अनुचिंतवन करके (गभार विचार करके) बोले।

३५—अनुत्तर (श्रेष्ठ) ज्ञान के धारण करने वाले, यशस्वी होते हुए ऐसी शोभा पाते है (ऐसे प्रकाश शील होते है) जैसा कि सूर्य अन्तरिक्ष मे (आकाश में)।

३६—जिनेन्द्रो का (राग द्वेष जीतने वालो का) यह अनुत्तर (श्रेष्ठ) धर्म है, और इसके नेता, मुनि आशु प्रज्ञ (शीघ्र बुद्धिवाले) काश्यप है। (प्रभु महावीर द्वारा यह शासित है)

३७—(वे महावीर स्वामी) सारे जगत् में अनुत्तर है (श्रेष्ठ है) विज्ञ है, ग्रंथि से (कषाय और परिग्रह से रहित है) अतीत है, अभय है और अनायु (चरम शरीरी) है।

३८—महर्षि न तो उन्नत (अभिमानी) हो और न अवनत (दुख से दीन) हो।

३९—प्राणियो के साथ अनुपूर्व रीति से (क्रम से) सयम शील हो, (यत्न वाला हो)।

४०—अनुपशान्त द्वारा (जिसका कषाय शान्त नही हुआ है, ऐसे मनुष्य द्वारा) इन्द्रिय-दमन रूप सागर, (पार कर लेना) दुष्कर है।

४१—अनुशासन में ही (भगवान की आज्ञा मे ही) पराक्रम शील हो।

४२—अनुशासित किया जाता हुआ (उपदेश दिया जाता हुआ) क्रोध नहीं करे।

४३—पूर्ण दर्शी (उच्च ज्ञान-चारित्र वाला) पाप कर्मो से निवृत्त ही होता है।

४४—अणंत गुणियां नरएसु दुःख वेयणा । (संसार ८)
४५—अणते निइए लोए, सासए ण विणस्संती । (संसार १४)
४६—अत्तत्ताए परिव्वए । (कर्त्तव्य १६)

४७—अत्ताण न समुक्कसे । (कषाय १८)

४८—अतुट्ठि दोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्त ।
(लोभ १०)

४९—अतुल सुह सागर गया, अव्वाबाह अणोवमं पत्ता ।
(मोक्ष ११)
५०—अदक्खु कामाइं रोग वं । (काम २९)
५१—अदिन्नमन्नेसु य णो गहेज्जा । (उपदेश १०)
५२—अदीणो वित्ति मेसिज्जा । (प्रशस्त २३)
५३—अन्तो बहिं विऊस्सिज्ज, अज्झत्थ सुद्ध मेसए । (उपदेश ९१)

५४—अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे । (श्रमण-भिक्षु २८)

५५—अन्नप्पमत्ते धण मेसमाणे, पप्पोति मच्चु पुरिसे जर च ।
(बाल ३०)
५६—अन्नाण मोहस्स विवज्जणाए, एगन्त सोक्ख समुवेइ मोक्ख ।
(मोक्ष १५)
५७—अन्नाणिया नाण वयना वि निच्छयत्थ न याणंति ।
(बाल २८)
५८—अन्न जण खिसति बालपन्ने । (बाल ८)

४४—नरकों में दुःख वेदना अनंत गुणी है।

४५—यह लोक अनंत है, नित्य है, शाश्वत् है और विनष्ट नहीं होता है।

४६—आत्मा के त्राण के लिये, (आत्मा को पाप से बचाने के लिये) संयम शील हो।

४७—आत्मा के (निर्मलता के) लिये समुत्कर्ष शील (अहंकारी) न हो।

४८—जो अतुष्ट है, (असंतुष्ट है-लोभी है), वह इस दोष से स्वयं दुःखी है और पर के लिये भी दुःख पैदा करता है। लोभ से व्याकुल होता हुआ अदत्त को भी ग्रहण कर लेता है, (चोरी कर लेता है)।

४९—(मुक्त जीव) अतुल सुख सागर को प्राप्त हुए हैं, अव्याबाध (अनंत) और अनुपम (सर्व श्रेष्ठ), (अवस्था को) प्राप्त हुए हैं।

५०—काम-भोगों को रोग (पैदा करने) वाले ही देखो।

५१—नहीं दी हुई वस्तुओं को नहीं ग्रहण करे।

५२—अदीन (गौरव वाला) होकर वृत्ति—(आहार आदि को) ढूंढे।

५३—आंतरिक और बाह्य रूप से त्यागी होकर आत्मा सर्वथा शुद्धि की इच्छा करे। अथवा अनुसंधान करे।

५४—अन्न के लिये और पानी के लिये अनुगृद्ध (आसक्ति वाला) न हो।

५५—अन्य के लिये प्रमाद शील होता हुआ, धन की अकांक्षा या अनुसंधान करता हुआ पुरुष मृत्यु को और बुढ़ापे को प्राप्त होता है।

५६—अज्ञान रूपी मोह के विवर्जन से (त्याग से) एकान्त मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है।

५७—अज्ञानी ज्ञान को बोलते हुए भी निश्चित अर्थ को नहीं जानते हैं।

५८—बाल प्रज्ञ (मूर्ख बुद्धि वाला) दूसरे मनुष्य की ही निंदा करता है।

५९—अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे, न मूलओ छिंदई बन्धण से। (कर्म १६)

६०—अप्पडि चक्कस्स जओ, होउ, सया सघ चक्कस्स। (प्रा म २०)

६१—अप्पणा सच्च मेसेज्जा। (सत्यादि १)

६२—अप्पणो य परं नाल, कुतो अन्नाणु सासिउ। (बाल २९)

६३—अप्पमत्तो कामेहि उवरओ पाव-कम्मेहि। (प्रशस्त २१)

६४—अप्पमत्तो जए निच्च। (प्रशस्त १३)

६५—अप्पमत्तो परिव्वए। (सद्गुण ११)

६६—अप्पाण रक्खी चरे अप्पमत्तो। (उपदेश ८२)

६७—अप्पाहारे तितिक्खए। (क्षमा ६)

६८—अप्पाकत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य। (आत्म १२)

६९—अप्पा काम दुहा धेणू, अप्पा मे नन्दण वण। (आत्म १३)

७०—अप्पाण जइत्ता सुह मेहए। (आत्म ९)

७१—अप्पाणमेव जुज्झाहि, कि ते जुज्झेण बज्झओ। (आत्म ८)

७२—अप्पा दन्तो सुही होइ। (तप १०)

७३—अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूड सामली। (आत्म १४)

५९—रसों में गृद्ध (मूर्च्छित) और अनिग्रह वाली (अजीतेन्द्रिय) आत्मा मूल से बंधन को (कर्मों को) नहीं काट सकती है।

६०—नहीं है सम कक्ष दूसरा चक्र जिसके, ऐसे संघ रूप चक्र की सदा जय हो।

६१—अपनी आत्मा द्वारा ही सत्य का अनुसंधान करो।

६२—जो स्वयं को शिक्षा देने के लिये समर्थ नहीं है, वह अन्य को शिक्षा देने के लिये कैसे समर्थ हो सकता है?

६३—जो काम-भोगों से अप्रमत्त है वही पाप-कर्मों से उपरत है—दूर है।

६४—अप्रमादी होता हुआ नित्य संयम में प्रवृत्त रहे।

६५—अप्रमादी होता हुआ ही विचरे।

६६—अपनी आत्मा की रक्षा करने वाला अप्रमादी होता हुआ ही विचरे।

६७—अल्प आहार वाला होता-हुआ तितिक्षा वाला होवे,—सहनशीलता वाला होवे।

६८—दुःखों का अथवा सुखों का कर्त्ता या अकर्त्ता आत्मा ही है।

६९—आत्मा ही इच्छा पूर्ति करने वाली काम-धेनु है और अपनी आत्मा ही नंदन वन है।

७०—आत्मा को जीतकर ही सुख प्राप्त करो।

७१—आत्मा से ही—(आत्मस्थ कषायों से ही) युद्ध करो, बाह्ययुद्ध से तुम्हें क्या,(प्राप्त होने वाला है) ?

७२—दमन करने वाली आत्मा ही सुखी होती है। अथवा आत्मा का (आत्मस्थ कषायों का) दमन करने वाला ही सुखी होता है।

७३—आत्मा ही वैतरणी नदी है और अपनी आत्मा ही कूट-शाल्मली वृक्ष है।

७४—अप्पा मित्त ममित्त च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ। (आत्म ११)

७५—अप्पियस्सावि मित्तस्स रहे कल्लाण भासई। (सद्गुण २)

७६—अपुच्छिओ न भासिज्जा। (सत्यादि ३४)
७७—अप्प भासेज्ज सुव्वए। (सत्यादि ११)
७८—अबभचरिअ घोर। (काम २)
७९—अभय करे वीरे अणत चक्खू (प्रा म, ६)

८०—अभय करे भिक्खू अणाविलप्पा। (श्रमण–भिक्षु ४७)
८१—अभय दाया भवाहि। (अहिंसा १८)
८२—अभिणूम कडेहि मूच्छिए, तिव्वं ते कम्मेहिं किच्चती।
(कर्म २०)
८३—अभिसधए पाव विवेगभिक्खू। (उपदेश ७३)
८४—अमणुन्न समुप्पाय दुक्खमेव। (योग १३)
८५—अरइ आउट्टे से मेहावी, खणसि मुक्के। (सात्विक १४)

८६—अरए पयासु। (शील १०)
८७—अरूवी सत्ता, अपयस्स पय नत्थि। (आत्म ४)

८८—अल्लीण गुत्तो निसिए। (योग ७)

८९—अलोगे पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया। (मोक्ष १०)

९०—अलोल भिक्खू न रसेसु गिज्झे। (श्रमण भिक्षु ४१)

७४—आत्मा ही मित्र भी है और अमित्र भी है। दुष्प्रतिष्ठित और सुप्रतिष्ठित करने वाली भी आत्मा ही है।

७५—अप्रिय मित्र के लिए भी एकान्त मे जो कल्याण युक्त ही बोलता है, वही आदर्श है।

७६—नहीं पूछा हुआ, नही बोले।

७७—सुव्रती अल्प ही बोले।

७८—अब्रह्मचर्य घोर पाप है।

७९—प्रभु महावीर अभय देने वाले है और अनन्त चक्षु वाले हैं। (महा ज्ञानी है)।

८०—राग-द्वेष रहित आत्मा वाला भिक्षु अभयदान देता रहे।

८१—अभय दान देने वाले होओ।

८२—माया आदि कुकृत्यो से मूर्च्छित, अन्त मे वह कर्मो द्वारा तीव्र क्लेश पाता है।

८३—भिक्षु पाप का विवेक रखता हुआ निर्दोष वचन बोले।

८४—अमनोज्ञ की समुत्पत्ति ही दुःख है।

८५—जो अरति को नष्ट कर देता है, वही मेधावी है, वही क्षण भर मे मुक्त हो जाता है।

८६—प्रजाओ मे अर्थात् स्त्रियो में आसक्त मत हो।

८७—(मुक्त जीव) अरूपी सत्ता वाला होता है, शब्दातीत के लिये शब्द नही होता है। अपद के लिये पद नही है।

८८—गुरु आदि के आश्रित रहता हुआ, गुप्ति धर्म का पालन करता हुआ बैठे, अथवा रहे।

८९—सिद्ध प्रभु अलोक मे जाने से रुके हुए है और लोक के अग्र भाग पर प्रतिष्ठित है।

९०—अचचल होता हुआ (अनासक्त होता हुआ) भिक्षु रसो मे गृद्ध नही हो।

९१—अलोलुए रसेसु नाणु गिज्झेज्जा । (सद्गुण १२)

९२—अल कालस्स समेण । (कर्त्तव्य १२)

९३—अव्वाबाह सुक्ख अणुहोती सासय सिद्धा । (मोक्ष ४)

९४—अविअत्त चेव नो वए । (सत्यादि १८)

९५—अवि अप्पणो वि देहमि नायरति ममाइय । (महापुरुष १७)

९६—अवि ओसिए वासति पाव कम्मी । (कषाय ३६)

९७—अविणी अप्पा दीसति दुहमेहता । (अनिष्ट ४)

९८—अवि वाम सय नारिं बभयारी विवज्जए । (शील ११)

९९—अविस्सासो अ भूआण तम्हा मोस विवज्जए । (सत्यादि ४२)

१००—असमियः ति मन्न माणस्स, समिया वा असमिया वा असमिया होइ । (अनिष्ट २८)

१०१—असावज्ज मिय काले भास भासिज्ज पन्नव । (सत्यादि ५)

१०२—असासया वासमिण वुक्खकेसाण भायण । (अनित्य ३)

१०३—असाहु धम्माणि ण सवएज्जा । (उपदेश १७)

१०४—असि धारा गमण चेव दुक्करं चरिउ तवो । (तप १४)

१०५—असुहाण कम्माण निज्जाण पावग । (कर्म १५)

१०६—असेयकरी अन्नेसी इक्खिणी । (अनिष्ट ११)

१०७—असखयं जीवियं मा पमायए । (उपदेश २५)

९१—अलोलुप होता हुआ रसो में अनुगृद्ध नहीं हो।

९२—बाल पुरुषो के (मूर्ख आदमियो के) ससर्ग से बचा करो, यानी दूर रहो।

९३—सिद्ध प्रभु शाश्वत् रूप से अव्याबाध सुख का अनुभव करते रहते है।

९४—अव्यक्त भाषा नहीं बोले।

९५—(महा पुरुष) अपने शरीर के प्रति भी ममत्व भाव का आचरण नहीं करते है।

९६—कषाय में सलग्न पापकर्मी दुख का ही भागी है।

९७—अविनीत आत्माए दुख प्राप्त करती हुई ही देखी जाती है।

९८—ब्रह्मचारी सौ वर्ष की आयुवाली स्त्री से भी दूर ही रहे।

९९—झूठ प्राणियो के लिये अविश्वास का स्थान है, अतएव झूठ को छोड दो।

१००—असम्यक्त्व का मानने वाले के लिये सम्यक्त्व और असम्यक्त्व, दोनो ही मिथ्यात्व रूप ही होते है।

१०१—प्रज्ञावान् समयानुसार असावद्य निर्दोष और परिमित भाषा ही बोले।

१०२—यह काम सयोग अशाश्वत् है और दुख एव क्लेशो का ही भाजन है।

१०३—असाधु के धर्मो को—(नीच कर्त्तव्यों को) मत बोलो।

१०४—तप का आचरण करना तलवार की धारा पर चलना है, निश्चय ही यह दुष्कर है।

१०५—अशुभ कर्मो का निदान (अतिम फल) पाप ही है।

१०६—दूसरो की निदा अश्रेयस्कारी—(हानि प्रद) ही है।

१०७—यह जीवन नष्ट हो जाने पर पुन नहीं जोडा जा सकने योग्य है, अत इसमे प्रमाद मत करो।

१०८—अप्पमत्तो अमुच्छिओ, भत्तपाण गवेसिए। (श्रमण भिक्षु १८)

१०९—असंविभागी न हु तस्स मुक्खो। (प्रकी ५)

११०—असम्भत्त पलोइज्जा। (उपदेश २८)
१११—अहम्मो ठाण लक्खणो। (प्रकी २१)
११२—अहम्म कुणमाणस्स अफला जन्ति राइओ। (अधर्म १)

११३—अहिं गरण न करेज्ज पंडिए। (कषाय ३३)

११४—अहिंपासए आय तुले पाणेहिं। (उपदेश ७७)

११५—अहिंसा निउणा दिट्ठा। (अहिंसा ३)

११६—अहीण पचेंदियया हु दुल्लहा। (दुर्लभ ११)
११७—अहे वयइ कोहेण, माणेण अहमा गई। (कषाय २३)

११८—अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिया।
(श्रमण-भिक्षु १७)
११९—आणाइ सुद्ध वयण भिउंजे। (सत्यादि ३८)
१२०—आणाए अभिसमेच्चा अकूओभय। (प्रशस्त ४)

१२१—आणाए मामग धम्म। (धर्म २१)
१२२—आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे। (महापुरुष ४४)

१०८—असभ्रात होता हुआ, अमूर्छित-(अनासक्त) होता हुआ भोजन-पानी की गवेषणा करे।

१०९—जो दूसरो के साथ विषमता रखने वाला है, उसका मोक्ष नही हो सकता है।

११०—आसक्ति पूर्वक किसी भी ओर मत देखो।

१११—अधर्मास्तिकाय का लक्षण ठहरने में सहायता देना है।

११२—अधर्म कार्य करने वाले की रात्रियाँ-दिन और रात निष्फल ही जाती है।

११३—पंडित-अधिकरण क्रिया का (शस्त्र अस्त्र सबधी क्रियाओ को) नही करे।

११४—अपनी आत्मा के समान ही प्राणियो को देखो को अथवा समझो।

११५—अहिंसा, निपुण यानी अनेक प्रकार के सुख को देने वाली देखी गई है।

११६—परिपूर्ण पाचो इन्द्रियो की स्थिति प्राप्त होना दुर्लभ है।

११७—क्रोध से नीचे की गति को जाता है, और मान से अधम गति प्राप्त होती है।

११८—अहा! (हर्ष है कि) जिन द्वारा (अरिहत-तीर्थंकरो द्वारा) साधुओ की वृत्ति असावद्य कही गई है।

११९—भगवान की आज्ञानुसार शुद्ध वचनो का ही उच्चारण करो।

१२०—आज्ञानुसार अच्छी तरह से नि सशय पूर्वक (तत्वो को) जान कर (तदनुसार कार्य करने वाले के लिये) कहीं पर भी भय नहीं रहता है।

१२१—आज्ञानुसार चलना ही मेरा धर्म है।

१२२—आत्मा को गोपने वाला, सदा इन्द्रियो का दमन करने वाला, शोक से रहित और आश्रव से रहित (ही- महापुरुष होता है)।

१२३—आयगुत्ते सया वीरे। (योग २)

१२४—आयरिअत्त पुण रावि, दुल्लहं। (दुर्लभ ९)

१२५—आयरिय उवचिट्ठइज्जा, अणत नाणोवगओ वि सतो।
(सात्विक १३)

१२६—आयरिय विदित्ताण, सव्व दुक्खा विमुच्चई। (धर्म १४)

१२७—आयाण गुत्ते वलया विमुक्के। (योग ९)

१२८—आयाणिज्ज परिन्नाय परियाएण विगिचइ। (कर्म २७)

१२९—आयक दसी न करेइ पाव। (सात्विक १६)

१३०—आय ण कुज्जा इह जीवियट्ठी। (लोभ १३)

१३१—आरिय उव सपज्जे। (धर्म २२)

१३२—आरिय मग्ग परम च समाहिए। (धर्म २३)

१३३—आरभ सभिया कामा न ते दुक्ख विमोयगा। (कषाय ३४)

१३४—आरभा विरमेज्ज सुव्वए। (अनिष्ट ३५)

१३५—आलोयणाए उज्जु भाव जणयइ। (तप २२)

१३६—आवज्जई इन्दिय चोर वस्से। (योग २२)

१३७—आवट्ट सोए सग मभि जाणइ। (प्रशस्त ६)

१३८—आवट्ट तु पेहाए इत्थ, विरमिज्ज वेयवी। (सद्गुण १४)

१२३—प्रभु महावीर सदैव आत्मा को गोपने वाले ही थे। (वीर पुरुष सदा आत्मा को वश मे करने वाले ही होते है)।

१२४—(सात्विक वातो का) आचरण करना ही सब से अधिक दुर्लभ है।

१२५—(शिष्य) अनत ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी आचार्य के पास विनय पूर्वक ही वैठे।

१२६—आचरण-योग्य धर्म को जान करके सभी दु ख नाश किये जा सकते हैं।

१२७—आदान पर यानी आश्रव पर गुप्ति रखने वाला ससार से (कर्मों से) विमुक्त हो जाता है।

१२८—(ज्ञानी) आश्रव और वध का स्वरूप जानकर साधुता रूपी पर्याय द्वारा उन्हे दूर करता है।

१२९—आतक दर्शी-(सम्यक्त्वी) पाप नही करता है।

१३०—जीवितार्थी-(आत्महितैषी) लोभ नही करे।

१३१—ज्ञानी के शरण में जाओ।

१३२—ज्ञानी का मार्ग ही श्रेष्ठ है और (वही) समाधि वाला है।

१३३—काम-भोग आरभ से भरे हुए ही होते है, इसलिये वे दु.ख के विमोचक नही हो सकते हैं।

१३४—सुव्रती-ज्ञानी, आरभ के कामो से दूर रहे।

१३५—आलोचना से ऋजु भाव—याने निष्कपटता के भाव पैदा होते हैं।

१३६—इन्द्रिय रूपी चोर के वश मे (पडी हुई आत्मा ससार में ही) भ्रमण करती है।

१३७—(जो ज्ञानी है, वह) आवर्त्तन रूप ससार को और श्रुति आदि इन्द्रियो के विषय के पारस्परिक सबध को भलीभाति जानता है।

१३८—शास्त्रो का ज्ञाता आवर्त्तन रूप ससार को देख कर यहाँ पर पाप-कामो से दूर हो जाय।

१३९—आसयण नत्थि मुक्खो । (अनिष्ट ७)
१४०—आसुरत्त न गच्छिज्जा, सुच्चाण जिण सासण ।(क्रोध ५)

१४१—आस च छद च विगिं च वीरे । (उपदेश ४६)

१४२—आहा कम्मेहिं गच्छई । (कर्म ११)

इ

१४३—इओ विद्धसमाणस्स, पुणो सवोहि दुल्लभा ।(दुर्लभ १४)

१४४—इच्छा काम च लोभ च सज्जओ परिवज्जए । (लोभ ९)
१४५—इच्छा लोभ न सेविज्जा । (लोभ ११)

१४६—इच्छा हु आगास समा अणन्तिया । (लोभ २)
१४७—इखिणिया उ पाविया । (अनिष्ट १३)
१४८—इगियागार सपन्ने से विणीए । (सात्विक २)

१४९—इत्थिओ जे ण सेवंति, आइ मोक्खा हु ते जणा ।
(शील २)
१५०—इत्थियाहिं अणगारा सवासेण णास मुवयति ।(शील २४)
१५१—इत्थी निलयस्स मज्झे न बम्भयारिस्स खमो निवासो ।
(शील २०)
१५२—इत्थी वसगया वाला जिण-सासण परम्मुहा (काम ३)

१५३—इमा पया बहु माया, मोहेण पाउडा । (कषाय २१)

१३९—आसातना में—आज्ञा भग में मोक्ष नही है।

१४०—जिन-शासन को सुन कर (जैन-धर्म का ज्ञान प्राप्त कर) क्रोध मत करो।

१४१—हे धीरज वाले आदमी! तू विषयो सवधी आशा को और अभिलाषा को छोड़ दे।

१४२—(आत्मा) अपने किये हुए कर्मो के अनुसार ही (परलोक को) जाता है।

इ

१४३—यहां से विध्वस हुई आत्मा के लिये पुन ज्ञान प्राप्त होना दुर्लभ है।

१४४—सयती, इच्छा को, काम-वासना को, और लोभ को छोड़ दे।

१४५—(विषय की) इच्छाओ को और लोभ को मत सेवो, इनकी सेवना मत करो।

१४६—निश्चय करके इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त है।

१४७—निन्दा ही पाप है।

१४८—"इंगित और आकार में ही" याने सकेत-इशारे में ही समझ लेने वाला विनीत कहा जाता है।

१४९—जो स्त्रियो को नही सेवते है, वे महापुरुष निश्चय ही आदि मुक्त याने मोक्ष प्राप्त किये हुए ही है।

१५०—स्त्रियो के साथ सहवास करने से अनगार नाश को प्राप्त होते है।

१५१—स्त्रियो के निवास के मध्य मे ब्रह्मचारी का निवास योग्य नही है।

१५२—जो वाल-मूर्ख स्त्री के वश में गये हुए है, वे जिन-शासन से पराङ्मुख है। (याने दूर हैं)

१५३—ये स्त्रियां बहुत माया वाली है और मोह से ढंकी हुई है।

१५४—इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ। (कर्त्तव्य १४)

१५५—इम च मे अत्थि इम च नत्थि, हरा हरंति त्ति कह पमाओ। (उपदेश ५९)

१५६—इम सरीर अणिच्च, असुइ, असुइ सभव। (अनित्य २)
१५७—इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे। (प्रा म ८)
१५८- इह माणुस्सए ठाणे, धम्म माराहिउणरा। (धर्म ६)
१५९—इह सति गया दविया, णाव कखति जीविउ। (सात्विक २२)

१६०—इह तु कम्माइ पुरे कडाइ। (कर्म १३)

उ

१६१—उक्कस जलण णूम, मज्झत्थ च विगिंचए। (कषाय २४)
१६२—उग्ग महव्वय बभ धारेयव्व सुदुक्खर। (शील ७)

१६३—उच्चावएसु विसएसु ताई, निस्ससरय भिक्खू समाहिपत्ते। (श्रमण-भिक्षु ३०)

१६४—उत्तम धम्म सुई हु दुल्लहा। (दुर्लभ १)
१६५—उदही नाणा रयण पडिपुण्णे, एव हवइ बहुस्सुए। (ज्ञान १६)

१६६—उवणिज्जई जीविय मप्पमाय, मा कासि कम्माइ महालयाइ। (वैराग्य ११)
१६७—उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोव लिप्पई। (भोग ७)

१५४—(आत्मस्थ कषायों से ही) युद्ध करो, तुम्हारे बाह्य युद्ध से क्या, (लाभ है ?) ।

१५५—यह मेरा है, और यह मेरा नही है, ऐसा कहते कहते ही मृत्यु रूपी चोर आत्मा को चुरा ले जाते है, तो फिर प्रमादी बनकर कैसे बैठे हो ।

१५६—यह शरीर अनित्य है, अशुद्ध है और अशुद्धि से ही उत्पन्न हुआ है ।

१५७—इस प्रकार ऋषियो में सर्व श्रेष्ठ श्री वर्धमान महावीर स्वामी है ।

१५८—इस मनुष्य-लोक में धर्माराधन के लिये मनुष्य ही (समर्थ) है ।

१५९—यहा पर शाति को प्राप्त हुई भव्य आत्माएे-जीवन के लिये—(ससार परिभ्रमण के लिये) आकाक्षाएे नही रखती है ।

१६०—यहा पर जो कर्म (फल दे रहे है) वे पहिले किये हुए है, पहिले बांधे हुए है ।

उ

१६१—(आत्महितैषी) मान को, क्रोध को, माया को और लोभ को छोड दे ।

१६२—जो उग्र है, महाव्रत है, सुदुष्कर है, ऐसे ब्रह्मचर्य को धारण करना चाहिये ।

१६३—उच्च आपत्तियो को लाने वाले, और महान् दु.खो को पैदा करने वाले विषयो से जो अपनी रक्षा करता है, निस्सदेह वह भिक्षु है, और उसने समाधि प्राप्त कर ली है ।

१६४—निश्चय ही उत्तम धर्म का श्रवण दुर्लभ है ।

१६५—जैसे उदधि-समुद्र, नाना रत्नो से परिपूर्ण होता है, वैसे ही बहु-श्रुत भी (विविध ज्ञान से परिपूर्ण) होता है ।

१६६—यह जीवन विना प्रमाद के, विना ढील किये ही मृत्यु के पास चला जा रहा है, अत महती दुर्गति के देन वाले कर्मों को तू मत कर।

१६७—भोगो के भोगने पर ही, उपलेप याने कर्मों का लेप होता है, किन्तु अभोगी कर्मो से उपलिप्त नही होता है ।

१६८—उववाय कारी य हरी मणे, य एगत दिट्ठी य अमाइ रूवे।
(सात्विक. ८)
१६९—उवसमेण हणे कोहँ। (क्रोध २)
१७०—उविच्च भोगा पुरिस चयन्ति, दुम जहा खीण फल व पक्खी। (काम. ११)

ए

१७१—एक्को सय पच्चणु होइ दुक्ख। (वैराग्य १८)
१७२—एक्को हु धम्मो ताण न विज्जई अन्नमिहेह किंचि।
(धर्म १२)
१७३—एगग्ग मण सनिवेसण याए, चित्त निरोह करेइ।
(योग ४)
१७४—एगत्त मेय अभिपत्थएज्जा। (वैराग्य १९)
१७५—एगन्त दुक्खे जरिए व लोए। (ससार २)
१७६—एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इन्दियाणि य। (उपदेश ५०)
१७७—एगस्स जतो गति रागती य। (वैराग्य २०)
१७८—एगे अह मसि, न मे अत्थि कोइ, न या हमवि कस्स वि।
(वैराग्य १)
१७९—एगे आया। (आत्म १)
१८०—एगे चरित्ते। (चारित्र १)
१८१—एगे जिए जिया पंच, पच जिए जिया दस। (प्रकी १२)
१८२—एगे नाणे। (ज्ञान १)
१८३—एगो सय पच्चणु होइ दुक्ख। (वैराग्य १२)

१६८—आज्ञाकारी लज्जा वाला, एकान्त सम्यक्-दृष्टि पुरुष अमायावी होता है—निष्कपट होता है।

१६९—शान्ति द्वारा क्रोध का नाश करे।

१७०—जैसे पक्षी नष्ट हुए फल वाले वृक्ष को छोड़ कर चले जाते हैं, वैसे ही भुक्त-भाग भी पुरुष को छोड़ देते है। (भोगो से क्षीण होकर अंत में पुरुष मर जाता है।)

ए

१७१—दु.ख का अनुभव अकेले को ही आर खुद को ही करना पडता

१७२—अकेला धर्म ही रक्षक है, अन्य कोई यहाँ पर रक्षक नही पाया जाता है।

१७३—एकाग्र रूप से मन का सनिवेश करने से चित्त निरोध होता है।

१७४—एकत्व भावना की ही प्रार्थना करो।

१७५—यह लोक ज्वर के समान एकान्त दुख रूप ही है।

१७६—वश में नहा किया हुआ आत्मा एक शत्रु रूप ही ह, इसा प्रकार कपाय और इन्द्रियाँ भी शत्रुरूप ही है।

१७७—प्राणी अकेला ही जाता है और अकेला ही आता है।

१७८—मैं अकेला ही हूँ, मेरा काई नहा है, और मैं भी किसी का नही हूँ।

१७९—एक ही आत्मा है।

१८०—एक ही चारित्र है।

१८१—एक के जीत लेने पर पाँच जीत लिये जाते है, पाँच के जीत लेने पर दस जीत लिए जाते है।

१८२—एक ही ज्ञान है।

१८३—अकेला स्वय हा दु.ख का अनुभव करता है।

१८४—एग जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ। (आत्म ७)

१८५—एगत दिट्ठी अपरिग्गहे उ, वुज्झिज्ज लोयस्स वस न गच्छे। (उपदेश १०)

१८६—एत्थ मोहे पुणो पुणो। (कपाय ३१)

१८७—एत्थोवरए मेहावी सव्व पाव कम्मं झोसइ।(महापुरुष २८)

१८८—एयाइ मयाइ विगिंच वीरा। (उपदेश १८)

१८९—एय खु नाणिनो सार जन्न हिंसइ किचणं। (अहिंसा २)

ओ

१९०—एस धम्मे धुवे निच्चे सासए जिण देसिए। (धर्म ११)

१९१—ओए तहीय फरूस वियाणे। (सत्यादि ३७)

अं

१९२—ओमा सणाण दमि इन्दियाण, न राग सत्तू धरि सेइ चित्त। (सद्गुण ९)

१९३—अताणि धीरा सेवति, तेण अंतकरा इह। (महापुरुष ६)

क

१९४—कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि। (कर्म ४)

१९५—कडाण कम्माण न मोक्खो अत्थि। (कर्म ३)

१९६—कत्तार मेव अणुजाइ कम्म। (कर्म १७)

१९७—कप्पिओ फालिओ छिन्नो, उक्कित्तो अ अणेगसो। (आत्म १६)

१८४—अकेली आत्मा पर ही विजय प्राप्त करो, यही सर्व श्रेष्ठ विजय है।

१८५—एकान्त सम्यक् दृष्टि वाला अपरिग्रही ही है, और वह लोक का स्वरूप समझ कर उसके वश मे नही जावे।

१८६—यहाँ पर मोह बार बार (आकर्षित करता रहता) है।

१८७—इस मोह से उपरत- (दूर) होता हुआ मेधावी सभी पाप कर्म को जला डालता है।

१८८—धीर पुरुष इन अभिमान- मद के कारणो को दूर कर दे।

१८९—ज्ञानी के लिये यही सार है कि वह किसी की भी हिंसा नही करता है।

१९०—जिन भगवान द्वारा उपदिष्ट यह धर्म ही ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत् है।

ओ

१९१—राग द्वेष रहित हो, किन्तु कठोर हो तो ऐसे वचन नही बोले।

१९२—अल्प आहार करने वाले के और इन्द्रियो का दमन करने वाले के चित्त को राग रूप शत्रु नही जीत सकता है।

अं

१९३—धीर पुरुष राग द्वेष को अन्त करने वाली क्रियाओ का सेवन करते है, इसलिय यहाँ पर वे अन्त करा याने चरम-शरीरी कहलाते है।

क

१९४—कृत कर्मो को (भोगे विना) मोक्ष नही है।

१९५—कर्म करने वालो का मोक्ष नही है।

१९६—कर्म कर्त्ता का ही अनुगमन करता है।

१९७—(यह आत्मा) अनेक वार कतरा गया, फाडा गया; छेंदन किया गया, और उत्कर्त्तन-याने चमडी उतारी गई।

१९८—कम्माणि बलवन्ति हि । (कर्म, ५)

१९९—कम्मी कम्मेहिं किच्चती । (कर्म २३)

२००—कम्म च मोहप्पभव । (कर्म ६)

२०१—कम्म च जाइ मरणस्स मूल । (कर्म ९)

२०२—कम्मुणा उवाही जायइ । (कर्म १२)

२०३—कम्मुणा तेण सजुत्तो, गच्छई उ परं भवं। (कर्म १८)

२०४—कम्मुणा वम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
(प्रकी. ३)

२०५—कम्मेहि लुप्पन्ति पाणिणो । (कर्म ८)

२०६—करेइ लोह वेर वड्ढेइ अप्पणो । (लोभ ८)

२०७—कलह जुद्ध दूरओ परिवज्जए । (क्रोध ४)

२०८—कषाय पच्चक्खाणेण, वीयराग भाव जणयइ ।
(सात्विक २०)

२०९—कसाया अग्गिणो कुत्ता, सुय सील तवो जल ।
(कषाय ४)

२१०—कह धीरो अहे अहिं, उम्मत्तो व महिं चरे ।
(महापुरुष ४२)

२११—काउस्सग्गेण तीय पडुप्पन्न, पायच्छित्त विसोहेइ ।
(तप १८)

२१२—काम कामी खलु अय पुरिसे, से सोयइ, जूरइ, तिप्पइ, परितप्पइ, (काम ३४)

२१३—काम भोग रस गिद्धा, उव-वज्जन्ति आसुरे काए ।
(काम १०)

२१४—काम भोगाणुराएण केसं सपडिवज्जई । (काम १९)

१९८—निश्चय मे कर्म वलवान है ।

१९९—कर्मी कर्मों से ही दु ख पाता है ।

२००—कर्म मोह से ही उत्पन्न होते है ।

२०१—कर्म ही जन्म और मरण का मूल है ।

२०२—कर्म से उपाधि (नाना विपत्तियाँ) पैदा होती है ।

२०३—उस कर्म से सयुक्त होता हुआ ही (जीव) परलोक को जाता है ।

२०४—कर्म याने आचरण से ही ब्राह्मण होता है और आचरण से ही क्षत्रिय होता है ।

२०५—प्राणी कर्मो से ही डूबते है ।

२०६—जो लोभ करता है, उसके लिये चारो ओर से वैर वढता है ।

२०७—कलह को और युद्ध को दूर से ही छोड दे ।

२०८—कषाय का परित्याग करने से वीतराग-भाव उत्पन्न होता है ।

२०९—कषाय को अग्नि कहा गया है और ज्ञान, शील, तप को जल वतलाया है ।

२१०—धीर पुरुप क्यो रात और दिन, इधर उधर उन्मत्त की तरह से पृथ्वी पर घूमते रहते है ?

२११—कायोत्सर्ग से अतीत काल का और वर्तमान काल का प्रायश्चित विशुद्ध होता है ।

२१२—जो पुरुष निश्चय करके काम-भोगो का कामी है–इच्छुक है; वह शोक करता है, वह झूरता है, वह ताप भोगता है और वह परिताप को प्राप्त होता है ।

२१३—जो काम-भोगो के रस मे गृद्ध है, वे अन्त में असुर काया में-(नीच जाति में) उत्पन्न होते है ।

२१४—काम-भोगों में अनुराग रखने से (जीव) क्लेश को सप्राप्त होता है ।

२१५—काम भोगा विस ताल उड । (काम २०)

२१६—काम भोगे य दुच्चए । (काम १६)

२१७—काम समणुन्ने असमिय दुक्खे, दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्ट अणु परियट्टइ । (भोग १२)

२१८—कामाणु गिद्धिप्पभव खु दुक्ख । (काम २३)

२१९—कामा दुरतिक्कमा (काम ९)

२२०—कामे कमाही, कमिय खु दुक्ख । (काम ५)

२२१—कामे ससार वढ्ढणे, सक माणो तणु चरे । (काम १४)

२२२—कायरा जणा लूसगा भवन्ति । (वाल ३५)

२२३—काले काल समायरे । (उपदेश २२)

२२४—किरिय चरो अए धीरो । (महापुरुप २२)

२२५—किसए देह मणासणाईहिं । (तप २६)

२२६—किं हिन्साए पसज्जसि । (हिंसा ६)

२२६—कीलेहिं विज्झन्ति असाहु कम्मा । (प्रकी. ८)

२२८—कीवा जत्थ य किस्सन्ति, नाइ सगेहिं मुच्छिया । (अनिष्ट ३४)

२२९—कीवा वसगया गिह । (वाल १९)

२३०—कुज्जा साहूहिं सन्थव । (उपदेश, ७०)

२३१—कुप्प वयण पासन्डी, सव्वे उम्मग्ग पट्ठिया । (वाल ३७)

२३२—कुम्मुव्व अल्लीण पलीण गुत्तो । (उपदेश ६६)

२३३—कुररी विवाभोग रसाणु गिद्धा, निरट्ठ सोया परितावमेइ । (काम २४)

२१५—काम-भोग साक्षात् तालपुट विष के समान ही है।

२१६—काम-भोग कठिनाई से त्यागे जाते है।

२१७—जिसको काम-भोग ही प्रिय है, उसके दुःख शात नही होते है। वह दुःखी होता हुआ दुःखो की आवृत्ति को ही प्राप्त करता रहता है।

२१८—दुःख निश्चय ही काम-भोगो में अनुगृद्ध होने से उत्पन्न होते है।

२१९—काम-भोगो पर विजय प्राप्त करना बडा ही कठिन है।

२२०—काम-भोगो को हटा दो, इससे निश्चय ही दुःख भी हट जायगा।

२२१—काम-भोग ससार को बढाने वाले है, ऐसा समझते हुए उन्हे पतला कर दे—(क्षीण कर दे)।

२२२—कायर पुरुष व्रत के नाश करने वाले ही होते है।

२२३—काल-क्रम के अनुसार ही जीवन-व्यवहार को चलावे।

२२४—धीर पुरुष सत् क्रिया का आचरण करने वाला होवे।

२२५—अनशन आदि तप द्वारा देह को कृश करे।

२२६—हिंसा मे क्यो उद्यत रहते हो ?

२२७—नीच कर्म करने वाले कीलो से बीधे जाते है।

२२८—ज्ञाति वालो के साथ मूर्च्छित हुए, निर्बल आत्मा वाले पुरुष अन्त में घोर दुःख पाते हैं।

२२९—निर्बल आत्माएँ घर-गृहस्थी के जजाल मे ही फस जाती है।

२३०—साधु-सज्जन पुरुषो के साथ सगति और परिचय करो।

२३१—कुप्रवचन वाले पाखडी याने मिथ्यात्वी सभी उन्मार्ग मे ही स्थित है।

२३२ गुरु आदि के आश्रय मे रहता हुआ कछुए के समान अपनी इन्द्रियो को और मन को सयम में रखने वाला होवे।

२३३—काम-भोगो के रसो में गृद्ध आत्मा अन्त में निरर्थक शोक करने वाली कुररी नामक पक्षिणी की तरह परिताप को प्राप्त होती है।

२३४—कुसग्गे जह ओस विंदुए, एवं मणुयाण जीविय । (वैराग्य ५)

२३५—कुसग्गे पणुन्न निवइय वाएरियं, एव वालस्स जीविय । (वैराग्य ६)

२३६—कुसील वड्ढणं ठाण, दूरओ परिवज्जए । (शील ८)

२३७—कूराइ कम्माइ वाले पकुव्वमाणे, तेण दुक्खेण समूढे विप्परियास मुवेइ । (वाल २३)

२३८—कोलावास समासज्ज वितह पाउरे सए । (प्रकी ११)

२३९—कोहो पीइ पणासेई । (क्रोध १)

२४०—कोह असच्च कुव्वेज्जा । (क्रोध ३)

२४१—कोह माण ण पत्थए । (कपाय २६)

२४२—कखे गुणे जाव सरीर भेउ । (उपदेश ६)

ख

२४३—खण जाणाहि पडिए । (उपदेश ४५)

२४४—खण मित्त सुक्खा वहु काल दुक्खा, पगाम दुक्खा अणिगाम सुक्खा । (उपदेश ५२)

२४५—खन्ती एण परिसहे जिणइ । (क्षमा २)

२४६—खमा वणयाए पल्हायण भाव जणयइ । (क्षमा ३)

२४७—खमेह अवराह मे; वइज्ज न पुणु त्ति अ । (सात्विक ३)

२४८—खवति अप्पाण ममोहदसिणो । (महापुरुष १८)

२३४—जैसे कुशाग्र भाग पर, (घास पर) ओस की विंदु अस्थिर होती है; वैसे ही यह मनुष्य-जीवन भी अस्थिर है।

२३५—कुशाग्र पर (ठहरा हुआ) जल विंदु हवा द्वारा प्रेरणा पाकर गिर पडता है, वैसे ही बाल जन का, भोगी का जीवन भी नष्ट हो जाता है।

२३६—कुशील को बढाने वाले स्थान को दूर से ही छोड़ दो।

२३७—मंद बुद्धिवाला क्रूर कर्म करता हुआ और उसके दु.ख से विवेक शून्य होता हुआ अत मे विपरीत स्थिति को (राग द्वेप की स्थिति को) प्रप्त होता है।

२३८—जैसे काठ का कीडा अपना घर काठ मे बनाही लेता है, वैसे ही आत्मार्थी मिथ्यात्व की खोज करता हुआ सत्य को प्राप्त कर ले।

२३९—क्रोध प्रीति का नाश करता है।

२४०—क्रोध को असत्य कर दो, याने क्रोध मत करो।

२४१—क्रोध की और मान की इच्छा मत करो।

२४२—शरीर समाप्ति के अन्तिम क्षग तक भी गुणो की आकाक्षा करते रहो।

ख

२४३—हे पडित ! हे आत्मज्ञ ! क्षण को अर्थात् समय के मूल्य को पहिचानो !

२४४—काम-भोग क्षण-मात्र के लिये ही सुख रूप है, जब कि इनका परिणाम बहुत काल के लिये दु खदाता है। ये अल्प सुख देने वाले और महान् दु ख देने वाले है।

२४५—(उच्च आत्मा) क्षमा द्वारा परिपहो को जीतता है।

२४६—क्षमापना से प्रसन्नता के भाव पैदा होते है।

२४७—मेरे अपराध को क्षमा करो, और ऐसा बोले कि "पुन ऐसा नही होगा।"

२४८—अमोहदर्शी याने तत्त्वदर्शी अपने पूर्व कर्मों का क्षय कर डालते है।

२४९—खाणी अणत्थाण उ काम भोगा। (काम १३)

२५०—खेम च सिव अणुत्तर। (मोक्ष १)

२५१—खेयन्नए से कुसला सुपन्ने, अणत नाणी य अणत दसी।
(प्रा म १४)

२५२—खति सूरा अरहता, तवसूरा अणगारा, दाण सूरे वेसमणे, जुद्ध सूरे वासुदेवे। (प्रकी ३७)

२५३—खंति सेविज्ज पडिए। (क्षमा १)

२५४—खते अभिनिव्वुडे दते, वीतगिद्धी सदा जए।
(चारित्र ४)

ग

२५५—गइ लक्खणो उ धम्मो। (प्रकी २०)

२५६—गाढा य विवाग कम्मुणो। (कर्म ७)

२५७—गिद्ध नरा कामेसु मुच्छिया। (काम २६)

२५८—गिर च दुट्ठ परिवज्जए सया, सयाण मज्झे लहइ पससणं।
(सत्यादि ४४)

२५९—गिहे दीव मपासता, पुरिसा दाणिया नरा। (प्रकी ७)

२६०—गुणेहि साहू अगुणेहिं असाहू। (श्रमण–भिक्षु १६)

२६१—गुत्तिदिए गुत्त वम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्ज।
(शील २१)

२६२—गुत्ते जुत्ते सदा जए आय परे। (योग ८)

२६३—गुरुणो छदाणुवत्तगा, विरया तिन्न महोघ माहिय।
(प्रशस्त १९)

२४९—काम-भोग निश्चय ही अनर्थो की खान है ।

२५०—(मोक्ष) क्षेम स्वरूप है, शिव स्वरूप है और अनुत्तर श्रेष्ठ है ।

२५१—(प्रभु महावीर) खेदज्ञ याने ससार के दु ख सुखको जानने वाले थे, कुशल और शीघ्र वुद्धि वाले थे, अनत ज्ञानी और अनन्त दर्शी थे ।

२५२—क्षमा शूर अरिहंत है, तप शूर अनगार है, दान शूर कुवेर है और युद्ध शूर वासुदेव है ।

२५३—पडित याने सज्जन पुरुप क्षमा का आचरण करे ।

२५४—(आत्महितैपी) क्षमा वाला हो, कषाय से रहित हो, जितेन्द्रिय हो, अनासक्त हो, आर सदा यत्ना शील हो ।

ग

२५५—धर्मास्तिकाय का लक्षण जीव-पुद्गलो के लिये गति में सहायक होना है ।

२५६—कर्मों का विपाक (फल) प्रगाढ याने अत्यत कडुआ होता है ।

२५७—गृद्ध मनुष्य काम-भोगो में मूर्च्छित होते है ।

२५८—सदा दुष्ट वाणी से दूर ही रहो, इससे (ऐसा आत्मा) सज्जनों के मध्य में प्रशंसा को प्राप्त करता है ।

२५९—गृद्ध पुरुप न तो ज्ञान रूप दीपक को हा देख सकते हैं और न चारित्र रूप द्वीप को ही प्राप्त कर सकते है ।

२६०—गुणो द्वारा ही साधु कहा जाता है, और दुर्गुंणो से ही असाधु कहा जाता है ।

२६१—जितेन्द्रिय और गुप्त ब्रह्मचारी सदा अप्रमादी होकर ही विचरे ।

२६२—आत्म भावना वाला सदा गुप्तिशील, जितेन्द्रिय और यत्ना वाला होवे ।

२६३—यह ससार महान् प्रवाह रूप समुद्र के समान कहा गया है, इसको गुरु की आज्ञानुसार चलने वालो ने तथा पापो से दूर रहने वालो ने ही पार किया है ।

२६४—गुरुं तु नासाययई स पुज्जो। (महपुरुष १३)

२६५—गधाणुरत्तस्स नरस्स एव कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि। (योग १९)

च

२६६—चउक्कसायावगए स पुज्जो। (महापुरुष ९)

२६७—चउव्विहा बुद्धी, उप्पइया, वेणइया, कम्मिया, पारिणामिया। (ज्ञान ८)

२६८—चउव्विहे कव्वे, गज्जे, पज्जे, कत्थे, गेये। (प्रकी ४०)

२६९—चउव्विहे पायच्छित्ते, णाणपायच्छित्ते, दसण, पायच्छित्ते चरित्त पायच्छित्ते, वियत्त किच्चे पायच्छित्ते। (तप २५)

२७०—चउव्विहे वन्धे, पगइ बन्धे, ठिइ बन्धे, अणुभाव बन्धे, पएस बन्धे। (कर्म २६)

२७१—चउव्विहे सघे, समणा, समणीओ, सावगा, साविगाओ। (प्रकी ३२.)

२७२—चउव्विहे ससारे, दव्व ससारे, खेत्त ससारे, काल ससारे भाव ससारे ! (संसार १३)

२७३—चउव्वीसत्थएण दसण विसोहिं जणयइ। (दर्शन १०)

२७४—चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्ख जोणियत्ताए कम्म पगरेति, माइल्लयाए, नियडिल्लयाए, अलिय वयणेणं, कूडतुल्ल कूडमाणेण। (अनिष्ट ३६)

२७५—चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्म पगरेति, महारंभयाए, महापरिग्गहयाए पचेंदिय वहेण, कुणिमाहारेण। (अनिष्ट ३७)

२६४—जो गुरु की आशातना या अविनय नहीं करता है, वही पूज्य है।

२६५—गंध रूप विषय में अनुरक्त मनुष्य के लिये जरा भी सुख कैसे और कब हो सकता है ?

च

२६६—जो चारो कषायो से रहित हो गया है, वही पूज्य है।

२६७—चार प्रकार की वुद्धि वतलाई गई है, औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी, और पारिणामिकी।

२६८—काव्य चार प्रकार का है। गद्य, पद्य, कथा और गेय।

२६९—प्रायश्चित चार प्रकार का है :- १ ज्ञान प्रायश्चित २ दर्शन प्रायश्चित, ३ चारित्र प्रायश्चित और ४ व्यक्तकृत्य प्रायश्चित।

२७०—वंध चार प्रकार का है — १ प्रकृति वध, २ स्थिति वध, ३ अनुभाव वंध और ४ प्रदेश वध।

२७१—संघ चार प्रकार का है, १ साधु, २ साध्वी, ३ श्रावक और ४ श्राविका।

२७२—ससार चार प्रकार का है, १ द्रव्य ससार, २ क्षेत्र संसार, ३ काल ससार, और ४ भाव ससार।

२७३—चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति से दर्शन-विशुद्धि (सम्यक्त्व शुद्धि) होती है।

२७४—चार प्रकार के कामो से जीव तिर्यंच योनि का कर्म बंध करते है १ माया से, २ ठगने का कार्य करने से, ३ झूठ वचन से, और ४ खोटा तोल खोटा माप करने से।

२७५—चार प्रकार के कामो से जीव नरक-योनि का कर्म-बंध करते है। १ महा आरंभ से, २ महा परिग्रह से, ३ पचेन्द्रिय जीवो की घात करने से और ४ मांस का आहार करने से।

२७६—चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्म पगरेति, सराग संजमेण, संजमासजमेण, बालतवो कम्मेण, अकाम निज्जराए। (सद्गुण २४)

२७७—चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्सत्ताए कम्म पगरेति, पगइ भद्दयाए, विणीयाए, साणुक्कोसयाए, अमच्छरियाए। (सद्गुण २५)

२७८—चत्तारि अवायणिज्जा, अविणीए, विगइप्पडिवद्धे, अविउसविय पाहुडे, मायी। (प्रकी ३४)

२७९—चत्तारि आयरिया, आमलग महुर फल समाणे, मुद्दिया महुर फल समाणे, खीर महुर फल समाणे, खड महुर फल समाणे। (श्रमण ५४)

२८०—चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचिति मूलाइ पुणब्भवस्स (कषाय ७)

२८१—चत्तारि झाणा, अट्टे झाणे, रोद्दे झाणे, धम्मे झाणे, सुक्के झाणे। (प्रकी ३९)

२८२—चत्तारि धम्म दारा, खंति, मोत्ती, अज्जवे, मद्दवे। (धर्म ३६)

२८३—चत्तारि भासाओ भासित्तए, जायणी, पुच्छणी, अणुन्नवणी, पुट्ठस्स, वागरणी। (सत्यादि ४६)

२८४—चत्तारि वमे सया कसाए। (कषाय ५)

२८५—चत्तारि वायणिज्जा, विणीए, अविगइ पडिवद्धे, विउसवियपाहुडे, अमायी। (प्रका ३३)

२८६—चत्तारि विकहाओ पण्णत्ताओ, इत्थि कहा, भत्त कहा, देस कहा, राय कहा। (प्रकी. ३८)

२७६—चार प्रकार के कामो से जीव देव-योनि का कर्म बध करते हैं:—१ सराग सयम से, २ सयमासंयम से ३ वाल-तपस्या से और ४ अकामनिर्जरा से।

२७७—चार प्रकार के कामो से जीव मनुष्य-गति का कर्म बध करते हैं;—१ प्रकृति की भद्रता से, २ विनीत भाव से, ३ दयालु प्रकृति से और ४ मात्सर्य भाव नही रखने से।

२७८—चार प्रकार के पुरुष वाचना देने योग्य नही होते हैं:—१ अविनीत, २ स्वाद इन्द्रिय में गृद्ध, ३ क्रोधी और ४ कपटी।

२७९—चार प्रकार के आचार्य होते है १ आवले के मधुर फल समान, २ द्राक्ष मधुर फल समान, ३ क्षीर मधुर फल समान और ४ खाड मधुर फल समान।

२८०—ये चारो ही परिपूर्ण कपाय, पुन पुन जन्म-मरण की जड़ो को सीचते रहते है।

२८१—ध्यान चार प्रकार का है, आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म-ध्यान, और शुक्ल ध्यान।

२८२—चार प्रकार के धर्म द्वार है—१क्षमा, २ विनय, ३ सरलता, और ४ मृदुता याने सतोष।

२८३—चार प्रकार की भाषा कही गई है—१, याचनिका, २ पृच्छनिका, ३ अवग्राहिका और ४ पृष्ट-व्याकरणिका।

२८४—चारो कपाय सदा छोड़ने योग्य है।

२८५—चार प्रकार के पुरुष वाचना देने के योग्य होते है—१ विनीत, २ स्वाद-इन्द्रिय में अगृद्ध, ३ क्षमा-शील और ४ सरल-हृदय वाला।

२८६—चार प्रकार की विकथाएँ कही गई है—१ स्त्री कथा, २ भोजन कथा, ३ देश कथा और ४ राज कथा।

२८७—चत्तारि समणो वासगा, अद्दागसमाणे, पडाग समाणे, खाणु समाणे, खर कट समाणे। (महापुरुष ४९)

२८८—चत्तारि समणोवासगा, अम्मापिइ समाणे, भाइ समाणे, मित्त समाणे, सवत्ति समाणे। (प्रकी ३५)

२८९—चत्तारि सूरा, खंति सूरे, तव सूरे, दाण सूरे, जुद्ध सूरे। (प्रकी ३६)

२९०—चरिज्ज धम्म जिण देसियं विऊ। (धर्म २८)

२९१—चरित्त सपन्नयाए सेलेसी भाव जणयइ। (प्रशस्त १०)

२९२—चरित्तेण निगिण्हाइ। (चारित्र २)

२९३—चरियाए अप्पमत्तो पुट्ठो तत्थ अहियासए। (उपदेश ११)

२९४—चरेज्ज अत्तगवेसए। (कर्त्तव्य १३)

२९५—चरे मुणी सव्वउ विप्पमुक्के। (श्रमण-भिक्षु २९)

२९६—चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के। (श्रमण-भिक्षु ३१)

२९७—चिच्चाण णंतग सोय, निरवेक्खो परिव्वए (श्रमण- भिक्षु, ४५)

२९८—चिच्चा वित्त च णायओ आरभ च सुसवुडे चरे। (महापुरुष ३३)

छ

२९९—छक्काय अहिया, णावरे कोइ विज्जई। (प्रकी. २४)

३००—छन्द निरोहेण उवेइ मोक्ख। (अनिष्ट ४०)

२८७—चार प्रकार के श्रमणोपासक याने श्रावक कहे गए है —१ दर्पण समान, २ पताका समान, ३ स्थाणु समान, और ४ खर कंटक समान।

२८८—चार प्रकार के श्रमणोपासक याने श्रावक कहे गए है—१ माता पिता समान, २ भाई समान, ३ मित्र समान और ४ शत्रु समान।

२८९—चार प्रकार के शूर कहे गये है —१ क्षमा शूर, २ तप शूर, ३ दान शूर और ४ युद्ध शूर।

२९०—विद्वान् पुरुष जिन भगवान द्वारा उपदिष्ट धर्मका आचरण करे।

२९१—चारित्र की संपन्नता से सेलेशी भाव (चौदहवे गुणस्थान में होने वाली स्थिति विशेष) की उत्पत्ति होती है।

२९२—चारित्र द्वारा ही आश्रव का निरोध किया जा सकता है।

२९३—चारित्र मे अप्रमत्त शील होता हुआ उसके (चारित्र के) संबंध में आने वाले उपसर्गों को धैर्य के साथ सहन करता रहे।

२९४—आत्मा का अनुसधान करने वाला चारित्र शील हो।

२९५—सब तरह से प्रपच से दूर रहता हुआ मुनि जीवन-व्यवहार चलावे।

२९६—सब प्रकार से विप्रमुक्त होता हुआ मुनि जीवन-व्यवहार चलावे।

२९७—(साधु) आतरिक शोक का परित्याग करके निरपेक्ष होता हुआ परिव्रजा शील हो।

२९८—(सज्जन) धन को, ज्ञाति जनो को और आरभ को छोड़कर सुसवृत्त याने आत्म निग्रही होता हुआ विचरे।

छ

२९९—काय (जीव-समूह) छः प्रकार का कहा गया है; इसके अतिरिक्त अन्य (काय) कोई नही पाया जाता है।

३००—विषयो के प्रति आसक्ति का निरोध करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

३०१—छन्नं च पसंस णो करे, न य उक्कोस पगास माहणे। (कपाय २२)

३०२—छव्विहे भावे, उदइए, उवसमिए, खइए, खयोवसमिए, पारिणामिए सनिवाइए। (प्रकी. ४४)

३०३—छिंदाहि दोस विणएज्ज राग। (कषाय १)

३०४—छिंदिज्ज सोय लहुभूयगामी। (उपदेश ९२)

३०५—छिन्न सोए अममे अकिंचणे। (उपदेश ७९)

ज

३०६—जग णाहो जग वंधू, जयइ जग प्पिया महो भयव। (प्रा. म १२)

३०७—जत्थ य एगो सिद्धो, तत्थ अणता। (मोक्ष १४)

३०८—जमट्ठं तु न जाणिज्जा एव मेअ ति नो वए। (सत्यादि २१)

३०९—जम्म दुक्ख जरा दुक्ख दुक्खो हु ससारो। (ससार १)

३१०—जयइ गुरु लोगाण जयइ महप्पा महावीरो। (प्रा म, ९)

३११—जयइ जग–जीव-जोणी-वियाणओ, जग-गुरू, जगाणदो। (प्रा म १३)

३१२—जयइ सुआण पभवो, तित्थयराण अपच्छिमो जयइ। (प्रा. म. १०)

३१३—जय सघ चद! निम्मल सम्मत्त विसुद्ध जोण्हागा। (प्रशस्त २४)

३०१—विवेकी, छन्न याने माया, प्रशस्य याने लोभ, उत्कर्ष याने मान, और प्रकाश याने क्रोध नही करे।

३०२—भाव छ. प्रकार के हैं; १–औदयिक, २ औपशमिक, ३ क्षायिक, ४ क्षायोपशमिक, ५ पारिणामिक और ६ सान्निपातिक।

३०३—द्वेष को काट डालो और राग का हटा दो।

३०४—शीघ्र ही मोक्ष में जाने की इच्छा रखने वाला शोक–सताप को काट डाले, (इन्हें) दूर कर दे।

३०५—(आत्मार्थी) छिन्न शोक वाला, ममता रहित और अकिंचन धर्म वाला होवे।

ज

३०६—जो जगत् के नाथ है, जो जगत् के बधु है, जो जगत् के पितामह है, ऐसे भगवान् महावीर स्वामी जय शील हों।

३०७—जहाँ एक सिद्ध है, वही अनेक याने अनत सिद्ध भी है।

३०८—जिस अर्थ को तुम नही जानते हो, उसको "ऐसा ही है" इस प्रकार मत बोलो।

३०९—यहाँ पर जन्म का दुःख है जरा याने बुढापे का दुःख है, इस प्रकार ससार निश्चय ही दु.खो का समूह ही है।

३१०—ससार के गुरु, महान् आत्मा, प्रभु महावीर जय–शील हो। सदैव इनकी जय–विजय हो।

३११—जगत् की जीव–योनि के ज्ञाता, जगत् गुरु, जगत् को आनद देने वाले भगवान् महावीर स्वामी जयशील हो।

३१२—सभी ज्ञान–विज्ञान के उत्पादक और तीर्थंकरो मे चरम तीर्थंकर; ऐसे देवाधिदेव महावीर स्वामी जय शील हो।

३१३—निर्मल सम्यक्त्व रूप विशुद्ध चादनी वाले हे सघ रूप चन्द्रमा! तुम्हारी जय हो! विजय हो!!

३१४—जय चिट्ठे मिअ भासे । (उपदेश ७)

३१५—जरा जाव न पीडेइ, ताव धम्म समायरे । (उपदेश २३)

३१६—जरामच्चुवसोवणीए नरे, सयय मूढे धम्म नाभिजाणइ । (बाल, ३४)

३१७—जरोवणीयस्स हु नत्थि ताण । (उपदेश ३७)

३१८—जवा लोहमया चेव चावेयव्वा सुदुक्करं । (चारित्र ५)

३१९—जहा कड कम्म तहा से भारे । (कर्म २१)

३२०—जहा य किम्पाग फला मणो रमा, ए ओवमा काम गुणा विवागे । (काम-२२)

३२१—जहारिह मभि गिज्झ आ लविज्ज लविज्ज वा । (सत्यादि ४५)

३२२—जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढई । (लोभ-४)

३२३—जहा से दीवे असदीणे एव से धम्मे आरिय पदेसिए । (धर्म २०)

३२४—जाइ सद्धाइ निक्खत्तो तमेव अणुपालिज्जा । (कर्त्तव्य ३)

३२५—जाए सद्धाए निक्खतो, तमेव अणुपालिज्जा । (कर्त्तव्य ११)

३२६—जा जा दिच्छसि नारीओ, अट्ठि अप्पा भविस्ससि । (शील २५)

३२७—जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं । (वैराग्य १४)

३२८—जाव इदिआ न हायंति, ताव धम्मं समायरे । (उपदेश २४)

३१४—यत्ना पूर्वक बैठे और परिमित बोले।

३१५—जब तक बुढापा पीड़ा पहुँचाना प्रारम नही कर दे, तब तक धर्म का आचरण कर लो।

३१६—बुढापा और मृत्यु के चक्कर में फसा हुआ, सदैव मूढ बनता हुआ मनुष्य, धर्म को नही समझ सकता है।

३१७—बुढापे को प्राप्त हुए जीव के लिये निश्चय ही रक्षा का साधन नही है।

३१८—जैसे लोहे के, जो चबाना अत्यंत कठिन है, उतना ही कठिन सयम मार्ग है।

३१९—जैसा कर्म किया है, वैसा ही उसका भार समझो।

३२०—जैसे किंपाक फल मनोरम होते है, यही उपमा फल के लिहाज से काम-भोगो की समझनी चाहिये।

३२१—यथा योग्य स्वीकार करके आलाप–सलाप करें, बात चित करे।

३२२—ज्यो ज्यो लाभ, त्यो त्यो लोभ, लाभ लोभ की वृद्धि करता रहता हैं।

३२३—जैसे समुद्र मध्य में शरण भूत द्वीप है; वैसे ही ससार समुद्र में अरिहंतो द्वारा उपदिष्ट यह धर्म है।

३२४—जिस श्रद्धा के साथ धर्म मार्ग पर निकले, उसी अनुसार उसका अनुपालन करे।

३२५—जिस श्रद्धा के साथ निकले, उसी के अनुसार अनुपालन करे।

३२६—काम-भावना से जिस जिस नारी की ओर देखोगे, उतनी ही बार आत्मा अस्थिर होगी।

३२७—कर्म–फल भोगने के समय स्त्री और पुत्र रक्षक नही हो सकेंगे।

३२८—जब तक इन्द्रियाँ हीन नही होवें; तब तक धर्म का आचरण कर लो।

३२९—जिइदिए जो सहइ, स पुज्जो । (महापुरुष ८)

३३०—जिइन्दिओ सव्वओ विप्पमुक्के, अणुक्कसाई स भिक्खू । (श्रमण-भिक्षु ७)

३३१—जिण भक्खरो करिस्सइ, उज्जोय सव्व. लोगम्मि पाणिणं । (प्रशस्त ७)

३३२—जिणो जाणइ केवली । (ज्ञान ९)

३३३—जीवियए वहु पच्च वायए, विहुणा हि रय पुरे कडं । (उपदेश, ६३)

३३४—जीवियं चेव रूव च, विज्जु सपाय चंचल । (अनित्य १)

३३५—जीविय दुप्पडि वूहगं । (भोग १३)

३३६—जीविय नाभिकङ्खेज्जा, मरण नो वि पत्थए । (वैराग्य २१)

३३७—जीविय नावकखिज्जा, सोच्चा धम्म मणुत्तर । (धर्म २४)

३३८—जीवो उवओग लक्खण । (प्रकी १८)

३३९—जीवो पमाय वहुलो । (उपदेश ३२)

३४०—जुद्धारिह खलु दुल्लह । (दुर्लभ १३)

३४१—जे अज्झत्थ जाणइ, से वहिया जाणइ, जे वहिया जाणइ, से अज्झत्थ जाणइ । (आत्मा ६)

३४२—जे अणन्न दसी से अणण्णारामे, जे अणण्णारामे से अणन्नदसी । (महापुरुष ४८)

३४३—जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया । (आत्मा. ५)

३४४—जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा । (सद् गुण १३)

३२९—जितेन्द्रिय होता हुआ जो उपसर्गों को सहता है; वही पूज्य है ।

३३०—जो जितेन्द्रिय है, जो सब प्रकार से परिग्रह से मुक्त है, जो कषायों को पतला करने वाला है, वही भिक्षु है ।

३३१—सारे लोक में प्राणियो के लिये जिन—याने तीर्थंकर रूप सूर्य ही (ज्ञान—दर्शन का) उद्योत करेगे ।

३३२—जिन रूप केवली ही सब कुछ जानते है ।

३३३—यह जीवन अनेक विघ्न बाधाओ से परिपूर्ण है, इसलिये शीघ्र ही पूर्व कृत कर्मों का नाश कर दो ।

३३४—यह जीवन और रूप—यौवन विद्युत की चमक के समान-चचल हैं ।

३३५—यह जीवन—(आयु) बढाया जा सके, ऐसा नही है ।

३३६—(महापुरुष) न तो जीवित रहने की आकांक्षा करे और न मृत्यु की वाछा करे ।

३३७—श्रेष्ठ धर्म का श्रवण करके (भोगों के लिये) जीवन की आकांक्षा नही करे ।

३३८—उपयोग याने ज्ञान ही जीव का लक्षण है ।

३३९—(स्वभाव से ही) जीव बहुत प्रमादी है ।

३४०—आर्य—युद्ध याने कपायो से युद्ध करना बहुत ही दुर्लभ है ।

३४१—जो आतरिक को जानता है, वही बाह्य को भी जानता है, और जो बाह्य को जानता है, वही आतरिक को भी जानता है ।

३४२—जो अनन्य दर्शी है, वही अनन्य आराम वाला है, और जो अनन्य आराम वाला है, ही अनन्य-दर्शी है ।

३४३—जो आत्मा है, वही ज्ञाता है, और जो ज्ञाता है, वही आत्मा है ।

३४४—(ज्ञानी के लिये) जो आश्रव-स्थान है, वे ही सवर स्थान हो जाते है, इसी प्रकार (अज्ञानी के लिये) जो सवर स्थान है, वे ही आश्रव—स्थान हो जाते है ।

३४५—जे इन्दियाण विसया मणुन्ना, न तेसु भाव निसिरे कयाइ । (योग ११)

३४६—जे इह आरभ निस्सिया आत दंडा । (अनिष्ट २०)

३४७—जे इह मायाइ मिज्जई, आगंता गब्भाय णतसो । (कषाय १५)

३४८—जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ, जे सव्व जाणइ, से एग जाणइ । (ज्ञान १३)

३४९—जे एग नामे से वहु नामे, जे वहु नामे, से एग नामे । (सात्विक १७)

३५०—जे कम्हि वि न मुच्छिए स भिक्खू । (श्रमण-भिक्षु ५)

३५१—जे कोह दसी, से माण दसी । (कषाय २७)

३५२—जे गरहिया सणियाणप्पओगा, ण ताणि सेवति सुधीर धम्मा । (महापुरुष ४६)

३५३—जे गारव होइ सलोगगामी, पुणो पुणो विप्परियासुवेति । (अनिष्ट ३)

३५४—जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे । (भाग ९)

३५५—जे गुणे से मूल ट्ठाणे, जे मूलट्ठाणे से गुणे । (भोग ११)

३५६—जेण वियाणइ से आया । (आत्म ३)

३५७—जे णिव्वुया पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया । (महापुरुष ३६)

३५८—जे दूमण ते हि णो णया, ते जाणंति समाहि माहिय । (योग ३)

३५९—जे धम्मे अणुत्तरे तं गिण्ह हियति उत्तम । (धर्म २६)

३४५—इन्द्रियों के जो मनोज्ञ विषय है, उनमें कभी भी चित्त को संलग्न मत करो।

३४६—जो यहाँ पर "आरंभ" में ही सलग्न हो गये हैं; वे अपनी आत्मा के लिये दड सग्रह कर रहे हैं।

३४७—जो यहाँ पर माया में डूब जाता है, वह अनन्त वार गर्भ में आने वाला है।

३४८—जो एक को जानता है, वही सभी को जानता है, और जो सभी को जानता है, वही एक को भी जानता है।

३४९—जिसने एक (माहेनीय का) क्षय कर दिया है, उसने वहुत (कर्मों) का क्षय कर दिया है, और जिसने वहुत का क्षय कर दिया है; उसने एक का भी क्षय कर दिया है।

३५०—जो किसी में भी मूर्च्छित नही होता है, वही भिक्षु है।

३५१—जो क्रोध करने वाला है, वह मान करने वाला भी है।

३५२—जो (क्रियाऐं) निंदनीय है और (जो क्रियाऐं) नियाणा पूर्वक की जाती हैं, उनको सुधीर धर्म वाले आचरण नहीं करते है।

३५३—जो अभिमान करता है और अपने यश की इच्छा करता है, वह वार वार विपरीत सयोगो को प्राप्त करता है।

३५४—जो गुण याने विषय वासना है, वही आवर्त्त याने ससार है, और जो आवर्त्त है, वही गुण (विषय वासना) है।

३५५—जा गुण (विषय-वासना) है, वही मूल स्थान (कषाय) है। और जो मूल स्थान है, वही गुण है।

३५६—जिसके आधार से ज्ञान होता है, वही आत्मा है।

३५७—जो पाप कर्मो से निवृत्त हो गये हैं, वे ही "अनियाणा" वाले कहे गये है।

३५८—जो शब्द आदि इन्द्रियों के विषय है, उन विषयो में जो नहीं प्रविष्ट हुए है, वे ही विख्यात समाधि को जानते हैं।

३५९—जो धर्म श्रेष्ठ है, ऐसे हितकारी उत्तम धर्म को ग्रहण करो।

३६०—जे न वदे न से कुप्पे, वदिओ न समुक्कसे।
(उपदेश ६५)

३६१—जे माण दसी से माया दसी । (कषाय १६)

३६२—जे य वन्ध पमुक्ख मन्नेसी, कुसले पुणो नो वद्धे नो मुक्के।
(महापुरुष ३९

३६३—जे विन्नवणा हि ऽजोसिया सतिन्नेहिं सम वियाहिया।
(शील ५)

३६४—जो वोवती लूसयती व वत्थं, आहाहु सेणागणियस्स दूरे।
(श्रमण-भिक्षु ४६)

३६५—जो परिभवई परं जण, ससारे परिवत्तई मह ।
(अनिष्ट १२)

३६६—जो राग दोसेहिं समो स पुज्जो । (महापुरुष १२)

३६७—जो विग्गहीए अन्नाय भासी, न से समे होइ अझंझपत्ते ।
(कषाय ३७)

३६८—ज किच्चा णिव्वुडा एगे निट्ठं पावति पडिया ।
(उपदेश २१)

३६९—ज छन्न तं न वत्तव्व । (सत्यादि १४)

३७०जं जारिसं पुव्व मकासि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए।
(कर्म २२)

३७१—ज मग्गहा वाहिरिय विसोहिं, न त सुइट्ठ कुसला वयन्ति।
(वाल ९)

३७२—जं मयं सव्व साहूण, तं मय सल्लगत्तण । (उपदेश ५०)

३७३—ज वदित्ता अणुतप्पती । (सत्यादि ४१)

३६०—यदि कोई वदना नही करे तो क्रोधित नही हो जाय, इसी प्रकार वंदना किया जाने पर हर्षित भी न हो।

३६१—जो मान करने वाला है, वह माया करने वाला भी है।

३६२—जो बंध और मोक्ष के कारणो का अनुसंधान करने वाला है, वह कुशल है, उसके पुन बंध नही होने वाला है और वह अमुक्त होता हुआ भी शीघ्र मुक्त हो जाने वाला है।

३६३—जो स्त्रियो द्वारा सेवित नही है, याने पूर्ण ब्रह्मचारी हैं, वे सिद्ध पुरुषो के समान ही कहे गये है।

३६४—जो-(शृंगार भावना से) वस्त्र को धोता है, अथवा छोटा बड़ा करता है, वह निर्ग्रंथ-अवस्था से दूर कहा गया है।

३६५—जो दूसरे मनुष्य का अपमान करता है, वह ससार में बार बार परिभ्रमण करता है।

३६६—जो राग और द्वेष से शान्त हो गया है, इनसे दूर हो गया है, वह पूज्य है।

३६७—जो विग्रह-(लडाई झगडा) करता रहता है, और अन्याययुक्त बोलता है, वह न तो शाति प्राप्त कर सकता है, और न क्रोध-माया से रहित ही हो सकता है।

३६८—जिस (सत् आचरण को) करके अनेक निवृत्त हुए है, उसी आधार से पडित सिद्धि को प्राप्त करते हैं।

३६९—जो गोपनीय हो, उसे नही बोलना चाहिये।

३७०—जिसने जैसे पूर्व में कर्म किये है, वैसा ही ससार में उसको फल प्राप्त होता है।

३७१—जो बाह्य विशुद्धि की ही खोज करते हैं, उसको पडित "सुदृष्ट" याने वाछनीय नही कहते है।

३७२—जो सिद्धान्त सभी साधुओ द्वारा मान्य है, वही, सिद्धान्त, शल्य को (माया, नियाणा, मिथ्यात्व को) छेदने वाला है।

३७३—जिसको बोल कर पछताना पड़े। (वह मत बोलो)

३७४—जं सेयं तं समायरे। (उपदेश ५)

३७५—जं हंतव्वं तं नाभिपत्थए। (उपदेश ३५)

झ

३७६—झाणं जोगं समाहट्टु कायं विउसेज्ज सव्वसो।
(योग २७)

ड

३७७—डज्झमाणं न बुज्झामो, रागदोसग्गिणा जगं।
(संसार ४)

ण

३७८—ण कत्थई भास विहिंसइज्जा। (श्रमण-भिक्षु ३८)

३७९—णच्चा धम्मं अणुत्तरं कय किरिए ण यावि मामए।
(धर्म २५)

३८०—ण पंडिए अगणिं समारभिज्जा। (हिंसा ७)

३८१—ण मिज्जई महावीरे। (सात्विक ११)

३८२—णमो तित्थयराणं। (प्रा म. १)

३८३—णमो सिद्धाणं। (प्रा. मं २)

३८४—ण य संखय माहु जीवितं, तह वि य बाल जणो पगब्भई। (वैराग्य ७)

३८५—ण यावि पन्ने परिहास कुज्जा। (सात्विक ९)

३८६—णाति वेलं वदेज्जा। (सत्यादि ३९)

३८७—णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा। (वैराग्य १७)

३७४—जो श्रेय हो, कल्याणकारी हो, उसीका आचरण करो।

३७५—जो मारने योग्य है, उसकी आकांक्षा नही करे।

झ

३७६—ध्यान-योग का आचरण करके सब प्रकार से काया को अनिष्ट प्रवृत्ति से दूर कर दो।

ड

३७७—राग और द्वेष रूपी अग्नि से जलते हुए ससार को हम नही समझ रहे है। (यह आश्चर्य है।)

ण

३७८—वह भाषा नहीं कही जाय, जो हिसा पैदा करने वाली हो।

३७९—अनुत्तर-(श्रेष्ठ) धर्म को जान कर क्रिया करता हुआ ममत्व भावना नहा रखे।

३८०—पडित अग्नि सबधी समारभ नहीं करे।

३८१—महान् शूर वीर, महापुरुष वार वार जन्म मरण नही करता है।

३८२—तीर्थंकरो के लिये नमस्कार हो।

३८३—सिद्धो के लिये नमस्कार हो।

३८४—टूटा हुआ जीवन पुन नही जोडा जा सकता है, फिर भी बाल-जन पाप करता ही रहता है।

३८५—प्रज्ञावान् पुरुष किसी की भी हंसी मजाक नही करे।

३८६—लम्बे समय तक वार्तालाप नही करे।

३८७—(हे आत्मा!) तेरे लिये वे, (ज्ञाति जन) न तो सरक्षक हो सकते है और न शरण दाता ही। इसी प्रकार तुम भी उनके लिये न तो सरक्षक और न शरण दाता ही हो सकते हो।

३८८—णिक्खम्म से सेवइ अगारि कम्मं, ण से पारए होइ विमोयणाए । (मोक्ष १)

३८९—णिच्छिण्ण सव्व दुक्खा जाइ जरा मरण बंधण-विमुक्का।
(मोक्ष ८)

३९०—णिद्दं पि नो पगामाए । (अनिष्ट ३२)

३९१—णीवारे व ण लीएज्जा, छिन्न सोए अणाविले
(महापुरुष ३७)

३९२—णेव वफेज्ज मम्मय । (सत्यादि २६)

३९३—णो कुज्झे णो माणि । (कषाय २५)

३९४—णो जीवितं णो मरणाहि कखी । (कर्त्तव्य ४)

३९५—णो तुच्छए णो य विकंथइज्जा । (श्रमण-भिक्षु ३९)

३९६—णो निग्गथे इत्थीणं इन्दियाइ मणोहराइ, मणोरमाइ आलोएज्जा, निज्झाएज्जा । (शील २३)

३९७—णो निग्गंथे इत्थीण पुव्व रयं, पुव्व कीलियं अणुसरेज्ज ।
(शील १३)

३९८—णो निग्गंथे पणीय आहारं आहारेज्जा । (शील ३०)

३९९—णो निग्गंथेविभूसाणुवादी हविज्जा। (श्रमण-भिक्षु २२)

४००—णो पूयणं तवसा आवहेज्जा । (तप ११)

४०१—णो सुलभ वोहिं च आहिय । (दुर्लभ ५)

त

४०२—तओ गुत्तीओ पण्णत्ताओ मण गुत्ती, वय गुत्ती, काय गुत्ती ।
(योग २८)

४०३—तओ दुसण्णप्पा, दुट्ठे, मूढे, वुग्गाहिए (प्रकी. ३०)

३८८—जो संसार का परित्याग करके भी गृहस्थ जैसे ही कर्म करता है, वह ससार से मुक्ति पाने के लिए पार नही जा सकता है।

३८९—सिद्ध प्रभु सभी दुःखो से पार हो गये हैं तथा, जन्म, जरा, मृत्यु और बधन से विमुक्त हो गये है।

३९०—बहुत निद्रा भी मत लो।

३९१—छिन्न शोक वाला, कषाय रहित (आत्मा) धान्य के प्रति (सूअर की तरह) काम-भोगो की तरफ आकर्षित नही होवे।

३९२—मर्मघाती वाक्य नही बोले।

३९३—न क्रोध करे और न मान करे।

३९४—(अनासक्त महापुरुष) न तो जीवन की आकाक्षा करे और न मृत्यु की ही आकांक्षा करे।

३९५—(ज्ञानी) तो अपने को तुच्छ समझे और न अपनी प्रशसा करे।

३९६—निग्रथ स्त्रियो के मनोहर और मनोरम अंगोपाग रूप इन्द्रियो को न तो देखे और न उनका चिंतन करे।

३९७—निर्ग्रंथ स्त्रियो के साथ पूर्व काल में भोगे हुए भोगो को याद नही करे।

३९८—निर्ग्रंथ सरस आहार नही करे।

३९९—निर्ग्रंथ शृंगार वादी नहीं हो।

४००—तप द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा मत करो।

४०१—सम्यक् ज्ञान "सुलभ रीति से प्राप्त होने योग्य" नही कहा गया है।

त

४०२—तीन प्रकार की गुप्तियां कही गई हैं, मन गुप्ति, वचन गुप्ति, और काया गुप्ति।

४०३—तीन प्रकार की आत्माएं मुश्किल से समझाये जाने योग्य है.—१ दुष्ट, (२) मूढ और (३) दुराग्रही।

४०४—तओ सुग्गया, सिद्ध सुग्गया, देव सुग्गया, मणुस्स सुग्गया। (प्रकी ३१)

४०५—तओ सुसन्नप्पा, अदुट्ठे, अमूढे, अवुग्गाहिए। (प्रकी २९)

४०६—तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइं। (सद्गुण ८)

४०७—तमेव सच्च नीसक, ज जिणेहिं पवेइय। (उपदेश १)

४०८—तरुण ए वास सयस्स तुट्टती, इत्तर वासे य वुज्झह। (वैराग्य ८)

४०९—तवसा धुणइ पुराण पावग। (तप २)

४१०—तवेण परिसुज्झई। (तप ३)

४११—तवेण वोदाण जणयइ। (तप ६)

४१२—तवेसु वा उत्तम बंभचेर। (शील १)

४१३—तवो गुण पहाणस्स उज्जुमइ। (तप ४)

४१४—तव कुव्वइ मेहावी। (तप ५)

४१५—तव चरे। (तप १)

४१६—तस काय समारभ जाव जीवाइ वज्जए। (अहिंसा २३)

४१७—तसे पाणे न हिंसिज्जा। (अहिंसा ५)

४१८—ताइणो परिणिव्वुडे। (अहिंसा २०)

४१९—ताले जह वधण-चुए एव आउक्खयम्मि तुट्टती। (वैराग्य ९)

४२०—तिण्णो हु सि अण्णवं मह, कि पुण चिट्ठसि तीर मागओ। उपदेश ४)

४२१—तिव्वलज्ज गुणव, विहरिज्जासि। (अनिष्ट ८)

४२२—तिविहा उवही, सच्चित्ते, अचित्ते, मीसए। (अनिष्ट ३९)

४०४—तीन प्रकार के सद्गत जीव है,—(१) सिद्ध सद्गत, (२)देव सद्गत, (३) मनुष्य सद्गत ।

४०५—तीन प्रकार की आत्माएँ सरलता से शिक्षा देने योग्य हैं, (१)अदुष्ट, (२) अमूढ और (३) अनाग्रही ।

४०६—जिसकी तृष्णा नष्ट हो गई है, उसके लोभ नही होता है जिसका लोभ नष्ट हो गया है, उसके परिग्रह नही होता है ।

४०७—उसी को सत्य और निश्शंक समझो, जो कि जिन-वीतराग देवों द्वारा कहा गया है ।

४०८—सौ वर्ष की आयु वाले पुरुष की आयु भी तरुण अवस्था में टूट जाया करती है, अत यहाँ पर अल्प कालीन वास ही समझो ।

४०९—तप द्वारा पुराने पाप की निर्जरा होती है ।

४१०—तप से आत्मा विशेष रीति से शुद्ध होती है ।

४११—तप से निर्जरा पैदा होती है ।

४१२—सभी तपो में सर्व श्रेष्ठ तप ब्रह्मचर्य ही है ।

४१३—तप रूप प्रधान गुण वाले की मति सरल होती है ।

४१४—मेधावी पुरुष तप करता है ।

४१५—तप का आचरण करो ।

४१६—त्रस काय का समारभ जीवन-पर्यंत के लिये छोड दो ।

४१७—त्रस प्राणियो की हिंसा मत करो ।

४१८—अभय दान देने वाले ससार से पार उतर जाते है ।

४१९—जैसे बधन से गिरा हुआ ताड़-फल टूट जाता है, वैसे ही आयुष्य के क्षय होते ही प्रणी-(पर लोक को चला जाता है ।)

४२०—निश्चयही महान् ससार रूप समुद्र तो तैर गये हो, फिर क्यों किनारे तक पहुचे हुए होकर ठहरे हुये हो ।

४२१—गंभीर लज्जा शील होकर विचरो ।

४२२—उपधि तीन प्रकार की है—सचित्त, अचित्त और मिश्र ।

४२३—तिविहेणा वि पाण माहणे । (योग २६)

४२४—तिविहे भगवया धम्मे, सुअहिज्जिए, सुज्झाइए, मुतवस्सिए । (धर्म ३५)

४२५—तुमं तुमं ति अमणुन्न, सव्वसो त ण वत्तए । (सत्यादि १६)

४२६—तेसि पि तवो ण सुद्धो निक्खता जे महाकुला । (अनिष्ट ३३)

४२७—तं ठाणं सासय वासं, ज संपत्ता न सोयन्ति । (मोक्ष १९)

थ

४२८—थद्धे लुद्धे अणिग्गहे अविणीए । (काम ३७)

४२९—थणति लुप्पति तस्संति कम्मी । (प्रकी ९)

४३०—थम्मा कोहा पमाएण, रोगेणा लस्सएण य सिक्खा न लब्भई । (काम ३६)

४३१—थव थुइ मंगलेण नाण दसण चरित्त बोहिलाभं जणयइ । (धर्म ३२)

४३२—थी कहं तु विवज्जए । (शील १२)

द

४३३—दद्धो पक्को अ अवसो, पाव कम्मेहिं पाविओ । (आत्मा १७)

४३४—दया धम्मस्स खतिए, विप्पसीएज्ज मेहावी । (अहिंसा ११)

४२३—मन, वचन और काया करके भी प्राणियों को मत मारो।

४२४—भगवान ने तीन प्रकार का धर्म फरमाया है:—१ सम्यक् प्रकार से सूत्र आदि का अध्ययन, २ सम्यक् प्रकार से ध्यान और ३ सम्यक् तप।

४२५—"तू ! तू ! ऐसा अमनोज्ञ" शब्द किसी भी रूप से मत बोलो।

४२६—जो महान् कुल से निकले हुए है, (लेकिन जिनका ध्येय अपनी यश कीर्ति, और पूजा प्रतिष्ठा ही है तो) उनकी तपस्या शुद्ध नही है।

४२७—वह स्थान शाश्वत् निवास वाला है, जिसको प्राप्त करके शोक रहित हो जाते है।

थ

४२८—जो अहंकारी है, जो लोभी है, जो स्वच्छद इन्द्रियो वाला है, वह अविनीत है।

४२९—पाप कर्मी अत में रोते हैं, छेदे जाते है और दुःखी किये जाते है।

४३०—अहकार से, क्रोध से, प्रमाद से, रोग से और आलस्य से ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है।

४३१—ईश्वरीय प्रार्थना-स्तुति रूप मगल से ज्ञान दर्शन चारित्र रूप बोध का प्राप्ति होती है।

४३२—स्त्री-कथा को सर्वथा छोड दो।

द

४३३—यह पापी आत्मा पाप कर्मों द्वारा आग से जलाया गया, पकाया गया और दुःख झेलने के लिये विवश किया गया।

४३४—मेधावी दया धर्म के लिये क्षमा-शील होता हुआ अपनी आत्मा को प्रसन्न करे।

४३५— दव्वओ खेत्तओ चेव कालओ भावओ तहा जयणा चउव्विहा वुत्ता । (धर्म २९)

४३६—दवदवस्स न गच्छेज्जा । (उपदेश ६८)

४३७—दाण भत्ते सणा रया । (श्रमण–भिक्षु २०)

४३८—दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाण । (अहिंसा १)

४३९—दाराणि य सुया चेव, मय नाणुव्वयन्ति य । (संसार ३)

४४०—दिट्ठिम दिट्ठि ण लूसएज्जा । (दर्शन ९)

४४१—दिट्ठेहिं निव्वेय गच्छिज्जा । (उ देश ९३)

४४२—दिव्व च गइ गच्छन्ति, चरित्ता धम्म मारिय । (धर्म १७)

४४३—दीवे व धम्म । (धर्म ३)

४४४—दुक्कर तारुण्णे समणत्तण (श्रमण-भिक्षु ३३)

४४५—दुक्खाइ अणुहोति पुणो पुणो, मच्चु वाहि जरा कुले । (भोग ५)

४४६—दुक्खी इह दुक्कडेण । (अनिष्ट २)

४४७—दुक्खी मोहे पुणो पुणो । (अनिष्ट २३)

४४८—दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा, (श्रमण-भिक्षु ४९)

४४९—दुक्ख च जाई मरणं । (प्रकी. १३)

४५०—दुक्ख हय जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा । (सद्गुण ७)

४५१—दुज्जयए काम भोगे य निच्चसो परिवज्जए । (काम १५)

४३५—यतना चार प्रकार की कही गई है —द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से ।

४३६—जल्दी जल्दी, (उतावला उतावला) धव धव करके नही चले ।

४३७—(आत्मार्थी) दिये जाने वाले निर्दोष आहार—पानी के अनुसंधान में रत रहते हैं ।

४३८—सभी प्रकार के दानो में श्रेष्ठ दान "अभय दान" देना है ।

४३९—मृत्यु होने पर स्त्री, पुत्र आदि साथ मे आने वाले नही है ।

४४०—सम्यक् दृष्टि वाला अपनी दृष्टि को (अपने विश्वास को) दूषित नही करे ।

४४१—विरोधी उपदेशो से निर्वेद अवस्था (उदासीनता) ग्रहण कर लो ।

४४२—आर्य धर्म का आचरण करके अनेक महापुरुष दिव्य गति को जाते है ।

४४३—धर्म दीपक के समान है ।

४४४—यौवन अवस्था में साधु धर्म पालना अत्यन्त कठिन है ।

४४५—भोगी, मृत्यु व्याधि और बुढापे से आकुल होते हुए बार बार दुःखो का अनुभव करते हैं ।

४४६—यहाँ पर प्राणी दुष्कृत्यो से ही दुःखी होता है ।

४४७—मोह ग्रस्त (प्राणी) बार बार दुःखी होता है ।

४४८—नीतिवान् दुःखो के आने पर भी ध्रुव रूप से स्थित रहे ।

४४९—बार बार जन्म और बार बार मरण, ये ही दुःख के रूप हैं ।

४५०—जिसको मोह नही होता है, उसका दुःख नष्ट हो गया और जिसको तृष्णा नही सताती है, उसका मोह भी नष्ट हो गया है ।

४५१—कठिनाई से छोडने योग्य इन काम-भोगो को सदैव के लिये छोड दो ।

४५२—दुप्परिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीर पुरिसेहिं ।
(काम ८)

४५३—दुप्पूरए इमे आया । (लोभ ३)

४५४—दुम पत्तए पडुयए जहा, एव मणुयाण जीविय ।
(वैराग्य ४)

४५५—दुल्लभे ऽय समुस्सए । (दुर्लभ १०)

४५६—दुल्लहया काएण फासया । (दुर्लभ ७)

४५७—दुल्लहाओ तहच्चाओ । (दुर्लभ ८)

४५८—दुल्लहे खलु माणुसे भवे । (उपदेश ३१)

४५९ · दुल्लह लहित्तु सामण्ण, कम्मुणा न विराहिज्जासि ।
(उपदेश ७२)

४६०—दुविहा पोग्गला, सुहुमा चेव वायरा चेव । (प्रकी. २५)

४६१– दुविहा वोही, णाण वोही चेव दसण वोही चेव ।
(ज्ञान ३)

४६२—दुविहे आगासे, लोगागासे चेव, अलोगागासे चेव ।
(प्रकी. २६)

४६३—दुविहे कोहे–आय पइट्ठिए चेव पर पइट्ठिए चेव ।
(क्रोध ७)

४६४—दुविहे दसणे, सम्म दंसणे चेव मिच्छा दंसणे चेव ।
(दर्शन १२)

४६५—दुविहे धम्मे पन्नत्ते, सुअ धम्मे चेव चरित्त धम्मे चेव ।
(धर्म. ३४)

४६६—दुविहे नाणे, पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव । (ज्ञान ६)

४६७—दुविहे वंधे पेज्ज वंधे चेव दोस वंधे चेव । (कषाय ३०)

४६८—दुविहे सामाइए, अगार सामाइए, अणगार सामाइए ।
(तप १५)

४५२—कठिनाई से छोड़ने योग्य ये काम-भोग अधीर पुरुषो द्वारा सरलता पूर्वक नही छोड़े जा सकते है।

४५३—यह आत्म स्थित तृष्णा कठिनाई से पूरा जाने वाली है।

४५४—जैसे वृक्ष का पीला पत्ता गिर पडता है, वैसे ही मनुष्य के जीवन को (अचानक पूर्ण हो जाने वाला) समझो।

४५५—यह शरीर सपत्ति दुर्लभ है।

४५६—शरीर द्वारा धर्म का परिपालन किया जाना दुर्लभ ही है।

४५७—श्रद्धा अनुसार ही त्याग- प्राप्ति भी दुर्लभ ही है।

४५८—निश्चय ही, मनुष्य-भव दुर्लभ है।

४५९—दुर्लभ श्रमण धर्म प्राप्त करके अकृत्यों द्वारा उसकी विराधना मत करो।

४६०—पुद्गल दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और वादर।

४६१—समझ दो प्रकार की है:—१ ज्ञान समझ २ दर्शन समझ।

४६२—आकाश दो प्रकार का है:—लोकाकाश और अलोकाकाश।

४६३—क्रोध दो प्रकार का है—आत्मा प्रतिष्ठित और परप्रतिष्ठित।

४६४—दर्शन दो प्रकार का है:—१ सम्यक्त्व दर्शन और २ मिथ्यात्व दर्शन।

४६५—दो प्रकार का धर्म कहा गया है—१ श्रुत धर्म और २ चारित्र धर्म।

४६६—ज्ञान दो प्रकार का है—१ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष।

४६७—बंध दो प्रकार का है:—१ राग बंध और २ द्वेष बंध।

४६८—सामायिक दो प्रकार की है:—१ गृहस्थ सामायिक और २ साधु सामायिक।

४६९—दुस्सील पडिणीए मुहरी निक्कसिज्जई। (अनिष्ट १४)

४७०—देव दाणव गन्धव्वा बम्भयारि नमंसति। (शील ३)

४७१—देह दुक्ख महाफल। (कर्म २८)

४७२—दो दडा पन्नता, तजहा, अट्ठा दडे चेव, अणट्ठा दडे चेव।
(प्रका २७)

४७३—दोस वत्तिया मुच्छा दुविहा, कोहे चेव माणे चेव।
(कषाय २८)

४७४—दोस दुग्गइ वड्ढण। (अनिष्ट १८)

४७५—दोहिं ठाणेहिं आया केवलि पन्नत्त धम्म लभेज्जा सन्नणयाए, खएण चेव उवसमेण चेव। (धर्म ३३)

४७६—दसण सपन्न याए, भव मिच्छत्त छेयण करेइ।
(दर्शन ७)

४७७—दसणेण य सद्दहे। (दर्शन ३)

ध

४७८—धणेण किं धम्म धुरा हि गारे (धर्म ७)

४७९—धम्म ज्झाणरए जे स भिक्खू। (श्रमण–भिक्षु ८)

४८०—धम्म सद्धाए ण साया सोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ।
(धर्म १५)

४८१—धम्मस्स विणओ मूल। (धर्म ५)

४८२—धम्म विऊ उज्जू। (धर्म १३)

४८३—धम्माण कासवो मुह। (धर्म २०)

४६९—दुराचारी, प्रतिकूल वृत्ति वाला, और वाचाल वहिष्कृत किया जाता है।

४७०—ब्रह्मचारी को देवता, दानव और गन्धर्व भी नमस्कार करते हैं।

४७१—शरीर में उत्पन्न होने वाले दुःख पूर्वकृत कर्मों के ही महाफल हैं।

४७२— दंड दो प्रकार के कहे गये हैं, वे इस प्रकार हैं :—१ अर्थ दंड और २ अनर्थ दंड।

४७३—द्वेष वृत्ति वाली मूर्च्छा दो प्रकार की है—१ क्रोध और २ मान।

४७४—द्वेष दुर्गति का बढाने वाला है।

४७५—आत्मा केवली के कहे हुए धर्म को सुनकर दो प्रकार से प्राप्त करता है:—१ क्षय रूप से और २ उपशम रूप से।

४७६—दर्शन की संपन्नता से (आत्मा) सासारिक मिथ्यात्वका छेदन करता है।

४७७—दर्शन के अनुसार ही श्रद्धा रक्खो।

ध

४७८—धर्म रूपी धुरा के अगीकार कर लेने पर धन से क्या (तात्पर्य-है) ?

४७९—जो धर्म-ध्यान में रत है, वही भिक्षु है।

४८०—धर्म के प्रति श्रद्धा के जम जाने पर साता वेदनीय जनित सुखो पर विरक्ति पैदा हो जाती है।

४८१—धर्म का मूल विनय है।

४८२—धर्म को समझने वाला सरल हृदयी होता है।

४८३—धर्मों का मुख (आदि स्त्रोत) काश्यप (श्री ऋषभदेव-स्वामी) हैं।

४८४—धम्मारामे चरे भिक्खू । (श्रमण-भिक्षु १९)

४८५—धम्मे ठिओ सव्व पयाणु कम्पी । (अहिंसा १९)

४८६—धम्मे हरए बम्भे सन्ति तित्थे । (धर्म ४)

४८७—धम्मो दीवो । (धर्म २)

४८८—धम्मो मंगल मुक्किट्ठं । (धर्म १)

४८९—धम्मं अकाऊण जो गच्छइ परं भवं, सो दुही होइ । (धर्म १८)

४९०—धम्मं च कुणमाणस्स सफला जन्ति राइओ । (धर्म ८)

४९१—धम्मं चर सुदुच्चरं । (धर्म १०)

४९२—धम्मं पि काऊण जो गच्छइ परं भवं, सो सुही होइ । (धर्म ९)

४९३—धितिम विमुक्केण यं पूयणट्ठी न सिलोय गामी य परिव्वएज्जा । (उपदेश १६)

४९४—धीरा बंधणुमुक्का । (महापुरुष २४)

४९५—धीरे मुहुत्त मवि णो पमायए । (उपदेश ३)

४९६—धुय मायरेज्ज । (कर्त्तव्य १५)

४९७—धोरेय सीला, तवसा उदारा, धीरा हु भिक्खारियं चरन्ति । (महापुरुष २३)

४८४—भिक्षु धर्म रूपी वाटिका में ही विचरे।

४८५—धर्म मे स्थित होते हुए सभी जीवो पर अनुकपा करने वाले होओ।

४८६—धर्म रूपी तालाव में ब्रह्मचर्य रूप तीर्थ (घाट है)।

४८७—ससार समुद्र मे धर्म ही द्वीप है।

४८८—धर्म ही उत्कृष्ट मगल है।

४८९—धर्म की बिना आराधना किये ही जो परलोक को जाता है, वह दुःखी होता है।

४९०—धर्म करने वाले के दिन रात सफल ही होते है।

४९१—"आचरण में कठिनाई वाला और फल में अच्छाई वाला" ऐसे धर्म का तू आचरण कर।

४९२—जो धर्म का आचरण करके पर भव को जाता है, वह सुखी होता है।

४९३—धैर्य शाली पुरुप विकारो से विमुक्त होता हुआ अपने लिये पूजा की इच्छा नही करे। यश-कीर्ति की इच्छा वाला भी न हो, तथा संयम शील होता हुआ विचरे।

४९४—धैर्य शाली वन्धन से उन्मुक्त होते है।

४९५—धैर्य शील क्षण मात्र का भी प्रमाद नही करे।

४९६—सयम का आचरण करो।

४९७—तप प्रधान जीवन वाले, शील को अग्र गण्य रखने वाले, धर्म धुरवर वीर पुरुप ही भिक्षा चर्या का अनुसरण करते है।

न

४९८—न असब्भ माहु । (सत्यादि ८)
४९९—न आविमुक्खो गुरुहीलणाए । (अनिष्ट ६)
५००—न कम्मुणा कम्म खवेति वाला । (वाल ६)

५०१—न काम भोगा समयं उवेन्ति । (काम १८)

५०२—न कखे पुव्व सथव । (सद्गुण, १८)
५०३—न चरेज्ज वेस सामते । (शील ९)
५०४—नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं । (मोक्ष १८)
५०५—नत्थि चरित्त सम्मत्त विहूण । (दर्शन २)
५०६—न त अरी कठ छित्ता करेइ, ज से करे अप्पणिया दुरप्पा । (आत्म १५)
५०७—न त सुह कामगुणेसु राय, ज भिक्खुण सील गुणे रयाण । (शील ४)
५०८—न वाहिर परिभवे । (कपाय १९)
५०९—न भासिज्जा भास अहिअ गामिण । (सत्यादि ७)
५१०—नमइ मेहावी (सात्विक ५)
५११—नमो ते ससयातीत । (प्रा. म ४)
५१२—न य रूवेसु मण करे । (शील, १७)
५१३—न य वित्तासए पर । (अहिंसा १०)
५१४—न या विपूय गरह च संजए । (महापुरुष २९)
५१५—न लवेज्ज पुट्ठो सावज्ज । (सत्यादि १२)
५१६—न सरण वाला पडिय माणिणो । (वाल ११)

न

४९८—असभ्यता के साथ मत बोलो ।

४९९—गुरुकी हीलना-निंदा करने से कभी भी मोक्ष नही मिल सकता है ।

५००—बाल जन, अज्ञानी अपने कार्यों द्वारा कर्म का क्षय नहीं कर सकते हैं ।

५०१—काम-भोग वाले प्राणी शाति (समता) को नही प्राप्त कर सकते हैं ।

५०२—(ज्ञानी) पूर्व काल में प्राप्त प्रशसा आदि की इच्छा नही करे ।

५०३—(विवेकी) वेश्या आदि के मकान के आसपास नही जावे आवे ।

५०४—कर्मो से अमुक्त के लिये निर्वाण नही है ।

५०५—सम्यक् दर्शन के अभाव में चारित्र नही होता है ।

५०६—जितनी हानि अपनी पापी आत्मा स्व के लिये कर सकती है, उतनी कठ का छेदन करने वाला शत्रु भी नही कर सकता है ।

५०७—जो सुख शील गुण में रत भिक्षुओ को प्राप्त होता है, वह सुख काम भोगो मे राग रखने से नहीं मिल सकता है ।

५०८—बाह व्यक्तियो को पराजित मत करो ।

५०९—अहित करने वाली भाषा मत बोलो ।

५१०—मेधावी विनय शील होता है ।

५११—हे संशय से अतीत ! तुम्हे नमस्कार हो ।

५१२—रूप-विषयो में मन को सलग्न मत करो ।

५१३—दूसरे को त्रास मत दो ।

५१४—सयती पूजा और निंदा से (चचल) नही होवे ।

५१५—पूछने पर सावद्य नहीं बोले ।

५१६—अपने आप को पडित मानने वाले बाल जन शरण रहित होते हैं ।

५१७—न सव्व सव्वत्थ अभिरोयएज्जा । (योग १६)

५१८—न सिया तोत्त गवेसए । (उपदेश ३९)

५१९—न सत सति मरण ते सीलवन्ता वहुस्सुया । (शील ३२)

५२०—न हणे णो विघायए । (अहिंसा ४)

५२१—न हणे पाणिणो पाणे । (अहिंसा १२)

५२२—न हिंसए किंचण सव्व लोए । (अहिंसा ९)

५२३—न हु पाण वह अणु जाणे, मुच्चेज्ज कयाइ सव्व दुक्खाण ।
(हिंसा ५)

५२४— न हु मुणी कोवपरा हवन्ति । (क्रोव ६)

५२५—नाइमत्त तु भुजिज्जा वम्भचेर रओ । (शील २९)

५२६—नाइ वाइज्ज कचण । (अहिंसा १४)

५२७—नागो जहा पक तलाव सन्नो, एव वय काम गुणेसु गिद्धा ।
(काम १)

५२८—नाणब्भट्ठा दसण लूसिणो । (दर्शन ४)

५२९ नाण सपन्नयाए जीवे, सव्व भावाहि गम जणयइ ।
(ज्ञान ७)

५३०—नाणा रुइ च छन्द च, परिवज्जेज्ज सजओ ।
(योग १२)

५३१—नाणी नो पमाए कयाइ वि । (उपदेश ३८)

५३२—नाणी नो परिदेवए । (प्रशस्त ३)

५३३—नाणेण जाणई भावे । (ज्ञान ४)

५३४—नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो । (ज्ञान ११)

५३५—नाणेण विना न हुन्ति चरण गुणा । (ज्ञान ५)

५१७—सब जगह किसी भी पदार्थ के प्रति लालायित मत हो।

५१८—पर छिद्रों के ढूढने वाले मत होओ।

५१९—हे संत! हे शीलवन्त! हे बहुश्रुत! तुम्हारे लिये मृत्यु आदि दुःख नहीं होते हैं।

५२०—(ज्ञानी जीवो को) न तो मारे और न घात करे।

५२१—प्राणियो के प्राणो को मत हणो।

५२२—संपूर्ण लोक में किसी की भी हिंसा मत करो।

५२३—(विवेकी) प्राणि-वध की अनुमति नही दे, क्योंकि इससे सभी दु:खो का कभी भी नाश नही होता है।

५२४—मुनि क्रोध करने वाले नही होते हैं।

५२५—ब्रह्मचर्य में रत होता हुआ अति मात्रा में भोजन नहीं करे।

५२६—कोई भी वात अति विस्तृत रूप से नहीं कहे।

५२७—जैसे हाथी कीचड़ वाले तालाव में फंस जाता है, वैसे ही हम काम-भोगो में गृद्ध हैं।

५२८—सम्यक् दर्शन से पतित हुए प्राणी सम्यक् ज्ञान से भी भ्रष्ट हो जाते हैं।

५२९—ज्ञान की संपन्नता से जीव सभी पदार्थों का ज्ञान उत्पन्न कर लेता है।

५३०—संयमी नाना रुचि को और विषयो की अभिलाषा को छोड दे।

५३१—ज्ञानी कभी भी प्रमाद नही करे।

५३२—ज्ञानी खेद नहीं करे।

५३३—ज्ञान द्वारा ही पदार्थ जाना जाता है।

५३४—ज्ञान से ही मुनि होता है और तप से ही तपस्वी होता है।

५३५—सम्यक् ज्ञान के बिना सम्यक् चारित्र नही हो सकता है।

५३६—नाति वेलं हसे मुणी । (श्रमण-भिक्षु ३४)
५३७—ना दसणिस्स नाणं । (ज्ञान १०)
५३८—ना पुट्ठो वागरे किंचि । (सत्यादि १३)
५३९—नायएज्ज तणा मवि । (सात्विक २१)
५४०—नारइ सहई वीरे, वीरे न सहई रतिं । (महापुरुष ४७)
५४१—नारीसु नोवगिज्झेज्जा, धम्मं च पेसल णच्चा । (शील १६)
५४२—निग्गया उज्जु दंसिणो । (श्रमण-भिक्षु १४)
५४३—निग्गया धम्म जीविणो । (श्रमण-भिक्षु १३)
५४४—निद्देसं नाइवट्टेज्जा मेहावी । (उपदेश ५६)
५४५—निद्दं च न बहु मन्निजा । (उपदेश ३०)
५४६—निद्दं च भिक्खू न पमाय कुज्जा । (श्रमण-भिक्षु ४०)
५४७—निमम्मे निरहंकारे । (सद्गुण १)
५४८—निम्ममो निरहंकारो, चरे भिक्खू जिणाहियं । (श्रमण-भिक्षु ४४)
५४९—निरट्ठाणि उवज्जए । (सात्विक ६)
५५०—निरासवे संखवियाण कम्मं, उवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवं ॥ (उपदेश ८३)
५५१—निरुद्धगं वा वि न दीहइज्जा । (प्रकी १०)
५५२—निव्वाण वादी णिह णायपुत्ते (प्रा मं ७)
५५३—निव्वाण संधए मुणि । (उपदेश ७५)
५५४—निविण्ण चारी अरए पयासु । (शील १८)
५५५—निर्व्वि देज्ज सिलोग पूयणं । (कर्त्तव्य १८)

५३६—मुनि बहुत समय तक नही हसे ।

५३७—सम्यक् दर्शन से रहित का सम्यक् ज्ञान नहा होता है ।

५३८—विना पूछे कुछ भी नही बोले ।

५३९—विना आज्ञा के (किसी का) तृण मात्र भी नहा लेवे ।

५४०—वीर पुरुष न ता रति (राग) रखता ह और न अरति (द्वेष) ही रखता है ।

५४१— (साधक) धर्म को सुन्दर समझ कर स्त्रियो मे गृद्ध नही होवे।

५४२—निर्ग्रथ सरल दृष्टि वाले होते है ।

५४३—निर्ग्रंथ धर्म जीवी होते है ।

५४४—मेधावी (गुरु जनो की) आज्ञा का उल्लघन नही करे ।

५४५—(आत्मा हितैषी) बहुत निद्रा नही लेवे ।

५४६—भिक्षु निद्रा और प्रमाद नही करे ।

५४७—ममता रहित और अहकार रहित होओ ।

५४८—ममता रहित और अहकार रहित होता हुआ भिक्षु जिन आज्ञा-नुसार विचरे ।

५४९—निरर्थक कार्यों को छोड दो ।

५५०—(मुमुक्षु) आश्रव रहित होता हुआ, कर्मो का सम्यक् प्रकार से क्षय करके, विपुल, उत्तम और ध्रुव स्थान का प्राप्त होता है ।

५५१—स्वल्प को दीर्घ रूप नही दे ।

५५२—निर्वाण वादियो मे ज्ञात पुत्र महावीर स्वामी सर्व श्रेष्ठ है ।

५५३—मुनि निर्वाण को ही साधे ।

५५४—वैराग्य शील हाकर विचरने वाला स्त्रियो के प्रति रति-भावना नही लावे ।

५५५—अपनी प्रशसा और पूजा प्रतिष्ठा से दूर ही रहो !

५५६—निव्वेएण दिव्व माणुस तेरिच्छिएसु काम भोगेसु निव्वेयं हव्व मागच्छइ। (वैराग्य २३)

५५७—नो अत्ताण आसाइज्जा, नो पर आसाइज्जा। (उपदेश ८७)

५५८ नोऽवि य पूयण पत्थए सिया। (प्रशस्त १८)

५५९—नो इन्दिय गेज्झ अमुत्त भावा, अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो। (आत्म २)

५६०—नो निहणिज्ज वीरिय। (उपदेश ८०)

५६१—नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा, गड वच्छासु अणेग चित्तासु। (शील २६)

५६२—नो लोगस्सेसण चरे। (प्रशस्त ४)

५६३—नो विहरे सहणमित्थीसु। (काम २८)

५६४—नो सुलभ पुणरावि जीविय। (दुर्लभ १२)

प

५६५—पच्चक्खाणेण आसव दाराइ निरुम्भइ। (तप १९)

५६६—पच्चमाणस्स कम्मेहि नाल दुक्खाओ मोअणे। (सात्विक १९)

५६७—पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेण बुब्बुय सन्निभे। (अनित्य ४)

५६८—पन्डित नरए घोरे जे नरा पावकारिणो। (अधर्म २)

५६९—पडिक्कमणेण वयछिद्दाणि पिहेइ। (तप १७)

५७०—पडिणीए असवुद्धे अविणीए। (अनिष्ट १५)

५७१—पढम नाण तओ दया। (ज्ञान २)

५५६—विरक्ति भावना से देवता मनुष्य और तिर्यंच संबंधी काम-भोगो पर शीघ्र ही वैराग्य उत्पन्न हो जाता है ।

५५७—न तो अपनी आत्मा को दुःखी करो और न दूसरे की आत्मा को दुःखी करो ।

५५८—अपनी पूजा-प्रतिष्ठा के प्रार्थी मत बनो ।

५५९—आत्मा अमूर्त्त स्वरूप वाली है, इसीलिये इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य नहीं है । अमूर्त्त स्वरूप वाली होने से ही निश्चय पूर्वक वह नित्य है ।

५६०—आत्म-बल का विनाश मत करो ।

५६१—स्तन वाली, चचल चित्त वाली ऐसी राक्षसी समान स्त्रियो में गृद्ध मत होओ ।

५६२—ससार की इच्छानुसार मत विचरो ।

५६३—स्त्रियो के साथ विहार मत करो ।

५६४—बार बार जीवन प्राप्त होना सुलभ नही है ।

प

५६५—प्रत्याख्यान से आश्रव के द्वार बंद हो जाते है ।

५६६—कर्मो से पीडित प्राणी के लिये दुःखो से छुडाने में कोई भी समर्थ नही है ।

५६७—यह शरीर पीछे या पहले छोड़ना ही होगा, इसकी स्थिति फेन या बुल बुले के समान है।

५६८—जो मनुष्य पापकारी है, वे घोर नरक में पडते हैं ।

५६९—प्रतिक्रमण से व्रतो के छिद्र ढंक जाते है ।

५७०—प्रतिकूल वृत्ति वाला और समझदारी नही रखने वाला अविनीत होता है ।

५७१—पहले ज्ञान और पीछे दया ।

५७२—पणए वीरे महाविहि, सिद्धि पह णेआउय धुव ।
(प्रशस्त १७)

५७३—पण्ण समत्ते सया जए, समता धम्म मुदाहरे ।
(कर्त्तव्य २१)

५७४—पदुट्ठ चित्तो यो चिणाइ कम्म । (कर्म २)

५७५—पमत्ते अगार मावसे । (अनिष्ट १७)

५७६—परक्कमिज्जा तव सजमम्मि । (तप ७)

५७७—पर किरिअ च वज्जए नाणी । (उपदेश ५७)

५७८—परिजूरइ ते सरीर य, समय गोयम ! मा पमायए ।
(वैराग्य २)

५७९—परिव्वयन्ते अणियत्त कामे, अहो य राओ परितप्पमाणे ।
(उपदेश ६०)

५८०—परिसह रिऊ दता धूअमोहा जिइदिया ।
(महापुरुष १५)

५८१—पवड्ढती वेर मसजतस्स । (बाल ३१)

५८२—पहीयए कामगुणेसु तण्हा । (लोभ १५)

५८३—पाडिओ फालिओ छिन्नो, विप्फुरन्तो अणेगसो ।
(आत्म १८)

५८४—पाणाणि चेव विणि हति मदा । (हिंसा ८)

५८५—पाणातिवाता विरते ठियप्पा । (अहिंसा २१)

५८६—पाणा पाणे किलेसति । (अनिष्ट ३८)

५८७—पाणि वह घोर । (हिंसा १)

५८८—पाणे य नाइ वाएज्जा, निज्जाइ उदग व थलाओ ।
(अहिंसा ८)

५८९—पायच्छित्त करणेण पाव कम्म-विसोहिं जणयइ ।
(तप २०)

५७२—जो सिद्धि पथ, महान् विधि रूप है, न्याय युक्त है, ध्रुव है, उसी पर विनीत वीर चलता है।

५७३—पूर्ण बुद्धिमान् सदा यत्न शील होता हुआ समता धर्म का उपदेश करता रहे।

५७४—जो द्वेष पूर्ण चित्त वाला है, वह कर्म को इकट्ठा करता है।

५७५—जो साधु प्रमादी है, वह गृहस्थ अवस्था में ही रहा हुआ है।

५७६—तप-सयम में पराक्रम बतलाओ।

५७७—ज्ञानी दूसरो के लिये भोग-उपभोग की क्रियाएे करना छोड दे।

५७८—तुम्हारा शरीर निश्चय ही जीर्ण होने वाला है, इसलिये हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो

५७९—जो काम-भोगो को नहीं छो ते हैं, वे रात दिन परिताप पाते हुए परिभ्रमण करते रहते है।

५८०—जो परिषह रूप शत्रु को जीतने वाले है, जो मोह को नष्ट करने वाले है, वे ही जितेन्द्रिय है।

५८१—असयती के लिए वैर ही बढता है।

५८२—काम-भोगो मे रही हुई तृष्णा हटाई जाय।

५८३—यह आत्मा अनेक वार इधर उधर भागते हुए पटका गया, फाडा गया, छिन्न भिन्न किया गया।

५८४—मद बुद्धि वाले, प्राणियो की हिंसा करते हैं।

५८५—स्थितप्रज्ञ आत्मा प्राणातिपात से विरतिवाली होती ह।

५८६—प्राणी ही प्राणियो का क्लेश पहुँचाते हैं।

५८७—प्राणियो का वध घोर पाप है।

५८८—जा प्राणियो की हिंसा नहीं करता है, उस के कर्म इस प्रकार दूर हो जाते है, जसे कि ढालू जमीन से पानी दूर हो जाता है।

५८९—प्रायश्चित्त करने से पाप-कर्मों की विशुद्धि होती है।

५९०—पाव कम्म नेव कुज्जा न कारवेज्जा। (उपदेश ३६)

५९१—पावदिट्ठी विहन्नई। (अनिष्ट २९)

५९२—पावाइ कम्माइ करति रुद्दा, तिव्वाभितावे नरए पडति। (अनिष्ट २४)

५९३—पावाइ मेधावी अज्झप्पेण समाहरे। (उपदेश ८९)

५९४—पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा। (उपदेश १५)

५९५—पावोवगा य आरभा, दुक्ख फासा य अतसो। (अनिष्ट २५)

५९६—पास ! लोए महब्भय। (ससार ९)

५९७—पासे समिय दसणे, छिन्दे गेहि सिणेह च। (उपदेश ८६)

५९८—पिट्ठि मस न खाइज्जा। (सत्यादि ३५)

५९९—पियं करे पियवाई, से सिक्ख लद्धु मरिहई। (सत्यादि ३२)

६००—पिय न विज्जई किंचि, अप्पिय पि न विज्जई। (महापुरुष २१)

६०१—पियमाप्पय कस्सइ णो करेज्जा। (उपदेश १२)

६०२—पिय मप्पिय सव्व तितिक्खएज्जा। (क्षमा ४)

६०३—पिहियासवस्स दतस्सतस्स पाव कम्म न बधई। (उपदेश २६)

६०४—पुढवि समे मुणी हविज्जा। (श्रमण–भिक्षु २५)

६०५—पुढो य छद। इह माणवा उ। (प्रकी. १७)

६०६—पुणो पुणो गुणासाए, वक समायारे। (भाग १०)

६०७—पुरिमा उज्जु जड्डा उ, वक्क जडा य पच्छिमा। (प्रकी. १४)

५९०—पाप कर्म न तो करे और नहीं करावे ।

५९१—पाप दृष्टि वाला विनष्ट हो जाता है ।

५९२—रौद्र भावना वाले पाप कर्म करते है और तीव्र ताप वाले नरक मे पडते है ।

५९३—मेधावी आत्म ध्यान द्वारा ही पापो को दूर कर देता है ।

५९४—पाप मे आत्मा को लौटा लो ।

५९५—आरभ के काम पाप को पैदा करने वाले है और अतमें दुख का स्पर्श कराने वाले ही है ।

५९६—देखो । लोक महान् भय वाला है ।

५९७—सम्यक् दर्शनी विचार करे, और आसक्ति तथा मोह को दूर करे ।

५९८—निंदा मत करो ।

५९९—जो प्रिय करने वाला है और प्रिय बोलने वाला है, वही शिक्षा ग्रहण करने की योग्यता रखता है ।

६००—महात्मा के लिये न कोई प्रिय होता है और न कोई अप्रिय होता है ।

६०१—किसी का भी प्रिय अप्रिय (राग द्वेष के कारण से) मत करो ।

६०२—प्रिय अप्रिय सभी शाति पूर्वक सहन करो ।

६०३—जिसने आश्रव का रोक दिया है और जो इन्द्रियो का दमन करने वाला है, उसके पाप कर्म नही बधा करते है ।

६०४—मुनि पृथ्वी के समान धैर्यशाली होवे ।

६०५—इस ससार में मनुष्य अनेक प्रकार के अभिप्राय वाले होते है ।

६०६—जो वार वार इन्द्रियो के भोगो का आस्वादन करता है, वह कुटिल आचरण वाला है ।

६०७—प्रथम तीर्थकर के युग मे जनता सरल और जड थी, जब कि अतिम तीर्थकर के युग में जनता वक्र और जड़ है ।

६०८—पुरिसा ! अत्ताण मेव अभिणिगिज्झ, एव दुक्खा पमुच्चसि । (उपदेश ४८)

६०९—पुरिसा ! तुममेव तुम मित्त, कि बहिया मित्त मिच्छसि । (उपदेश ४७)

६१०—पुरिसा ! सच्च मेव समभि जाणाहि । (सत्यादि ३)

६११—पूयणट्ठा जसो कामी बहु पसवइ पाव । (अनिष्ट १०)

६१२—पूयणा पिट्ठतो कता, ते ठिया सुसमाहिए। (महापुरुष ३४)

६१३—पेज्जवत्तिया मुच्छा दुविहा, माए चेव लोहे चेव । (कषाय १३)

६१४—पच ठाणाइ समणाणं जाव अब्भणुन्नायाइ भवति, सच्चे, सजमे, तवे, चियाए, बभ चेर वासे । (धर्म ३७)

६१५—पच णिही, पुत्त णिही, मित्तणिही, सिप्पणिही, धणणिही धन्नणिही । (प्रकी ४३)

६१६—पच निग्गहणा धीरा । (योग १)

६१७—पच विहे आयारे, णाणायारे, दसणायारे, चरित्तायारे, तवायारे, वीरियायारे । (सद्गुण २३)

६१८—पच विहे काम गुणे निच्चसो परिवज्जए । (काम ३३)

६१९—पचविहे ववहारे, आगमे, सुए, आणा, धारणा, जीए । (प्रकी ४२)

६२०—पचविहे सोए, पुढवि सोए, आउ सोए, तेउ सोए, मत सोए, बभसोए । (प्रकी, ४१)

६२१—पडिया पवियक्खणा, विणियट्टन्ति भोगेसु । (महापुरुष ३)

६२२—पत लूह सेवति वीरा समत्तदसिणा । (महापुरुष ४५)

६०८—हे पुरुष ! अपनी आत्मा में ही अनुरक्त होओ और इसी रीतिसे मुक्त हो सकोगे ।

६०९—हे पुरुष ! तुम ही तुम्हारे मित्र हो, बाह्य मित्र की इच्छा क्यो करते हो ?

६१०—हे पुरुष ! सत्य का ही सम्यक् प्रकार से ज्ञान प्राप्त करो ।

६११—पूजा का आकाक्षी और यश का कामी बहुत पाप का उपार्जन करता है ।

६१२—जिसने पूजा से मुंह मोड़ लिया है, वही सुसमाधि में स्थित है ।

६१३—राग वृत्ति से सबधित मूर्च्छा दो प्रकार की है —माया सबधी और लोभ सबधी ।

६१४—साधुओ के लिये पाँच प्रकार के स्थान कर्त्तव्य रूप से कहे गये हैः—सत्य, सयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्य ।

६१५—निधियाँ पाच हैं —पुत्रनिधि, मित्रनिधि, ज्ञाननिधि, धननिधि और धान्य निधि ।

६१६—पाचो इन्द्रियो का निग्रह करने वाले ही धीर पुरुष कहलाते हैं ।

६१७—आचार पाच प्रकार का कहा गया हैः—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार ।

६१८—पाच प्रकार के काम–भोगो को सदैव के लिये छोड दो ।

६१९—व्यवहार पाच प्रकार का हैः—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत ।

६२०—पवित्रता पाच प्रकार की कही गई है, पृथ्वी मिट्टी से जनित पवित्रता, पानी से, अग्नि से, मत्र से और ब्रह्मचर्य से ।

६२१—पडित और प्रवीण पुरुष भोगो से निवृत्त ही होते हैं ।

६२२—सम्यक्त्व दर्शी वीर पुरुष नीरस और निस्वाद भोजन का आहार करते हैं ।

फ

६२३—फासेसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्वं, अकालिय पावइ से विणास । (योग २१)

ब

६२४—बद्धे विसय पासेहिं, मोह मावज्जइ पुणो मदे ।
(बाल २१)

६२५—बहिया उड्ढमादाय, नाव कखे कयाइ वि, (काम ३९)

६२६—बहु कम्म लेव लित्ताण, बोही होइ सु दुल्लहा ।
(दुर्लभ १५)

६२७—बहु दुक्खा हु जन्तवो । (ससार १०)

६२८—बहु पि अणुसासिए जे तहच्चा, समेहु से होइ अझझपत्ते ।
(महापुरुष ४०)

६२९—बहु मायाओ इत्थिओ । (स्त्री १६)

६३०—वाल जणो पगब्भइ । (वाल १२)

६३१—बाल भावे अप्पाण नो उव दसिज्जा । (बाल १)

६३२—वालाणं मरणं असइ भवे । (वाल ३)

६३३—वाला वेदति कम्माइ पुरे कडाइं । (कर्म २४)

६३४—वालुया कवले चेव, निरस्साए उ सजमे ।
(श्रमण-भिक्षु २१)

६३५—वाले पापेहिं मिज्जती । (वाल १३)

६३६—वाले य मन्दिए मूढे, वज्झई मच्छिया व खेलम्मि ।
(वाल २)

फ

६२३—जो स्पर्श इन्द्रिय के भोगो मे तीव्र गृद्धि भाव रखता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है।

ब

६२४—मूर्ख आत्मा विषय-पाश से बंधी हुई होकर बार बार मोह-ग्रस्त होती है।

६२५—महत्वाकाक्षी उच्च स्थिति प्राप्त करके फिर कभी भी भोगों की आकाक्षा नही करे।

६२६—बहुत कर्मों के लेप से लिप्त प्राणियो के लिए सम्यक् ज्ञान दर्शन की प्राप्ति सुदुर्लभ होती है।

६२७—ससारी जीव निश्चय ही विविध दुख वाले होते है।

६२८—बहुत प्रकार से अनुशासित किया जाने पर भी जो विचारों में विकार नही आने देता है, वह निश्चय में समता शील होकर हुआ व्याकुलता से रहित होता है।

६२९—स्त्रियाँ बहुत माया वाली होती है।

६३०—बालजन ही अभिमानी होता है।

६३१—अपनी आत्मा को बाल भाव में नही दिखाना चाहिए।

६३२—मूर्खों की मृत्यु बार बार होती है।

६३३—मूर्ख आत्माएं पूर्व कृत कर्मों का फल भोगती है।

६३४—सयम पालना बालू-रेत के कौर के समान निस्स्वाद और कठोर है।

६३५—मूर्ख पापो से डूबता है।

६३६—बाल आत्मा, मन्द आत्मा, मूढ आत्मा इस प्रकार फंस जाती है, जैसे कि मक्खी नाक और मुख के कफ रूप मल में फंस जाती है।

६३७—वुद्धा धम्मस्स पारगा । (प्रशस्त २)

६३८—वुद्धामो ति य मन्नता अत ए ते समाहिए । (वाल १७)

६३९—वुद्धा हु ते अत कडा भवति । (ज्ञान १२)

६४०—वुद्धे परि निव्वुडे चरे, सन्ती मग्ग च बूहए ।
(उपदेश ६४)

६४१—वुद्धो भोगे परिच्चयई । (महापुरुष ४)

६४२—बंभयारिस्स इत्थी विग्गहओ भय । (शील २)

भ

६४३—भद्द सव्व जगुज्जोयगस्स, भद्द जिणस्स वीरस्स ।
(प्रा. म १७)

६४४—भद्दं सील पडागु सियस्स, तव नियम तुरय जुत्तस्स ।
(प्रा म २१)

६४५—भद्द सुरासुर नमसियस्स भद्द धुय रयस्स । (प्रा मं. ११)

६४६—भय वेराओ उवरए । (सात्विक १८)

६४७—भव तण्हा लया वुत्ता भीमा भीम फलोदया ।
(लोभ ७)

६४८—भवे अकामे अझझे । (सात्विक १०)

६४९—भायण सव्व दव्वाण, नहं ओगाह लक्खण ।
(प्रकी. २२)

६५०—भारस्स जाता मुणि भुज एज्जा । (श्रमण-भिक्षु ४८)

६३७—बुद्ध, ज्ञानी धर्म के पार पहुँचे हुए होते है ।

६३८—"हम ज्ञानी हैं" ऐसा जो अपने आप को मानते हैं, वे समाधि से बहुत दूर हैं ।

६३९—जो निश्चय में ज्ञानी हैं, वे ससार का अन्त करने वाले होते हैं ।

६४०—ज्ञान शाली होकर, सब प्रकार से परिनिवृत्त होकर विचरे, तथा शाति के मार्ग की वृद्धि करता रहे ।

६४१—ज्ञानी ही भोगो को छोडता है ।

६४२—ब्रह्मचारी के लिये स्त्री के शरीर से भय रहा हुआ है ।

भ

६४३—सपूर्ण ससार में उद्योत करने वाले जिन देव वीर-प्रभु का शासन भद्र हो, कल्याणकारी हो ।

६४४—जिसमें शील रूप पताका फरक रही है, और जिसमें तप, नियम रूप घोडे जुते हुए हैं, ऐसे श्री सघ रूप रथ के लिए भद्र हो, मगल हो ।

६४५—जिनको सुर और असुर सभी नमस्कार करते हैं और जिन्होने कर्म रूप रज को धो डाली है, ऐसे श्री वीर प्रभु मगलकारी हैं ।

६४६—भय और वैर से दूर रहो ।

६४७—तृष्णा एक प्रकार की सासारिक भयकर लता कही गई है, जिससे भीषण फल प्राप्त होते है ।

६४८—निष्कामना वाला राग रहित होवे ।

६४९—आकाश सभी द्रव्यो का भाजन है और "स्थान देना" ही इसका लक्षण है ।

६५०—सयम रूपी यात्रा के निर्वाह के लिये ही मुनि भोजन करे ।

६५१—भावणा जोग सुद्धप्पा, जले णावा व आहिया ।
(योग ३

६५२—भाव विसोहीए निव्वाण मभि गच्छइ । (प्रशस्त १५

६५३—भासमाणो न भासेज्जा । (सत्यादि २७

६५४—भासियव्व हिय सच्च । (सत्यादि ६

६५५—भिक्खवत्ती सुहावहा । (श्रमण ५१

६५६—भिक्खू सुसाहुवादी । (श्रमण-भिक्षु २६

६५७—भुज्जो भुज्जो दुहा वास, असुहत्त तहा तहा ।
(अनिष्ट २६

६५८—भुत्ताण भोगाण परिणामो न सुन्दरो । (भाग ३)

६५९—भुजमाणो य मेहावी कम्मणा नोवलिप्पइ ।
(महापुरुष २६

६६०—भुंजिज्जा दोष वज्जिअ । (सद्‌गुण २२)

६६१—भूएहिं न विरुज्झेज्जा । (उपदेश ४१)

६६२—भूओ व घाइणि भास नेवं भासिज्ज पन्नव ।
(सत्यादि १९)

६६३—भोगा इमे सग करा हवति । (काम १२)

६६४—भोगा भुत्ता विसफलोवमा, कडुय विवागा अणुबध दुहावहा । (भोग २)

६६५—भोगी भमइ ससारे, अभोगी विप्पमुच्चई । (भोग ८)

म

६६६—मग्ग कुसीलाण जहाय सव्वं, महा नियंठाण वए पहेण ।
(उपदेश ३३)

६५१—भावना के योग से शुद्ध आत्मा जल मे नाव की तरह कहा गया है ।

६५२—भावो की विशुद्धि से निर्वाण को प्राप्त होता है ।

६५३—कोई दूसरा बोलता हो तो बीच मे नही बोले ।

६५४—हितकारी और सत्य ही बोलना चाहिए ।

६५५—भिक्षा वृत्ति सुखो को लाने वाली है ।

६५६—भिक्षु सत्य और मधुर बोलने वाला होता है ।

६५७—(भोगो की तल्लीनता) बार बार दु खो का ही घर है, और ज्यों ज्यो दु ख, त्यो त्यो अशुभ (विचार बढते ही रहते हैं) ।

६५८—भोगे हुए भोगो का परिणाम सुन्दर नही होता है ।

६५९—अनासक्त रूपसे भोजन करता हुआ मेधावी कर्मों से लिप्त नहीं होता है ।

६६०—दोष से वर्जित भोजन करो ।

६६१—भूतो के साथ याने प्राणियो के साथ वैर–भाव मत रक्खो ।

६६२—प्रज्ञ पुरुष जीवघातिनी (मर्मान्तिक) भाषा नही बोले ।

६६३—ये भोग कर्मों की सगति कराने वाले होते है ।

६६४—भोगे हुए भोग विष फल के समान है, कडुए परिणाम वाले है और निरन्तर दु खो को लाने वाले है ।

६६५—भोगी ससार में भ्रमण करता है और अभोगी मुक्त हो जाता है ।

म

६६६—(मुमुक्षु) कुशीलो के सपूर्ण मार्ग का परित्याग करके महा निर्ग्रंथो के मार्ग–अनुसार बोले ।

६६७—मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो जराए परिवारिओ ।
(वैराग्य १३)

६६८—मच्चू नरं नेइ हु अन्त काले, नइ तस्स माया व पिया व भाया अंस हरा भवन्ति । (वैराग्य १५)

६६९—मज्ज मस लसुण च भोच्चा अनत्थ वास परिकप्पयति ।
(अनिष्ट २१)

६७०—मज्झत्थो निज्जरा पेही, समाहि मणु पालए । (तप २४)

६७१—मज्झिमा उज्जु पन्ना उ । (प्रकी० १५)

६७२—मण गुत्तो वय गुत्तो काय गुत्तो जिइंदिओ जावज्जीवं दढव्वओ । (योग ६)

६७३—मणसा काय वक्केण, णारभि ण परिग्गही । (योग २५)

६७४—मणो साहस्सिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावई । (योग ५)

६७५—मन वय कायसु संवुडे स भिक्खू । (श्रमण-भिक्षु ६)

६७६—ममाइ लुप्पई वाले । (बाल २६)

६७७—महप्पसाया इसिणो हवन्ति । (महापुरुष १९)

६७८—महब्भयाओ भीमाओ, नरएसु दुह वेयणा । (संसार ७)

६७९—महुगार समा बुद्धा । (श्रमण-भिक्षु १)

६८०—माणुस्स खु सु दुल्लह । (दुर्लभ १७)

६८१—माणो विणय नासणो । (कषाय १७)

६८२—माण मद्दवया जिणे । (सद्गुण ४)

६८३—मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा । (सत्यादि २५)

६६७—यह ससार मृत्यु से पीड़ित है और बुढापे से घिरा हुआ है।

६६८—अंतिम काल मे मृत्यु मनुष्य को निश्चय ही ले जाती है, उसके माता, पिता, भाई, कोई भी अग रूप से भी रक्षक नही होते है।

६६९—(मूर्ख) मद्य, मास, लशुन खा करके अनर्थ वास का (नीच गति की) परिकल्पना करते है।

६७०—निर्जराप्रेक्षी मध्यस्थ (तटस्थ) रहता हुआ समाधि का अनुपालन करे।

६७१—दूसरे तीर्थंकर से लगा कर तेइसवें तार्थंकर तक के शासन काल की जनता-सरल और बुद्धिशालिनी थी।

६७२—जीवन पर्यंत दृढ व्रत शाली हाता हुआ मनगुप्ति, वचन गुप्ति और काया गुप्ति वाला एव जितेन्द्रिय हावे।

६७३—मन, वचन और काया द्वारा न तो आरभी हो आर न परिग्रही हो।

६७४—यह मन साहसिक और भयकर दुष्ट घोडा रूप है, जो कि निरतर दौडता रहता है।

६७५—जो मन, वचन और काया द्वारा सवृत्त है, व्रत शील है, वही भक्षु है।

६७६—वाल–आत्मा ममता से डूवता है।

६७७—ऋषि महान् प्रसन्न होते हैं, वे शोक रहित होते है।

६७८—नरको दुख वेदनाऐं महान् भयकर और भीषण होती हैं।

६७९—ज्ञानी मधुकर के समान होते है।

६८०—मनुष्यत्व निश्चय ही सुदुर्लभ है।

६८१—मान विनय का नाश करने वाला है।

६८२—मान को मृदुता जाते

६८३—छल कपट के स्थान को छाड दो।

६८४—माया गई पडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं।
(कषाय १२)

६८५—माया पिया ण्हुसा भाया नालं ते मम ताणाए।
(वैराग्य १६)

६८६—माया मित्ताणि नासेइ। (कषाय ११)

६८७—माया मुस वड्ढइ लोभ दोसा। (सत्यादि ३०)

६८८—माया मोस विवज्जए। (सत्यादि ३६)

६८९—माया मोस विवज्जए। (कषाय १०)

६९०—मायाहिं पियाहिं लुप्पइ, नो सुलहा सुगई य पेच्चओ।
(दुर्लभ १८)

६९१—माय अज्जव भावेण। (सद्गुण ५)

६९२—माय च वज्जए सया। (कषाय १४)

६९३—मायं न सेवेज्ज पहेज्ज लोह। (उपदेश ४४)

६९४—मा वत्त पुणो वि आविए। (कर्त्तव्य ५)

६९५—मिच्छ दिट्ठी अणारिया। (अनिष्ट २७)

६९६—मिच्छा दिट्ठी अणारिया, ससार अणु परियट्टंति।
(बाल १०)

६९७—मित्ति भूएसु कप्पए। (सात्विक १)

६९८—मिय कालेण भक्खए। (उपदेश ४२)

६९९—मिहो कहाहिं न रमे। (उपदेश २९)

७००—मुच्छा परिग्गहो वुत्तो। (अपरिग्रह २)

७०१—मुणी ण मज्जई। (श्रमण-भिक्षु ४३)

७०२—मुणी महब्भय नाइवाइज्ज कचण। (अहिंसा १५)

६८४—माया उच्च गति का प्रतिघात करने वाली है और लोभ से दोनो लोक में भय रहा हुआ है।

६८५—माता, पिता, पुत्र, वधु, भाई, कोई भी मेरी रक्षा के लिये समर्थ नही है।

६८६—माया मित्रो का नाश करती है।

६८७—माया-मृषावाद लोभ के दोषो को बढाता है।

६८८—माया-मृषावाद को छोड दो।

६८९—माया-मृषावाद को छोड़ दो।

६९०—जो माता पिता द्वारा मोह ग्रस्त हो जाता है, उसके लिये पर लोक में सुगति सुलभ नही होता है।

६९१—माया को सरल भाव से जीती।

६९२—सदा के लिये माया को छोड दो।

६९३—(विवेकी) माया की सेवना नहीं करे और लाभ को छोड़ दे।

६९४—त्यागी हुई (भोग्य वस्तुओ) को पुन भोगने की इच्छा मत करो।

६९६—मिथ्या दृष्टि वाले अनार्य होते है और वे ससार में चक्कर लगाया ही करते है।

६९७—प्राणियो पर मैत्री-भावकी कल्पना करो।

६९८—समयानुसार परिमित भोजन क

६९९—परस्पर मे कथा-वार्ताओ द्वारा मनोरजन नहा करे।

७०१—मुनि अहकार नही करता है।

७०२—हे मुनि ! किसी की भी हिंसा मत करो, इसमें महान् भय रहा हुआ है।

७०३—मुणी मोणं समायाय, धुणे कम्म सरीरग। (श्रमण ५३)

७०४—मुसा भासा निरत्थिया। (सत्यादि ३१)

७०५—मुसावाय च वज्जिज्जा, अदिन्नादाण च वोसिरे। (सत्यादि २८)

७०६—मूस न बूया मुणि अत्तगामी। (सत्यादि ४०)

७०७—मुस परिहरे भिक्खू। (सत्यादि २२)

७०८—मुहा दाई मुहा जीवी दो वि गच्छति सुग्गइं। (प्रशस्त ८)

७०९—मूलमेय महमस्स। (काम ६)

७१०—मेधाविणो लोभ मयावतीता। (महापुरुष ५)

७११—मेरुव्व वाएण अकम्पमाणो, परीसहे आयगुत्ते सहिज्जा। (महापुरुष ३०)

७१२—मेहावि समिक्ख धम्म दूरेण पाव परिवज्जएज्जा। (उपदेश १४)

७१३—मेहावी अप्पणो गिद्धि मुद्धरे। (महापुरुष २७)

७१४—मेहावी जाणिज्ज धम्म। (सद्गुण से१५)

७१५—मोक्ख सब्भूय साहणा, नाण च दसण चेव चरित्त चेव। (मोक्ष १६)

७१६—मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पयोग काले य दुही दुरन्ते। (सत्यादि २९)

७१७—मोहाय यण खु तण्हा। (लोभ ५)

७१८—मोहेण गब्भं मरणाइ एइ। (कषाय ३२)

७१९—मोह चतण्हाय यण। (लोभ ६)

७०३—मुनि मौन को ग्रहण करके शरीर मे रहे हुए (आत्मास्थ) कर्मों को कंपित कर दे।

७०४—झूठ वाली भाषा निरर्थक है।

७०५—झूठ का वर्जन कर दो और अदत्ता दान को (चोरी को) छोड दो।

७०६—आत्मा को मोक्ष मे ले जाने की इच्छा वाला मुनि झूठ नही बोले।

७०७—भिक्षु झूठ का परिहार कर दे।

७०८—निर्दोष भिक्षा देने वाला और निर्दोष भिक्षा पर जीवन निर्वाह करने वाला, दोनो ही सुगति को जाते हैं।

७०९—यह काम-भोग नीचता की जड है।

७१०—मेधावी पुरुष (ज्ञान शाला) लोभ से और मद से अतीत होते है, (रहित होते हैं)।

७११—आत्मा का गोपने वाला (दमन करने वाला) वायु द्वारा मेरू के अकंपन की तरह परिषहो को अविचलित होकर सहन करे।

७१२—मेधावी धर्म की समीक्षा करके पाप को दूर से ही छोड़ दे।

७१३—मेधावी अपने गृद्धि-भाव को हटावे।

७१४—मेधावी धर्म को जाने।

७१५—मोक्ष के सद्भूत (यथार्थ) साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र है।

७१६—दुष्ट आत्मा झूठ के पीछे और पहिले एवं प्रयाग-काल में (तीनो ही काल मे) दु खी होता है।

७१७—तृष्णा निश्चय ही मोह का घर है।

७१८—मोह से गर्भ को और मृत्यु को प्राप्त होता है।

७१९—मोह हा तृष्णा का स्थान है।

७२०—मदस्सावियाणओ। (बाल २४)

७२१—मंदा नरयं गच्छन्ति, बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं। (बाल २५)

७२२—मंदा मोहेण पाउडा। (बाल १६)

७२३—मंदा विसीयंति उज्जाणंसि व दुब्बला। (बाल २०)

७२४—मंदा विसीयंति, मच्छा विट्ठा व केयणे। (भोग १५)

र

७२५—रक्खिज्ज कोहं विणएज्ज माणं। (उपदेश ४३)

७२६—रमइ अज्ज वयणम्मि, तं वयं बूम माहणं। (प्रकी १)

७२७—रयाइ खेवेज्ज पुराकडाइं। (उपदेश ८१)

७२८—रसगिद्धे न सिया। (उपदेश ६२)

७२९—रसाणुरत्तस्स नरस्स एवं कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि। (अनिष्ट २२)

७३०—रसा पगामं न निसेवियव्वा। (भोग ६)

७३१—रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं। (योग २०)

७३२—राई भोयण विरओ जीवो भवइ अणासवो। (धर्म १६)

७३३—राग दोस भयाईयं, तं वयं बूम माहणं। (प्रकी २)

७३४—रागदोसस्सिया बाला पावं कुव्वंति ते बहुं। (बाल २२)

७३५—रागद्दोसादओ तिव्वा, नेह पासा भयंकरा। (कषाय ३)

७२०—मद पुरुष के लिये (ज्ञान भी) अज्ञान ही होता है।

७२१—मद बुद्धि वाले और मूर्ख बुद्धि वाले पाप दृष्टि के कारण स नरक को जाते है।

७२२—मद बुद्धि वाले ही मोह से ढके हुए होते हैं।

७२३—जैसे दुर्वल वैल ऊँची जमीन पर चढते हुए कष्ट पाते है, वैसे ही मूर्ख आत्माऐ भी विषाद (खेद) पाती है।

७२४—जैसे जाल मे फसी हुई मछली (विषाद) खेद अनुभव करती है, वैसे ही मूर्ख आत्माऐ भी खेद अनुभव करती है।

र

७२५—क्रोध को हटा दो और मान को विनष्ट कर दो।

७२६—जा आर्य वचनो मे रमण करता है, उसी को हम ब्राह्मण कहते है।

७२७—पूर्व कृत कर्मो की रज को फेंक दो।

७२८—रस में गृद्धि वाले मत वनो।

७२९—रस में अनुरक्त मनुष्य के लिए कभी भी थोडा सा भी सुख कैसे हो सकता है ?

७३०—अत्यधिक मात्रा में दूध, घी, तेल आदि रसो का सेवन नही किया जाना चाहिए।

७३१—जो रसो में तीव्र गृद्धि भाव रखता है वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है।

७३२—रात्रि-भोजन से विरक्ति करने वाला जीव अनाश्रव वाला होता है।

७३३—जो राग, द्वेष और भय से अतीत है, उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं।

७३४—राग द्वेष के आश्रित होकर वाल जन विविध पाप किया करते है।

७३५—राग द्वेष आदि रूप मोह पाश तीव्र हैं और भयकर है।

७३६—रागस्स हेउ समणुन्न माहु, दोसस्स हेउ अमणुन्न माहु । (कपाय २)

७३७—रागो य दोसोऽवि य कम्म वीय । (कर्म १)

७३८—रायणिएसु विणयं पउजे । (कर्त्तव्य ७)

७३९—रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो न लिप्पए भवमज्झेऽवि-सन्तो । (शील ३१)

७४०—रूवेसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्व, अकालिय पावइ से विणास । (योग १८)

७४१—रूवेहिं लुप्पति भया वहे हिं । (काम ४)

७४२—रोइअ नायपुत्त वयणे, पचासव सवरे-जे स भिक्खू । (श्रमण-भिक्षु ३)

ल

७४३—लज्जा दया संजम वभचेर कल्लाण भागिस्स विसोहि ठाण । (कर्त्तव्य ८)

७४४—लद्धे कामे ण पत्थेज्जा । (शील २७)

७४५—लद्धे वि पिट्ठी कुव्वइ से हु चाइ । (श्रमण-भिक्षु १५)

७४६—लुप्पन्ति वहुसो मूढ़ा, ससारम्मि अणन्तए । (वाल ४)

७४७—लेस समाहट्टु परिवएज्जा । (उपदेश १३)

७४८—लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते (प्रा म ५)

७४९—लोगे त सव्व दुपडीआर, जीवाचेव अजीवा चेव । (प्रकी. २८)

७५०—लोभ सतोसओ जिणे । (सद्गुण ६)

७५१—लोभो सव्व विणासणो । (लोभ १)

७३६—समनोज्ञ (रमणीयता) राग का हेतु कहा गया है, और अमनोज्ञ द्वेष का हेतु कहा गया है।

७३७—राग और द्वेष ही कर्म के वीज हैं।

७३८—रत्नाविक पुरुषो के प्रति (ज्ञान दर्शन और चारित्र मे वृद्ध पुरुषो के प्रति) विनय रखना चाहिए।

७३९—रूप मे विरक्त एव शोक रहित मनुष्य ससार में रहता हुआ भी लिप्त नही होता है।

७४०—जो रूप में तीव्र गृद्धि रखता है, वह अकाल में विनाश को प्राप्त होता है।

७४१—भय लाने वाले रूप द्वारा ही प्राणी लुप्त होते है, विनाश को प्राप्त होते है।

७४२—ज्ञातपुत्र महावीर के वचन में रुचि लाकर जो पाचो आश्रवो का सवर करता है, वही भिक्षु है।

ल

७४३—कल्याण की कामना वाले के लिये लज्जा, दया, सयम और ब्रह्मचर्य विशुद्धि के स्थान हैं।

७४४—(विवेकी) भोगो के प्राप्त होने पर भी उनकी वाछा नही करे।

७४५—प्राप्त भोगो से भी जो मुख मोड लेता है, वही सच्चा त्यागी है।

७४६—मूढ़ आत्माएँ अनेक वार इस अनत ससार में लुप्त होती रहती हैं।

७४७—(अशुभ) लेश्या का परिहार करके सयम शील होवे।

७४८—श्रमण ज्ञातपुत्र महावीर लोक में उत्तम है।

७४९—इस सपूर्ण लोक को दो रूप में समावेश किया जा सकता है —जीव और अजीव।

७५०—लोभ को सतोप से जीते।

७५१—लोभ सव का विनाश करने वाला है।

व

७५२—वईसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा । (प्रकी ४)

७५३—वज्जए इत्थी विस लित्तं व कंटग नच्चा । (काम २७)

७५४—वण्ण रस गध फासा, पुग्गलाण तु लक्खण ।
(प्रकी. १९)

७५५—वण्ण जरा हरइ नरस्स । (उपदेश ५३)

७५६—वत्तणा लक्खणो कालो । (प्रकी. २३)

७५७—वन्दणएण नीया गोय कम्म खवेइ, उच्चा गोय कम्मं निबन्धइ । (सदगुण २०)

७५८—वमे चत्तारि दोसे उ इच्छतो हिय मप्पणो ।
(कषाय ६)

७५९—वसे गुरु कुले निच्चं । (ज्ञान २०)

७६०—वायणाए निज्जर जणयइ । (सद्गुण २१)

७६१—वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि वेराणु वधीणि महब्भयाणि ।
(सत्यादि १७)

७६२—विगय सगामो भवाओ परिमुच्चए । (महापुरुष ४३)

७६३—विज्जाचरणं पमोक्ख । (चारित्र ३)

७६४—विणि अट्टिज्ज भोगेसु, आउ परिमि अप्पणो ।
(वैराग्य १०

७६५—विणियट्टंति भोगेसु, जहा से पुरिसुत्तमो ।
(महापुरुष २)

७६६—विणीअ तिण्हो विहरे । (लोभ १४)

व

७५२ —आचरण अनुसार ही वैश्य होता है और आचरण अनुसार ही शूद्र होता है।

७५३—ब्रह्मचारी स्त्री को काटो वाली विप लता जान कर छोड़ दे।

७५४—पुद्गलो का लक्षण. "वर्ण, रस, गध और स्पर्श वाला" होना कहा गया है।

७५५ वुढापा मनुष्य के वर्ण को हरण कर लेता है।

७५६—काल वर्त्तना लक्षण वाला है।

७५७—वन्दना से नीच-गोत्र कर्म नष्ट होता है और उच्च गोत्र कर्म का वध पड़ता है।

७५८—अपनी आत्मा का हित चाहने वाला चारो दोषो को (क्रोध, मान, माया, लोभ को) छोड दे।

७५९— नित्य गुरुकुल में (ज्ञानियो की सगति में) रहे।

७६०—वाचना से (पठन पाठन से) निर्जरा उत्पन्न होती है।

७६१—दुष्ट रीति से वोले जाने वाले वचन वडी कठिनाई से भूले जाने वाले होते हैं, वैर का वधन लाने वाले होते है, तथा महान् भय पैदा करने वाले होते हैं।

७६२—विकारों के साथ किया जाने वाला सग्राम ससार से मुक्ति दिलाने वाला होता है।

७६३—ज्ञान और चारित्र ही मोक्ष है।

७६४—भोगो से निवृत्त हो जाओ, क्योकि अपनी आयु परिमित है।

७६५—जो भोगो से निवृत्त होते हैं, वे ही पुरुषोत्तम है।

७६६—ज्ञानी तृष्णा को हटाकर के विचरे।

७६७—विति गिच्छ समावन्नेणं, अप्पाणेणं नो लहइ समाहिं।
(दर्शन ११)

७६८—वित्ते गिद्धे य इत्थिसु, दुहओ मलं सचिणइ।
(काम २१)

७६९—वित्तेण ताण न लभे पमत्ते। (उपदेश ८४)

७७०—वित्त पसवो य नाइओ, त बाले सरणं ति मन्नइ।
(बाल १४)

७७१—विद्धसण धम्म मेव तं इति, विज्जं कोऽगार मावसे।
(उपदेश ३४)

७७२—विप्पमायं न कुज्जा। (उपदेश १९)

७७३—विभज्ज वायं च वियागरेज्जा। (महापुरुष ४१)

७७४—वियागरेज्जा समयासुपन्ने। (श्रमण-भिक्षु ३७)

७७५—विरए वहाओ। (अहिंसा १३)

७७६—विरत्ता उ न लग्गन्ति जहा से सुक्क गोलए।
(वैराग्य २४)

७७७—विरते सिणाणाइसु इत्थियासु। (शील १९)

७७८—विवत्ती अविणीअस्स, सपत्ती विणिअस्स अ।
(प्रकी. ६)

७७९—विवित्त वासो मुणिण पसत्थो। (श्रमण-भिक्षु २७)

७८०—विसएसण झिया यति, कंका वा कलु साहमा।
(काम ३१)

७८१—विसएसु मणुन्नेसु पेमं नाभि निवेसए। (शील १५)

७८२—विसन्ना विसयं गणाहिं, दुहओऽ विलोयं अणुसचरन्ति।
(काम ३०)

७६७—जिस आत्मा को ज्ञान, दर्शन, चारित्र मे शकाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, ऐसी आत्मा समाधि नही प्राप्त कर सकती है ।

७६८—जो धन में और स्त्रियो में गृद्ध हो जाता है, वह इस लोक और परलोक दोनो ओर से कर्म-मल को संचय करता है ।

७६९—प्रमादी धन से शरण-भूत रक्षा नहीं प्राप्त कर सकता है ।

७७०—यह धन, पशु और ज्ञाति जन मेरे शरण रूप रक्षक हैं, ऐसा बाल आत्मा (मूर्ख जन) मानता है ।

७७१—ये सब विध्वस धर्म वाले है, ऐसा जानता हुआ कौन भोग रूप घर में रहेगा ?

७७२—प्रमाद नही करना चाहिए ।

७७३—अपेक्षा वाली—स्याद्वाद वाली भाषा बोलनी चाहिए ।

७७४—तीव्र बुद्धि वाला समयानुसार व्याख्या करे ।

७७५—वध से—(हिंसा) विरक्त होवे ।

७७६—जैसे सूखे गोले पर कुछ चिपक नहीं सकता है, वैसे ही विरक्त आत्माएँ कर्म मल से संलग्न नहीं हुआ करती हैं ।

७७७—स्नान आदि शृंगारिक कार्यों से और स्त्रियो से विरक्त रहो ।

७७८—अविनीत के लिये विपत्तिया है और विनीत के लिये सपत्तियाँ है ।

७७९—मुनियो के लिए एकान्त वास ही प्रशसनीय है ।

७८०—जो विषयो का, भोगो का ध्यान किया करते है, वे कक पक्षी के समान पापी और अधम है ।

७८१—मनोज्ञ विषयो में मोह का अभिनिवेश मत करो । मोहग्रस्त मत होओ ।

७८२—विषयो में लीन आत्माएँ विषयो के कारण से दोनों ही लोक में विविध रीति से दु.खी होती हैं ।

७८३—विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं, समयं गोयम ! मा पमाए ।
(वैराग्य ३)

७८४—विहरेज्ज समाहि इंदिए, अत्त हियं खु दुहेण लब्भई ।
(योग २४)

७८५—वीरा असमत्तदंसिणो, असुद्धं तेसिं परक्कंतं ।
(अनिष्ट ३१)

७८६—वीरा सम्मत्तदंसिणो, सुद्धं तेसिं परक्कंतं । (दर्शन ६)

७८७—वीरे आगमेण सया परक्कमेज्जा । (उपदेश ५५)

७८८—बुज्झइ से अविणीअप्पा, कट्ठं सोअगयं जहा ।
(अनिष्ट ५)

७८९—वेएज्ज निज्जरापेही । (तप १२)

७९०—वेयावच्चेणं तित्थयर नामगोत्तं कम्मं निबन्धइ ।
(तप २१)

७९१—वेराणु गिद्धे णिचयं करेति । (कषाय ९)

७९२—वेराणुबद्धा नरयं उवेति । (अनिष्ट १६)

७९३—वेराणुबंधीणि महब्भयाणि । (कषाय ८)

७९४—वोच्छिंद सिणेहमप्पणो । (काम ३८)

७९५—वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे । (उपदेश ४९)

७९६—वंतं नो पडिआयइ जे स भिक्खू । (श्रमण-भिक्षु ४)

स

७९७—सउणी धसयई सियं रयं, एवं कम्मं खवइ तवस्सि माहणे ।
(महापुरुष ३२)

७९८—सएण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेइ । (बाल ३३)

७८३—हे गौतम ! यह तुम्हारा शरीर टूट जाने वाला है; विध्वस हो जाने वाला है, इसलिए समय मात्र का भी प्रमाद मत करो ।

७८४—(मुमुक्षु) समाधि मय इन्द्रियो वाला होता हुआ विचरे, क्योकि आत्म-हित निश्चय ही बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है ।

७८५—जो वीर होते हुए भी असम्यक्त्वदर्शी है, उनका पराक्रम अशुद्ध है ।

७८६—जो वीर है आर सम्यक्त्व दर्शी है, उन्ही का पराक्रम शुद्ध है ।

७८७—वीर आत्मा सदा आगम अनुसार ही पराक्रम करता रहे ।

७८८—जैसे समुद्र में (अथवा जल-स्रोत में) सूखा काठ चक्कर खाया करता है, वैसे ही अविनीत आत्मा भी ससार-समुद्र में डूब जाता है ।

७८९—निर्जरा का आकाक्षी सहनशील होवे ।

७९०—वैयावृत्य (सेवा-भाव) मे तीर्थकर नाम गोत्र कर्म का वध पड़ता है ।

७९१—वैर-भाव में अनुगृद्ध आत्मा कर्मों का समूह आकर्षित करता है ।

७९२—वैर-भावना मे वधे हुए नरक को प्राप्त करते है ।

७९३—वैर का अनुवध महान् भय वाला होता है ।

७९४—अपने मोह को विछिन्न कर दो ।

७९५—वमन किए को पुन भोगना चाहता है, इसकी अपेक्षा तो तुम्हारा मरना श्रेयस्कर होगा ।

७९६—त्यागे हुए को जो पुनः नही ग्रहण करता है, वही भिक्षु है ।

स

७९७—जैसे शकुनि पक्षी अपनी लगी हुई धूल को झाड देता है वैसे ही तपस्वी साधु भी कर्मों का क्षय कर देता है ।

७९८—स्वदुःख से ही मूढ़ विपरीत स्थिति को प्राप्त करता है ।

७९९—सक्के देवाहिवई, एवं हवइ बहुस्सुए । (ज्ञान १५)

८००—सक्ख खु दीसइ तवो विसेसो, न दीसई जाइ विसेस कोई । (तप २३)

८०१—स कम्म बीओ अवसो पयाइ, परं भवं सुदर पावगं वा । (कर्म १४)

८०२—सकम्मुणा विप्परियासुवेइ । (कर्म २५)

८०३—सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ । (सत्यादि ४)

८०४—सच्चा वि सा न वत्तव्वा जओ पावस्स आगमो । (सत्यादि २०)

८०५—सच्चे तत्थ करेज्जु वक्कम । (सत्यादि ९)

८०६—सच्चेसु वा अणवज्ज वयति । (सत्यादि १०)

८०७—सच्चमि धिइ कुव्वहा । (सत्यादि २)

८०८—सज्झायमि रओ सया । (ज्ञान १८)

८०९—सड्ढी आणाए मेहावी । (महापुरुप १)

८१०- सत्त भयट्ठाणा, इह लोग भए, पर लोग भए, आदाण भए, अकम्हा भए, वेयणा भए, मरण भए, असिलोग भए । (प्रकी ४५)

८११—सत्त विहे आउ भेदे, अज्झवसाण, निमित्ते, आहारे, वेयणा, पराघाए, फासे, आणापाणू । (प्रकी ४६)

८१२—सत्तविहे वयण विकप्पे, आलावे, अणालावे, उल्लावे, अणुल्लावे, सलावे, पलावे, विप्पलावे । (सत्यादि ४७)

८१३—सत्ता कामेसु माणवा । (काम १७)

८१४—सत्ता कामे हि माणवा । (बाल २७)

७९९—जैसे शक्र (इन्द्र) देवताओं का अधिपति होता है, वैसे ही बहुश्रुत विद्वान् भी (जनता में प्रमुख) होता है।

८००—प्रत्यक्ष रूप से तप की ही विशेषता निश्चयपूर्वक देखी जाती है, किसी भी जाति की विशेषता नही देखी जाती है।

८०१—कर्म बीज सहित होता हुआ और विवश अवस्था में पड़ा हुआ प्रत्येक आत्मा सुन्दर अथवा पापकारी परभव को जाता है।

८०२—(प्रत्येक आत्मा) कर्म के कारण से ही विपरीत स्थिति को प्राप्त होता है।

८०३—सत्य के पालन मे उपस्थित मेधावी ही कामदेव को जीतता है।

८०४—जिससे पाप का आगमन होता हो, तो सत्य होती हुई भी ऐसी वाणी नही बोलना चाहिये

८०५—सत्य हो, उसी मे पराक्रम बतलाओ।

८०६—(महापुरुष) सत्य युक्त निर्दोष वाणी को ही बोलते है।

८०७—सत्य मे ही बुद्धि का सयोजित करो।

८०८—सदैव स्वाध्याय मे ही रत रहो।

८०९—मेधावी आज्ञा-पालन मे ही श्रद्धाशील होता है।

८१०—सात भय स्थान कहे गये है —इस लोक का भय, परलोक का भय, चोरी का भय, अकस्मात् पैदा होनेवाला भय, वेदना भय, मृत्यु भय और अपकीर्ति का भय।

८११—सात प्रकार से आयु टूटती है —सकल्प विकल्प से; निमित्त कारण से, आहार से, वेदना से, पराघात से, स्पर्श से और श्वासोच्छ्वास से।

८१२—सात प्रकार के वचन विकल्प है —आलाप, अनालाप, उल्लाप, अनुल्लाप, सलाप, प्रलाप और विप्रलाप।

८१३—मानव समाज काम भोगो मे आसक्त है।

८१४—मनुष्य काम-भोगो मे निश्चय ही आसक्त है।

७९९—सक्के देवाहिवई, एव हवइ बहुस्सुए । (ज्ञान १५)

८००—सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो, न दीसई जाइ विसेस कोई । (तप २३)

८०१—स कम्म बीओ अवसो पयाइ, पर भवं सुदर पावगं वा । (कर्म १४)

८०२—सकम्मुणा विप्परियासुवेइ । (कर्म २५)

८०३—सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मार तरइ । (सत्यादि ४)

८०४—सच्चा वि सा न वत्तव्वा जओ पावस्स आगमो । (सत्यादि २०)

८०५—सच्चे तत्थ करेज्जु वक्कम । (सत्यादि ९)

८०६—सच्चेसु वा अणवज्ज वयति । (सत्यादि १०)

८०७—सच्चमि धिइ कुव्वहा । (सत्यादि २)

८०८—सज्झायमि रओ सया । (ज्ञान १८)

८०९—सड्ढी आणाए मेहावी । (महापुरुप १)

८१०- सत्त भयट्ठाणा, इह लोग भए, पर लोग भए, आदाण भए, अकम्हा भए, वेयणा भए, मरण भए, असिलोग भए । (प्रकी ४५)

८११—सत्त विहे आउ भेदे, अज्झवसाण, निमित्ते, आहारे, वेयणा, पराघाए, फासे, आणापाणू । (प्रकी ४६)

८१२—सत्तविहे वयण विकप्पे, आलावे, अणालावे, उल्लावे, अणुल्लावे, संलावे, पलावे, विप्पलावे । (सत्यादि ४७)

८१३—सत्ता कामेसु माणवा । (काम १७)

८१४—सत्ता कामे हि माणवा (बाल २७)

७९९—जैसे शक्र (इन्द्र) देवताओ का अधिपति होता है, वैसे ही बहुश्रुत विद्वान् भी (जनता में प्रमुख) होता है।

८००—प्रत्यक्ष रूप से तप की ही विशेषता निश्चयपूर्वक देखी जाती है, किसी भी जाति की विशेपता नही देखी जाती है।

८०१—कर्म बीज सहित होता हुआ और विवश अवस्था में पड़ा हुआ प्रत्येक आत्मा सुन्दर अथवा पापकारी परभव को जाता है।

८०२—(प्रत्येक आत्मा) कर्म के कारण से ही विपरीत स्थिति को प्राप्त होता है।

८०३—सत्य के पालन में उपस्थित मेधावी ही कामदेव को जीतता है।

८०४—जिससे पाप का आगमन होता हो, तो सत्य होती हुई भी ऐसी वाणी नही बोलना चाहिये

८०५—सत्य हो, उसी मे पराक्रम बतलाओ।

८०६—(महापुरुप) सत्य युक्त निर्दोप वाणी को ही बोलते है।

८०७—सत्य मे ही वुद्धि का सयोजित करो।

८०८—सदैव स्वाध्याय मे ही रत रहो।

८०९—मेघावी आज्ञा-पालन में ही श्रद्धाशील होता है।

८१०—सात भय स्थान कहे गये है :—इस लोक का भय, परलोक का भय, चोरी का भय, अकस्मात् पैदा होनेवाला भय, वेदना भय, मृत्यु भय और अपकीर्ति का भय।

८११—सात प्रकार से आयु टूटती है :—सकल्प विकल्प से, निमित्त कारण से, आहार से, वेदना मे, पराघात से, स्पर्श से और श्वासोच्छ्वास से।

८१२—सात प्रकार के वचन विकल्प है :—आलाप, अनालाप, उल्लाप, अनुल्लाप, सलाप, प्रलाप और विप्रलाप।

८१३—मानव समाज काम भोगो मे आसक्त है।

८१४—मनुष्य काम-भोगो मे निश्चय ही आसक्त है।

८१५—सत्थार भत्ती अणु वीइ वायं। (कर्त्तव्य २०)

८१६—सद्दहइ जिणभिहिय सो धम्म रुइ। (धर्म ३१)

८१७—सद्दहणा पुणरा वि दुल्लहा। (दुर्लभ ३)

८१८—सदा जए दते, निव्वाण सधए मुणी। (श्रमण-भिक्षु ३२)

८१९—सद्दाणु गासाणु गए य जीवे, चराचरे हिसइ ऽणेग रूवे। (भोग ४)

८२०—सद्देसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्व अकालिय पावइ से विणास। (योग १७)

८२१—सद्धा परम दुल्लहा। (दुर्लभ ४)

८२२—सन्ती सन्तिकरो लोए। (प्रा. म. ३)

८२३—सन्नाइह काम-मुच्छिया, म ह जति नरा असवुडा। (काम २५)

८२४—सप्पहास विवज्जए। (अनिष्ट १९)

८२५—सम्मग्ग तु जिणक्खाय, एस मग्गे हि उत्तमे। (प्रशस्त ११)

८२६—सम्म द्दिट्ठि सया अमूढे। (दर्शन ८)

८२७—समत्त दसी न करेइ पाव। (दर्शन १)

८२८—समता सव्वत्थ सुव्वते। (क्षमा ७)

८२९—समयाए समणो होइ, बम्भ चेरेण बम्भणो। (श्रमण-भिक्षु २४)

८३०—समया सव्व भूएसु, सत्तु मित्तेसु वा जगे। (उपदेश ७६)

८३१—समय गोयम! मा पमायए। (उपदेश २)

८३२—समय तत्थु वेहाए अप्पाण विप्पसायए। (कर्त्तव्य १०)

८१५—आचार्य की भक्ति विचारपूर्वक करणी में रही हुई है।

८१६—जिन वचनो में श्रद्धा करना, यही धर्म रुचि है।

८१७—पुन पुन श्रद्धा प्राप्त होना दुर्लभ है।

८१८—सदा जितेन्द्रिय और संयमशील होता हुआ मुनि निर्वाण की साधना करे।

८१९—शब्दो के विषय में आसक्त जीव अनेक प्रकार से त्रस स्थावर जीवो की हिंसा करता है।

८२०—जो शब्दो मे तीव्र गृद्धि भाव रखता है, वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है।

८२१—श्रद्धा परम दुर्लभ है।

८२२—शान्तिनाथ इस लोक में शान्ति करनेवाले है।

८२३—यहां पर काम-भाग में मूर्च्छित और आहार आदि सज्ञावाले पुरुष-आश्रव सहित होते हुए-मोह-को प्राप्त होते हैं।

८२४—हसीवाली (पाप क्रिया को) छोड दो।

८२५—जिन भगवान् का कहा हुआ मार्ग ही सच्चा मार्ग ह, और यही उत्तम मार्ग है।

८२६ सम्यक् दृष्टि सदैव अमूढ होता है।

८२७—सम्यक्त्वदर्शी पाप नही करता है।

८२८—सुव्रती सर्वत्र समता रक्खे।

८२९—समता से ही श्रमण होता है और ब्रह्मचर्य से ही ब्राह्मण होता है।

८३०—ससार मे शत्रु अथवा मित्र, सभी प्राणियो पर समता भाव रक्खो।

८३१—हे गौतम ! समय भर का भी प्रमाद मत करो।

८३२—(अवाछनीय पदार्थो के प्रति-) उपेक्षा के साथ समता धर्म के अनुसार अपनी आत्मा को प्रफुल्लित करो।

८१५—सत्थार भत्ती अणु वीइ वाय ।   (कर्त्तव्य २०)
८१६—सद्दहइ जिणभिहिय सो धम्म रुइ ।   (धर्म ३१)
८१७—सद्दहणा पुणरा वि दुल्लहा ।   (दुर्लभ ३)
८१८—सदा जए दते, निव्वाण सधए मुणी । (श्रमण-भिक्षु ३२)

८१९—सद्दाणु गासाणु गए य जीवे, चराचरे हिंसइ ऽणेग रूवे ।
(भोग ४)
८२०—सद्देसु जो गिद्धि मुवेइ तिव्व अकालिय पावइ से विणास ।
(योग १७)
८२१—सद्धा परम दुल्लहा ।   (दुर्लभ ४)
८२२—सन्ती सन्तिकरो लोए ।   (प्रा म ३)
८२३—सन्नाइह काम-मुच्छिया, म ह जति नरा असवुडा ।
(काम २५)
८२४—सप्पहास विवज्जए ।   (अनिष्ट १९)
८२५—सम्मग्ग तु जिणवखाय, एस मग्गे हि उत्तमे ।
(प्रशस्त ११)
८२६—सम्म द्दिट्ठि सया अमूढे ।   (दर्शन ८)
८२७—समत्त दसी न करेइ पाव ।   (दर्शन १)
८२८—समता सव्वत्थ सुव्वते ।   (क्षमा ७)
८२९—समयाए समणो होइ, वम्भ चेरेण वम्भणो ।
(श्रमण-भिक्षु २४)
८३०—समया सव्व भूएसु, सत्तु मित्तेसु वा जागे । (उपदेश ७६)

८३१—समय गोयम ! मा पमायए ।   (उपदेश २)
८३२—समय तत्थु वेहाए अप्पाणं विप्पसायए ।   (कर्त्तव्य १०)

८१५—आचार्य की भक्ति विचारपूर्वक वाणी में रही हुई है।

८१६—जिन वचनो में श्रद्धा करना, यही धर्म रुचि है।

८१७—पुन पुन श्रद्धा प्राप्त होना दुर्लभ है।

८१८—सदा जितेन्द्रिय और सयमशील होता हुआ मुनि निर्वाण की साधना करे।

८१९—शब्दो के विषय में आसक्त जीव अनेक प्रकार से त्रस स्थावर जीवों की हिंसा करता है।

८२०—जो शब्दो में तीव्र गृद्धि भाव रखता है, वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है।

८२१—श्रद्धा परम दुर्लभ है।

८२२—शान्तिनाथ इस लोक में शान्ति करनेवाले है।

८२३—यहा पर काम-भाग में मूर्च्छित और आहार आदि सज्ञावाले पुरुष आश्रव सहित होते हुए मोह को प्राप्त होते हैं।

८२४—हसीवाली (पाप क्रिया को) छोड दो।

८२५—जिन भगवान् का कहा हुआ मार्ग ही सच्चा मार्ग ह, और यही उत्तम मार्ग है।

८२६ -सम्यक् दृष्टि सदैव अमूढ होता है।

८२७—सम्यक्त्वदर्शी पाप नही करता है।

८२८—सुव्रती सर्वत्र समता रक्खे।

८२९—समता से ही श्रमण होता है और ब्रह्मचर्य से ही ब्राह्मण होना है।

८३०—ससार में शत्रु अथवा मित्र, सभी प्राणियो पर समता भाव रक्खो।

८३१—हे गौतम! समय भर का भी प्रमाद मत करो।

८३२—(अवाछनीय पदार्थो के प्रति-) उपेक्षा के साथ समता धर्म के अनुसार अपनी आत्मा को प्रफुल्लित करो।

८३३—समय सया चरे ।   (क्षमा ८)

८३४—सम सुह दुक्ख सहे अ जे स भिक्खू ।   (श्रमण-भिक्षु २)

८३५—समाहि कामे समणे तवस्सी ।   (तप १३)

८३६—समियं ति मन्न माणस्स समिया, वा असमियां वा समिआ होइ ।   (दर्शन ५)

८३७—समुप्पेह माणस्स इक्कायतण रयस्स, इह विप्पमुक्कस्स नत्थि मग्गे विरयस्स ।   (सद्गुण १९)

८३८—समो निन्दा पससासु तहा माणावमाणओ । (प्रशस्त १६)

८३९—सया सच्चेण सपन्ने मित्ति भूएहिं कप्पए । (सत्यादि २३)

८४०—सय सय पससन्ता, गरहता पर वयं, ससार ते विउस्सिया ।
(बाल ३८)

८४१—सरीर माहु नावत्ति जीवो वुच्चइ नाविओ ।
(योग १५)

८४२—सल्ल कामा विस कामा कामा आसी विसोवमा । (काम ७)

८४३—सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं ।   (प्रशस्त ५)

८४४—सव्वओ पमत्तस्स भय ।   (भोग १४)

८४५—सव्वओ संवुडे दते, आयाण सु समाहरे ।   (तप ८)

८४६—सव्वत्थ विणीय मच्छरे ।   (कर्त्तव्य १७)

८४७—सव्वत्थ विरतिं कुज्जा ।   (सद्गुण, १७)

८४८—सव्वत्थ विरतिं कुज्जा ।   (उपदेश ७४)

८३३—सदैव समता का आचरण करो ।

८३४—जो सुख दुःख सहने मे समभाव रखता है, वही भिक्षु है ।

८३५—जो श्रमण समाधि की कामना करता है, वही तपस्वी है ।

८३६—सम्यक् दृष्टि आत्मा के लिये सत्य और असत्य सभी सत्य रूप से ही परिणित हो जाया करता है ।

८३७—विवेकपूर्वक देखने वाले के लिये, ज्ञान आदि गुणो मे प्रवृत्ति करने वाले के लिये, आश्रव रहित के लिये, और व्रतधारी के लिये, (संसार में घूमने का और अधिक) मार्ग नही रह जाता है ।

८३८—निन्दा और प्रशसा मे तथा मान और अपमान में समभाव वाला होओ ।

८३९—सदा सत्य से सपन्न होते हुए प्राणियो के साथ मैत्री भाव रक्खो ।

८४०—अपनी अपनी ही प्रशसा करनेवाले और दूसरे के वचनो की निन्दा करनेवाले, ऐसे वे मूर्ख ससार मे डूबे हुए ही रहते है । वे मिथ्या पक्षपाती ही है ।

८४१—शरीर तो नाव कही गई है और जीव "नाविक" कहा गया है ।

८४२—ये काम-भोग शल्य के समान है, विष के समान है और विष वाले सर्प के समान है ।

८४३—जो सभी प्रकार से अप्रमत्त है, उसके लिये भय नहीं है ।

८४४—प्रमादी के लिये सभी ओर से भय है ।

८४५—सभी तरह से सव्रतशील होता हुआ, सयमी आदान समिति का भलीभाति आचरण करे ।

८४६—सर्वत्र ईर्षा-मत्सर भाव को हटा दो ।

८४७—सर्वत्र विरति करो ।

८४८—सब जगह विरति (सवर-निर्जरा) का आचरण करो ।

८४९—सव्व धम्माणु वत्तिणो देवेसु उववज्जई ।
(महापुरुष ३८)

८५०—सव्व मणागय मद्धं चिट्ठति सुहं पत्ता । (मोक्ष ७)

८५१—सव्व लोयंसि जे कामा त विज्ज परिजाणिया ।
(काम ३२)

८५२—सव्व संग विनिम्मुक्को सिद्धे भवइ नीरए । (मोक्ष ५)

८५३—सव्व संगावगए अ जे स भिक्खू । (श्रमण १०)

८५४—सव्वारम्भ परिच्चागो निम्ममत्त । (अपरिग्रह १)

८५५—सव्विंदियाभि निव्वुडे पयासु । (शील २२)

८५६—सव्वे अणट्ठे परिवज्जयते, अणाउले या अकसाइ भिक्खू ।
(श्रमण-भिक्षु १२)

८५७—सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ।
(उपदेश ५१)

८५८—सव्वे पाणा पियाउया । (अहिंसा ६)

८५९—सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया, उवमा न विज्जए । (मोक्ष २)

८६०—सव्वेसिं जीविय पिय । (अहिंसा ७)

८६१—सव्वेसु काम जाएसु पासमाणो न लिप्पई ताई ।
(महापुरुष २५)

८६२—सव्वेहिं भूएहिं दयाणु कंपी, खतिक्खमे संजय बंभयारी
(अहिंसा १७)

८६३—सव्वं अप्पे जिए जिय । (आत्म १०)

८४९—विविध धर्म-मार्ग का अनुसरण करनेवाला देवताओं में उत्पन्न होता है।

८५०—(मुक्त आत्माएँ) सभी सुख प्राप्त करती हुई अनागत मार्ग में (शाश्वत् स्थान मे) स्थित हो जाती है।

८५१—सम्पूर्ण ससार मे जो काम-भोग है, उनको पडित पुरुष भली-भाति समझे।

८५२—सभी प्रकार के सग से विनिर्मुक्त होती हुई सिद्ध आत्मा रज रहित (सर्वथा कर्म रहित) हो जाती है।

८५३—जो सभी प्रकार की सगति से दूर है, वही भिक्षु है।

८५४—सभी प्रकार के आरम्भ का परित्याग करना ही निर्ममत्व है।

८५५—स्त्रियो से सभी इन्द्रियो द्वारा अभिनिवृत्त (दूर ही) रहना चाहिये।

८५६—सभी अनर्थों को छोडता हुआ, आकुलता रहित होता हुआ भिक्षु कषाय रहित होवे।

८५७—सभी आभूषण भार रूप है और सभी काम-भोग दुःख का लानेवाले है।

८५८—सभी प्राणियो को अपनी आयु (जीवन) प्रिय है।

८५९—(मोक्ष-वर्णन में) सभी स्वर (शब्द) शक्ति हीन हो जाते है, तर्क वहाँ प्रवेश नही कर सकता है, बुद्धि वहाँ अग्राहिका हो जाती है और कोई उपमा भी उसके लिये विद्यमान नही है।

८६०—सभी प्राणियो को अपना जीवन प्यारा है।

८६१—मोक्ष मे जाने की इच्छावाला सभी काम-विषयो को देखता हुआ उनमें लिप्त नही होता है।

८६२—सभी भूतो के साथ (जीवो के साथ) दया वाला और अनुकम्पा वाला होता हुआ सयमी ब्रह्मचारी और क्षमाशील होवे।

८६३—आत्मा को जीत लेने पर सब कुछ जीता हुआ ही है। (सब पर विजय प्राप्त की जा चुकी है।

८६४—सव्व जग तू समयाणुपेहो । (उपदेश ८)

८६५—सव्व पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय त्त । (लाभ १६)

८६६— सव्व विलवियं गीय, सव्व नट्ट विडम्बियं ।
(वाल ३२)

८६७—सव्व सुचिण्ण सफल नराण । (कर्त्तव्य २)

८६८—सातागार वणिहुए, उवसते णिहे चरे । (उपदेश ८८)

८६९—सादिय ण मुस बूया, एस धम्मे वुसीमओ ।
(सत्यादि २४)

८७०—सामण्णं दुच्चर । (श्रमण-भिक्षु ४२)

८७१—सामाइएणं सावज्ज जोग विरइ जणयइ । (तप १६)

८७२—सामाइय माहु तस्स ज, जो अप्पाण भए ण दसए ।
(चारित्र ६)

८७३—सारीर माणसा चेव, वेयणा उ अणतसो । (संसार ६)

८७४—सावज्ज जोग परिवज्जयतो, चरिज्ज भिक्खू सुसमाहि इदिए । (योग १४)

८७५—सावज्ज न लवे मुणी । (सत्यादि ३३)

८७६—सासय मव्वा वाह चिट्ठति सुही सुह पत्ता ।
(मोक्ष १३)

८७७—सासय परिणिव्वुए । (प्रशस्त २०)

८७८—सिक्ख सिक्खेज्ज पडिए । (सद्गुण १६)

८६४—(हे आत्मज्ञ !) सम्पूर्ण संसार के प्रति तू समतापूर्वक देखने वाला हो।

८६५—सभी (कौटुम्बिक प्राणी) तुम्हारी रक्षा करने के लिए अपर्याप्त है—असमर्थ है, और तुम भी उनकी रक्षा करने के लिये समर्थ नही हो।

८६६—सभी प्रकार के गायन विलाप स्वरू सभी प्रकार के नृत्य-खेल विडम्बना रूप है।

८६७—सभी सुकृत्य मनुष्यो के लिये (अच्छा) फल लाने वाले होते हैं।

८६८—सुख शीलता युक्त होता हुआ, क्रोध नही करता हुआ एवं माया प्रपंच रहित होता हुआ विचरे।

८६९—झूठ (से शुरु होने) वाला वाक्य नही बोले, यही जितेन्द्रिय वालो का धर्म है।

८७०—श्रमण–धर्म का आचरण करना अति कठिन है।

८७१—सामायिक से सावद्य-योग की विरति होती है।

८७२—जो (महात्मा) अपनी आत्मा के लिये किसी भी प्रकार का भय नहीं देखता है, यही उसके लिये सामायिक कही गई है।

८७३—(इस ससार में) शरीर सम्बन्धी और मन सम्बन्धी अनन्त प्रकार की वेदनाएं है।

८७४—सावद्य-योग का परित्याग करता हुआ और इन्द्रियों पर सुसमाधि वाला होता हुआ भिक्षु विचरे।

८७५—मुनि सावद्य (पापकारी) नही बोले।

८७६—(मुक्त जीव) शाश्वत् अव्याबाध सुख को प्राप्त करके सुखी रूप से स्थित है।

८७७—(हे उच्च पुरुषो !) शाश्वत् रूप से परिनिवृत्त होओ।

८७८—पडित पुरुष व्याकरण आदि विद्या का अध्ययन करें।

८७९—सिद्धाणं सोक्ख अव्वा वाहं । (मोक्ष १२)

८८०—सिद्धो हवइ सासओ । (मोक्ष ६)
८८१—सीयति अबुहा । (वाल १८)
८८२—सीयन्ति एगे बहु कायरा नरा । (बाल ३६)
८८३—सोहे मियाण पवरे, एव हवइ बहुस्सुए । (ज्ञान १४)

८८४—सुअ लाभे न मज्जिज्जा । (कषाय २०)
८८५—सुई धम्मस्स दुल्लहा । (दुर्लभ २)
८८६—सुत्ता अमुणी, सया मुणिणो जागरति । (सात्विक १५)
८८७—सुदुल्लहं लहिउ वोहि लाभ, विहरेज्ज । (दुर्लभ १६

८८८—सुद्धेण उवेति मोक्ख । (मोक्ष ३)
८८९—सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा । (श्रमण-भिक्षु-३६)

८९०—सुपरिच्चाई दम चरे । (कर्त्तव्य १९)
८९१—सुवभचेर वसेज्जा । (शील ६)
८९२—सुय महिट्ठिज्जा उत्तमट्ठ गवेसए । (ज्ञान १७)

८९३—सुयस्स आराहणयाए अन्नाण खवेइ, न य सकिलिस्सइ ।
(उपदेश ८०)
८९४—सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो, खवित्तु कम्म गइ मुत्तम गया । (ज्ञान १९)
८९५—सुव्वते समिते चरे । (महापुरुष ३५)
८९६—सुविणी अप्पा दीसति सुह मेहंता । (सात्विक ४)

८७९—सिद्ध आत्माओ का सुख अव्याबाध (निरन्तर बाधा रहित) होता है।

८८०—सिद्ध प्रभु शाश्वत् (नित्य, अक्षय) होते हैं।

८८१—अज्ञानी, मूर्ख दु खी होते हैं।

८८२—अनेकानेक मनुष्य कायर होते हुए दु.खी होते हैं।

८८३—जैसे सिंह मृगो में श्रेष्ठ होता है वैसे ही बहुश्रुत व्यक्ति (जनता में श्रेष्ठ) होता है।

८८४—(आत्म-हितैषी) ज्ञान प्राप्त हो जाने पर अहकार नही करे।

८८५—धर्म सुनने का प्रसग मिलना दुर्लभ है।

८८६—अमुनि सोये हुए हैं और मुनि सदैव जागृत हैं।

८८७—(सेवा व्रती)सुदुर्लभ बोधि लाभ की प्राप्ति के लिये (सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के लिये) विचरे। (ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न करे)।

८८८—शुद्ध आत्मा (कर्म रहित आत्मा) मोक्ष को प्राप्त करती है।

८८९—परोपकारी अच्छी तरह से शुद्ध होता हुआ समय व्यतीत करे और दूषित नही होवे।

८९०—सुपरित्यागी इन्द्रिय-दमन रूप धर्म का आचरण करे।

८९१—सुब्रह्मचर्य रूप धर्म में (ब्रह्मचारी) रहे। (ब्रह्मचर्य का पालन करे)

८९२—श्रुत-शास्त्र का अध्ययन करके (ज्ञान में सुस्थित हो करके) उत्तम अर्थ की (मोक्ष की) गवेषणा करे; (अनंतता की) खोज करे।

८९३—जो श्रुत-ज्ञान की आराधना से अज्ञान का नाश करता है, वह सक्लेश नही प्राप्त करेगा।

८९४—विपुल श्रुत ज्ञान से पूर्ण, स्वपर रक्षक महात्मा कर्म को क्षय करके उत्तम गति को प्राप्त हुए है।

८९५—सुव्रती समितियो का परिपालन करता हुआ विचरे।

८९६—सुविनीत आत्मा सुख प्राप्त करती हुई देखी जाती है।

८९७--सुस्सूसए आयरि अप्पमत्तो । (कर्त्तव्य ९)

८९८—सुहावहं धम्म धुर अणुत्तरं धारेह निव्वाण गुणावहं महं । (धर्म २७)

८९९—सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, विउमता पयहिज्ज संथव । (कषाय २९)

९००—सूरा दृढ परक्कमा। (महापुरुष १४)

९०१—सेणे जह वट्टयं हरे, एव आउखयमि तुट्टई। (उपदेश ५८)

९०२—से य खु मेयं ण पमाय कुज्जा । (प्रशस्त ९)

९०३—से सोयई मच्चु मुहोवणीए धम्म अकाऊण परमि लोए । (धर्म १९)

९०४—से हु चक्खू मणुस्साण, जे कंखाए य अतए। (महापुरुष ७)

९०५—सोय परिण्णाय चरिज्ज दते । (उपदेश, ८५)

९०६—सकट्ठाण विवज्जए । (उपदेश २७)

९०७—सगाम सीसे व पर दमेज्जा । (सद्गुण, १०)

९०८—सघ नगर ! भद्द, ते ! अखड चारित्त पागारा । (प्रा म, १८)

९०९—संघ पउमस्स भद्दं, समण गण सहस्स पत्तस्स । (प्रशस्त, २५)

९१०—सजम-तव-तुंबा रयस्स, नमो सम्मत्त पारियल्लस्स । (प्रा; मं, १९)

८९७—(शिष्य) अप्रमादी होता हुआ आचार्य की सेवा-भक्ति करे।

८९८—जो सुख का लानवाली है, अनुत्तर-श्रेष्ठ है और निर्वाण के गुणो को देनेवाली है, ऐसी महान् धर्म-धुरा को धारण करो।

८९९—विद्वान् "अति परिचय" को सूक्ष्म शल्य रूप और कठिनाई से दूर करने योग्य समझ कर उसे छोड दे, सम्बन्ध-विच्छेद कर ले।

९००—शरवीर दृढ पराक्रमशील होते है।

९०१—जैसे श्येन पक्षी (बाज पक्षी) बटेर को पकड लेता है, वैसे ही आयुष्य का क्षय होते ही यह जीवन टूट जाता है।

९०२—यह मेरे लिये निश्चय ही कल्याण कारी है, ऐसा समझ कर प्रमाद याने असत् आचरण नही करे।

९०३—जा विना धर्म किये ही मृत्यु के मुख मे चला गया है, वह पर-लाक में दुःखा होता है।

९०४—वहा मनुष्यो के लिये चक्षु रूप है, ज्ञान रूप है, जो कि अभिलाषाओ का (इच्छाओ का) अत करने वाला है।

९०५—सयमी निरवद्य आचार का ज्ञान करके तदनुसार आचरण करे।

९०६—शका के स्थान को छोड़ दो।

९०७—जैसे सग्राम के अग्र भाग पर शत्रु का दमन किया जाता है, वैसे ही इन्द्रियों के विषयो का भी दमन करो।

९०८—अखड चारित्र रूप प्राकार (कोट, गढ) वाले हे श्री सघ रूप नगर ! तुम्हारा कल्याण हो ! मंगल हो !!

९०९—जिसके साधु साध्वी रूप हजारो पत्र है, ऐसे श्री सघ रूप कमल का भद्र हो, कल्याण हो, जय विजय हो।

९१०—सयम और तप ही जिसके मध्य भाग के गोल अवयव है, ऐसे सम्यक्त्व रूप चक्र वाले श्री. संघ को नमस्कार हो।

९११—संजया सुसमाहिया। (महापुरुष १६)

९१२—सतप्पती असाहु कम्मा। (अनिष्ट, १)

९१३—सतोष पाहन्न रए स पुज्जो। (महापुरुष १०)

९१४—संतो सिणो नोप करेंति पाव (लाभ, १२)

९१५—सवोही खलु दुल्लहा। (दुर्लभ ६)

९१६—समिस्स भावं पयहे पयासु। (शाल १४)

९१७—सवेगेण अणुत्तरं धम्म सद्ध जणयइ। (वैराग्य, २२)

९१८—ससरइ सुहा सहेहिं कम्मेहिं। (कर्म १०)

९१९—संसारो अण्णवो वुत्तो। (ससार ५)

ह

९२०—हम्ममाणो ण कुप्पेज्ज, वुच्चमाणो न संजले।
(उपदेश ९)

९२१—हसतो नाभिगच्छेज्जा। (उपदेश ६७)

९२२—हिंडति भयाउला सढा, जाइ जरा मरणेहिं अभिदुता।
(वाल १५)

९२३—हिरिम पडि सलीणे सुविणीए। (महापुरुष, २०)

९२४—हिंसगं न मुसं वूआ। (सत्यादि ४३)

९२५—हिंसन्नियं वा ण कह करेज्जा। (हिंसा ४)

९११—सयमी सुसमाधि वाले होते हैं ।

९१२—असाधुकर्मी (दुष्ट काम करने वाला) महान् ताप भोगता है ।

९१३—जो सर्वोच्च सतोष से अनुरक्त है, वही पूजनीय है ।

९१४—सतोषी महापुरुष पाप नहीं करते हैं ।

९१५—सबोधि याने सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दृष्टि निश्चय ही दुर्लभ है ।

९१६—स्त्रियो के प्रति समिश्र भाव को (चल विचल भावो को) छोड दो ।

९१७—सवेग भावना से— (वैराग्य भावना से) श्रेष्ठ धर्म रूप श्रद्धा उत्पन्न होती है ।

९१८—शुभ कामो से साता रूप सुख-शाति प्रवाहित होती है ।

९१९—ससार (एक प्रकार का) समुद्र कहा गया है ।

ह

९२०— (कर्त्तव्य शील पुरुष) मारा जाता हुआ भी क्रोध नही करे, तथा गाली आदि का उच्चारण किया जाता हुआ भी द्वेष नही लावे ।

९२१—हसता हुआ नहा चले ।

९२२—शठ पुरुष जन्म, जरा और मृत्यु से पीड़ित हाते हुए, एव भय से व्याकुल होते हुए संसार समुद्र में चक्कर लगाया करते है ।

९२३—लज्जा वाला और एकान्त वासी जितेन्द्रिय पुरुष "सु विनीत" होता है ।

९२४—हिंसा पैदा करने वाला झूठ मत बोलो ।

९२५— (आत्म हितैषी) हिंसा को पैदा करने वाला कथा करे नहीं ।

★

परिशिष्ट संख्या २

पारिभाषिक-शब्द

सूची

—**00** —

जिन शब्दों की परिभाषा और व्याख्या "अकार आदि क्रम" से आगे दी है; उन शब्दों की अकार आदि क्रम से

सूची

—*०*—

शब्द		पृष्ठ सख्या

नोट—कुल शब्द सख्या २४६ है

परिशिष्ट संख्या २

टीका में आये हुए पारिभाषिक और आवश्यक शब्दों की अकार आदि क्रम से व्याख्या, टिप्पणी और अर्थ ।

अ

१—अकाम निर्जरा

(१) निष्काम या अनियाणा वाली निर्जरा। अर्थात् किसी भी प्रकार के फल अथवा बदले की भावना और इच्छा नही रखते हुए एकान्त आत्म हित के लिये की जाने वाली तपस्या और सेवा कार्य आदि।

(२) अनिच्छा पूर्वक सहा जाने वाला कष्ट भी जैन दर्शन में "अकाम-निर्जरा" कहलाता है।

२—अणगार

साधु अथवा महापुरुष, जो किसी भी प्रकार का परिग्रह नही रखता हो एव अहिंसा, सत्य, अचार्य, ब्रह्मचर्य और निष्परिग्रह आदि व्रतो का मन, वचन और काया से परिपूर्ण रीति से पालन करन वाला हो।

३—अतिचार

ऐसी सामग्री इकट्ठी करना अथवा ऐसा परिस्थिति पैदा करना, जिससे कि लिये हुए व्रत मे आर ग्रहण किये हुए त्याग में दाप पैदा होने की सभा-वना हो, अथवा अश रूप से दोप पैदा हो गया हो।

४—अधर्मास्ति काय

जिन छ द्रव्यो से यह सपूण ब्रह्माड अथवा लोकाकाश बना है, उनमें से एक द्रव्य। यह द्रव्य जावा का आर पुद्गलो को "उनकी ठहरने की स्थिति" में ठहरने के लिये मदद करता है।

५—अनार्य

मनुष्यो की ऐसी जाति, जिनमें मद्य, मास, शिकार आदि व्यसनो की भरमार हो और जो दया, सत्य आदि में धर्म नही मानते हो।

६—अनासक्ति

नीति और कर्त्तव्य की ओर पूरा पूरा ध्यान देते हुए जीवन में कुटुम्ब, परिग्रह, यश, सन्मान और अपने कार्य में जरा भी माह ममता नही रखना तथा किसी भी प्रकार से प्रतिफल की भावना नही रखना।

७—अनुकंपा

सताये जाते हुए और मारे जाते हुए, पीडित प्राणी के प्रति दया लाना।

८—अनुभाव

प्रत्येक जीव में होने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ के कारण जीव के साथ बधने वाले कर्मो में फल देने की जो शक्ति पैदा होती है, वह अनुभाव है।

९—अनुभूति

परिस्थितियो से और काल-क्रम से पैदा होने वाला ज्ञान। पाचो इन्द्रियों और मन से उत्पन्न होने वाला अनुभव रूप ज्ञान।

१०—अनुमान

कारणो को देखकर अथवा जानकर उनके आधार से मूल कार्यों का ज्ञान कर लेना। जैसे धुंऐ द्वारा दूर से ही आग का होना जान लेना।

११—अनत

जिसकी कोई सीमा नही हो, अथवा जिसका तीनो काल में भी अन्त नही आवे। अनन्त के तीन भेद है — १ जघन्य अनन्त, २ मध्यम अनन्त और ३ उत्कृष्ट अनन्त।

१२—अप्रतिपाति दर्शन

ईश्वर, आत्मा, पाप, पुण्य आदि धार्मिक सिद्धान्तो के प्रति पूर्ण विश्वास रखना "दर्शन" है, और ऐसा दर्शन प्राप्त होकर फिर कभी भी नष्ट न हो, मोक्ष के पाने तक बराबर बना रहे, वह अप्रतिपाति दर्शन है।

१३—अविनाभाव सबध

दो पदार्थों का अन्योन्याश्रय-सबध, पारस्परिक सबध, अर्थात् एक के होने पर दूसरे का होना, दूसरे के नही होने पर पहले का भी नही होना। अग्नि और धुंए का "अविनाभाव सबध" कहलाता है।

१४—अभक्ष्य

ऐसे पदार्थ जो अहिंसा प्रेमी के खाने पीने के योग्य नही होते है, वे अभक्ष्य है।

१५—अमूढ

जो आत्मा विवेक और ज्ञान के बल पर अपनी इन्द्रियों और मन को विषय, विकार से हटा लेता है और निष्कपट रीति से जीवन के व्यवहार को चलाता है, वह "अमूढ" कहलाता है।

१६—अमूर्त्त

जिन द्रव्यो में रूप, रस, गध, स्पर्श, नही पाया जाता है।

१७—अरति

क्रोध, मान, माया, लोभ और ईर्षा द्वेष के कारण से किसी पर भी घृणा, धिक्कार, बेपर्वाही, अरुचि आदि के भाव होना "अरति" है।

१८—अरिहत

जिनकी आत्मा पूर्ण विकास कर चुकी है, जो अखड और परिपूर्ण ज्ञान को प्राप्तकर चुके हैं, जो ईश्वर रूप हो चुके हैं, ऐसे असाधारण महात्मा "अरि-हत' हैं। जैन-परिभाषा के अनुसार जिन्होने चार कर्मों का सर्वथा जड़ मूल से नाश कर दिया है, वे "अरिहत" हैं।

१९—अरूपी

जो वर्ण से, गध से, रस से और स्पर्श से रहित है।

२०—अलोक

सम्पूर्ण ब्रह्मांड का वह अनन्त और असीम-शून्य स्थान, जहाँ कि जीव, पुद्गल आदि कोई द्रव्य नही है। इसे अलोकाकाश भी कहते हैं।

२१—अवधिज्ञान

ज्ञान का वह रूप है, जो कि आत्मा की शक्ति के आधार से ही इन्द्रियो और मन की सहायता नही लेते हुए भी कुछ मर्यादा के साथ तीनों काल के रूपी पुद्गलो को जान सके-समझ सके।

२२—अव्रत

किसी भा कार का त्याग, प्रत्याख्यान अथवा मर्यादा नही करना।

२३—अविवेकी

समय, स्थान और परिस्थिति एव मर्यादा का ध्यान नही रखते हुए बेपर्वाही के साथ कार्य करनेवाला ।

२४—अशुभ-योग

मन को बुरे विचारो में लगाना, भाषा को कषाय वाला रूप देना, और शरीर को आलस्य, प्रमाद और व्यर्थ के कामो में तथा क्लेशकारी कामो में लगाना । मन-योग, वचन-योग और काया-योग इस प्रकार इसके तीन भेद हैं ।

२५—असयमी

जिसका अपनी इन्द्रियों और मन पर काबू नही हो और जिसका जीवन-व्यवहार किसी भी प्रकार की नैतिक मर्यादा से बधा हुआ नही हो; ऐसा प्राणी "असंयमी" है ।

२६—असविभागी

दूसरो के सुख-दुख का और हित अहित का ख्याल नही रखनेवाला ! एकान्त स्वार्थी ।

आ

१ आकाश—

जीवो को, पुद्गलो का, पदार्थों को ठहरने के लिये स्थान देने वाला द्रव्य । मूल में यह शून्य रूप है, निराकार है और केवल शक्ति स्वरूप है । अखिल ब्रह्माड व्यापी है, सपूर्ण लोक अलोक में फैला हुआ है ।

२—आगम

अरिहतो के प्रवचन को, गणधरो के ग्रथो का और पूर्वधर आचार्यों के साहित्य का आगम कहा जाता है । मोटे रूप में शास्त्रो को, सूत्रो को आगम कहा जाता है ।

३—आचार्य

साधु-साध्वियो को सुनिश्चित परम्परा के अनुसार संचालन करने वाले नेता,अथवा विशेष शास्त्रो के महान् ज्ञाता, असाधारण उद्भट विद्वान् पुरुष ।

४—आत्मा

चेतना वाला द्रव्य, अथवा जीव । ज्ञान-शील पदार्थ ही आत्मा है ।

५—आत्यतिक

"अत्यत" का ही विशेपण रूप "आत्यतिक" है । अर्थात् अत्यत-वाला ।

६—आध्यात्मिक

"आत्मा" से सवध रखने वाले सिद्धान्तो और वातो का एक पर्याय वाचा विशेषण ।

७—आर्त्त-ध्यान

शोक करना, चिन्ता करना, भय करना, रोना, चिल्लाना, सासारिक सुख और धन–वैभव का ही चिन्तन करते रहना ।

८—आरभ

सांसारिक–सुख-सुविधा वढाने के लिये, वैभव का सामग्री इकट्ठी करने के लिये विविध प्रकार का प्रयत्न करना । अथवा ऐसे काम करना, जिनसे जीवो की हिंसा की सम्भावना हो ।

९—आर्य

मनुष्यो में ऐसी श्रेष्ठ जाति; जो कि दया, दान, पुण्य, पाप, आत्मा, ईश्वर आदि धार्मिक सिद्धान्तो मे पूरी तरह से श्रद्धा रखते हुए मद्य, माम, जुआ. शिकार आदि व्यसनो से और अभक्ष्य पदार्थो से परहेज करती हो । सात्विक और नैतिक प्रवृत्ति वाली मनुष्य–जाति ।

१०—आराधना

शास्त्रों के वचनो के अनुसार चलना, वैसा ही व्यवहार जीवन में रखना ।

११—आलोचना

ग्रहण किये हुए व्रतों में दोष लग जाने पर, भूल भरी बातें हो जाने पर, व्रत के विरुद्ध आचरण हो जाने पर गुरु के समक्ष अथवा आदरणीय बन्धु के समक्ष ईश्वर की साक्षी से दोषों का, भूलो का, विरोधी-आचरण का स्पष्ट रीति से बयान करना और क्षमा मागना।

१२—आश्रव

मन, वचन और काया की प्रवृत्ति से "कर्म" नाम से बोले जाने वाले सूक्ष्म से सूक्ष्म पुद्गल-वर्गणाओ का आत्मा के साथ दूध पानी की तरह सवित होने के लिये आत्म-प्रदेशों की ओर आना आश्रव है। शुभ-प्रवृत्ति से शुभ-आश्रव होता है और अशुभ-प्रवृत्ति से अशुभ-आश्रव होता है।

१३—आसक्ति

मोह को, ममता को, गृद्धि-भाव को आसक्ति कहते हैं। किसी पदार्थ के प्रति मूर्च्छित होना, अपने अच्छे कामो का फल चाहना।

१४—आस्तिकता

पाप, पुण्य, पुनर्जन्म, आत्मा, ईश्वर, दया, दान, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि सिद्धान्तो में और धार्मिक क्रियाओ में पूरा पूरा विश्वास रखना।

१५—आसातना

अविनय करना, अनादर करना; उपेक्षा करना।

इ

१—इच्छा

इन्द्रियो और मन की अतृप्त भावना। तृष्णा मय आकांक्षा। विषय और विकार के प्रति रुचि होना।

२—इन्द्रिय

आँख, कान, नाक, मुह और शरीर-इन पाचो का सम्मिलित नाम इन्द्रिय है।

उ

१—उपभोग

ऐसे पदार्थ जो एक से अधिक बार भोगे जा सकें, जैसे कि वस्त्र, मकान आभूषण, आदि।

२—उपयोग

"ज्ञान और दर्शन" का सम्मिलित अर्थ। जानने, अनुभव करने, सोचने समझने की शक्ति। आत्मा का मूल लक्षण उपयोग ही है।

३—उपसर्ग

ग्रहण किये हुए व्रतों के परिपालन के समय में आने वाले हर प्रकार के कष्ट; ये कष्ट चाहे प्राकृतिक हो अथवा देव-मनुष्य कृत हों अथवा पशु कृत हो।

४—उपाधि

(१) कष्ट, क्लेश, अथवा परिग्रह रूप संग्रह (२) पदवी, खिताब।

ऋ

१—ऋषि

ऐसे संत ज्ञानी महात्मा, जो कि अपने ज्ञान बल से और चारित्र बल से भविष्य का ठीक ठीक अनुमान कर सके और दार्शनिक गहन सिद्धान्तों का सही रूप से अनुभव कर सके।

क

१—क्रोध

चार कषाय में से पहला कषाय, इसके कारण से आत्मा विवेक शून्य होकर बेभान हो जाता है। बोलने में और व्यवहार में पूरा पूरा अज्ञान छा जाता है। अपना भान भूलकर अविवेक के साथ क्लेशकारी तथा कटु वचन बोलना ही क्रोध है।

२—कर्म

क्रोध, मान, माया और लोभ के कारण आत्मा के प्रदेशो पर जा एक प्रकार का सूक्ष्म से सूक्ष्म-परमाणुओ का पटल दूध पानी की तरह छा जाता है और आत्मा को मलिन सस्कारो से आबद्ध कर देता है, ऐसे पुद्गलो से बने हुए वर्गणाओ का समूह।

३—कर्म-योगी

ज्ञानी और भक्त होने पर भी जो निरन्तर बिना किसी भी प्रकार के फल की इच्छा किये अपने कर्त्तव्य मार्ग पर आरूढ रहे तथा जीवन को कर्मण्यता मय ही बनाया रक्खे, ऐसा पुरुष।

४—कषाय

क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्षा, द्वेष आदि की भावनाऐं कषाय है।
कषाय के १६ भेद हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान माया, लोभ

अप्रत्याख्यानावरण	”	”	”	”
प्रत्याख्यानावरण	”	”	”	”
संज्वलन	”	”	”	”

५—कामना

इच्छा, आकाक्षा, सासारिक भावना।

६—काम-भोग

स्त्री-पुरुष सबंधी मैथुन-भावनाऐं। ब्रह्मचर्य को तोडने सबंधी इच्छाऐं।

७—कायोत्सर्ग

मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को रोक कर चित्त की वृत्ति को किसी एक पर ही केन्द्रित करना, चित्त की वृत्ति को सुस्थिर करना।

८—काय-गुप्ति

शरीर के कामो को और प्रवृत्तियो को अशुभ मार्ग से हटा कर शुभ-मार्ग में लगाना, एव प्राणीमात्र के हित मे शारीरिक-शक्तियो को जोड़ना।

९—कार्य–कारण संबंध

एक की उत्पत्ति मे अथवा संपादन मे दूसरे का मुख्य रूप से सहायक होना, परस्पर मे जन्य-जनक संबंध होना। उत्पन्न-उत्पादक संबंध होना, जैसे आटा और रोटी।

१०—काल

समय, छः द्रव्यो मे से एक द्रव्य, द्रव्यो की पर्यायो के परिवर्तन मे जो सहायक है। दिन, मास, वर्ष, पल्योपम, सागरोपम, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी आदि इसके ही भेद है। जैनाचार्यों ने "काल" को एक प्रदेशी ही माना है।

११—कूट शाल्मली वृक्ष

एक प्रकार का वृक्ष, जो कि हर प्रकार से कष्ट दायक होता है। इसकी उत्पत्ति नरक-स्थान मे मानी जाती है।

१२—केवल ज्ञान

परिपूर्ण और अखंड ज्ञान। इस ज्ञान की प्राप्ति के बाद आत्मा "अरिहंत" अवस्था प्राप्त कर लेता है। इस ज्ञान के बल पर तीनो काल की घटनाओ का सही सही और पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। सभी द्रव्यो का और उनकी सभी पर्यायो का परिपूर्ण स्वरूप इसके द्वारा जाना जा सकता है। ईश्वरीय ज्ञान ही केवल ज्ञान है।

ग

१—गणधर

जैन-धर्म के मुख्य संस्थापक तीर्थंकरो के अग्रगण्य शिष्य, साधु-समुदाय के मुख्य संचालक। ये तीर्थंकरो के प्रवचनो को, उपदेशो को, आज्ञाओ को व्यवस्थित रूप से संग्रहित करते है।

२—गृद्धि

पुद्गल संबंधी सुखो में, इन्द्रियो के भोग में, सांसारिक वासनाओ में और धन-वैभव, यश, पद-लोलुपता में एक दम मूर्च्छित हो जाना, मोह ग्रसित हो जाना और आत्म-भान भूल जाना।

३—ग्रथि

मोह की गाठ, पदार्थो के प्रति मूर्च्छा-भावना, वाह्य और आभ्यंतरिक ममता, वाह्य ममता याने भौतिक-सुख का वाछा और आभ्यतरिक ममता याने क्रोध, मान, माया और लाभ का खजाना ।

४—गुप्ति

गोपना, मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियो को दूर कर शुभ-प्रवृत्तियो में सलग्न होना, मन, वचन और काया पर नियत्रण करना ।

५—गोचरी

गाय जैसे थोडा थाडा घास हर स्थान से चूटती जाती है—खाती जाता है, वैसे ही थोडा थोड़ा आहार निर्दोष रीति से योग्य घरो से लेना ।

६—गोत्र कर्म

कर्म-वर्गणाओ का ऐसा समूह, जिसके वल पर सम्माननीय और असम्मानीय कुल की अथवा जाति की प्राप्ति हुआ करती है, जैसे कि सिह और कुत्ते की जाति, आर्य और अनार्य का कुल ।

घ

१—घन-घाती कर्म

जैन दर्शन में मूल आठ कर्म वतलाये गये है, उनमे से चार अघाती कर्म है और चार घन घाती कर्म है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म घन घाती हैं । नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय अघाती कर्म हैं । आत्मा के गुणो पर जो पूरा पूरा सघन और कठिन एव दुष्परिहार्य पटल डाल देता है, गुणो को सर्वांग रूप मे ढक देता है, ऐसे कर्म-वर्गणा घनघाती कर्म है ।

२—घ्राण—इन्द्रिय

प्राणियो की सूघनें की शक्ति का नाम घ्राण इन्द्रिय है, यह कार्य नाक द्वारा होता है । पाँच इन्द्रियो में इसकी गणना तीसरे नम्बर पर है ।

च

१—चतुर्विध सघ

साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका का सम्मिलित नाम "चतुर्विध संघ" है। चतुर्विध सघ की स्थापना श्री तीर्थंकरो द्वारा की जाती है।

२—चारित्र

आचार्यों और महापुरुषो द्वारा स्थापित धार्मिक-सिद्धान्तो के अनुसार अच्छा आचरण ही चारित्र है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एव अममता के आधार पर किया जाने वाला अच्छा व्यहार ही चारित्र है। चारित्र पाच प्रकार का कहा गया है — १ सामायिक, २ छेदोपस्थापनीय, ३ परिहार-विशुद्धि, ४ सूक्ष्म साम्परायिक, और ५ यथाख्यात।

३—चेतना

ज्ञान-शक्ति का नाम ही चेतना है। चेतना ही जीव का लक्षण है। चित्त का, मन का विकास ही चेतना है।

४—चौरासी लाख जीव-योनि।

जीवो के उत्पन्न होने का स्थान, जीवो के शरीर धारण करने का स्थान जीव-योनि कहलाता है। स्थानो की कुल सख्या चौरासी लाख कही गई है। वह इस प्रकार है —

पृथ्वी काय (पृथ्वी के जीव-केवल शरीर वाले)	७ लाख
अपकाय (जल का पिण्ड रूप-केवल शरीर वाले)	७ लाख
तेउ काय (अग्निका पिंड रूप— " ")	७ लाख
वायु-काय (हवा के पिंड रूप— " ")	७ लाख
प्रत्येक वनस्पति काय— " ") (डाली-पौधे पर लगने वाले फल फूल)	१० लाख
साधारण वनस्पति काय (जमीकन्द, आलू आदि)	१४ "
दो इन्द्रिय जीव (शरीर और मुंह वाले)	२ "

तीन इन्द्रिय जीव (शरीर, मुंह, नाक वाले)	२ लाख
चार इन्द्रिय " (शरीर, मुंह, नाक, आंख वाले)	२ "
देवता जीव (पाच इन्द्रिय वाले ऊपर की ४, कान)	४ "
तिर्यंच " (पशु, पक्षी, जलचर पाच इन्द्रिय वाले)	४ "
नारकी " (नरक के पांच इन्द्रिय वाले)	४ "
मनुष्य " (" ")	१४ "

ज

१—जघन्य

सख्या की दृष्टि से "कम से कम," ।
विशेषण की दृष्टि से "हल्का, नीच" ।

२—जड़

ऐसे द्रव्य, जो कि ज्ञान से रहित है, अजीव तत्त्व । ये जड द्रव्य अथवा अजीव तत्त्व दो प्रकार के होते है, १ रूपी जड और २ अरूपी जड । जिनमें रूप, रस, गध, स्पर्श, सडन, गलन, विध्वसन आदि पाये जाते है, वे रूपी जड है । हमें जो कुछ भी दिखाई देते हैं, सभी रूपी जड द्रव्य है । इनका दूसरा नाम पुद्‌गल भी है । अरूपी जड़ मे रूप रस, गध, और स्पर्श आदि नही पाये जाते है, इनकी सख्या ४ है और ये चारो अखिल ब्रह्माड व्यापी है । इनके नाम इस प्रकार है —१धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय और ४ काल ।

३—जागरुकता

मन और इन्द्रियो को पाप से बचाने के लिये सदैव सावधान रहना । इन्द्रिय-वृत्ति पर और चित्त-वृत्ति पर प्रत्येक क्षण नियत्रण रखना ।

४—जिन-शासन

जिन्होंने क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, काम वासना, विषय-विकार आदि सभी भीतरी शत्रुओ को सर्वथा जड मूल से हमेशा के लिये नाश कर दिया है और इन शत्रुओ की पुन उत्पत्ति का जरा भी कारण बाकी जिनके नही रहा

हैं, एव ।जन्होने पूर्ण और अखड ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो जैन-भाषा में "अरिहत" कहलाते हैं, उन्हे ही "जिन" कहा जाता है। ऐसे "जिन" का चलाया हुआ धर्म ही, इनकी आज्ञा ही "जिन-शासन" है।

५—जिनेन्द्र

"जिन-शासन" की उपरोक्त व्याख्या के अनुसार जिन्होने राग द्वेप को पूरी तरह से जीत लिया है, ऐसे "जिनो" में, ऐसे "अरिहतो" मे जो तीर्थंकर है, चार प्रकार के सघ की स्थापना करने वाले है वे "जिनेन्द्र" कहलाते है। "अरिहतो" मे मुख्य । "जिनो" मे मुख्य महापुरुप ।

६—जीव

जिसमें ज्ञान है, अनुभव करने की शक्ति है, वह द्रव्य ही जीव है । नये नये शरीर धारण करता है, वही जीव है । ऐसे जीव सपूर्ण लोकाकाश में अनतानत और अपरिमित सख्या मे सर्वव्यापी है। सभी जीवो में मूल रूप में समान ज्ञान, समान गुण, समान धर्म है । कर्म के कारण से विभिन्नता दिखाई देती है। प्रत्येक जीव असख्यात प्रदेशी है।

७—जैन

जो "जिन" का आज्ञा और आदेश को मानता है, "जिन" द्वारा बतलाये हुए धर्म मार्ग पर चलता है, वही जैन कहलाता है। "जिन" की व्याख्या "जिन-शासन" मे देखें।

त

१—तत्त्व

पदार्थों के अथवा द्रव्यो के मूल स्वरूप को तत्त्व कहा जाता है। वस्तु का यथार्थ स्वभाव ही उसका तत्त्व है। मुख्य रूप से नौ तत्त्व कहे गये हैं, वे इस प्रकार है — १ जीव, २ अजीव, ३ पुण्य, ४ पाप, ५ आश्रव, ६ सवर, ७ निर्जरा ८ वध और ९ मोक्ष ।

२—तत्त्वदर्शी

तत्त्वो की तह मे पहुँच जाने वाले महात्मा, तत्त्वो का यथार्थ स्वरूप समझ लेने वाले ऋषि ।

३—तदुत्पत्ति-सबध

पिता-पुत्र के समान, वीज वृक्ष के समान, जिन वस्तुओ का परस्पर मे एक की दूसरे से उत्पत्ति हो, उनका परस्पर मे "तदुत्पत्ति सवव" माना जाता है, जैसे कि दूध से दही ।

४—तप

आत्मा को पवित्र करने के लिये, आत्मा के गुणो का विकास करने के लिए इन्द्रियो और मन के विकार को और दुर्भावनाओ को समूल नष्ट करने के लिये जो इच्छा पूर्वक कष्ट सहन किया जाता है, उसे तप कहते है । आयंबिल उपवास करना, सामायिक सवर करना, पर सेवा करना आदि अनेक भेद तप के कहे जा सकते है ।

५—तर्क

कार्य-कारणो की खोज करना, परस्पर मे वस्तुओ के सवध का अनुसधान करना, अनुमान नामक ज्ञान मे सच्चाई तक पहुँचने के लिये विभिन्न वातो की खोज करना ।

६—तादात्म संबध

"आत्मा आर ज्ञान" "अग्नि और उष्णता" "पुद्गल और रूप" इन दृष्टान्तो के समान जिनका परस्पर मे अभिन्न, सहचर, मौलिक और एक स्वरूप संबंध होता है, वह तादात्म्य संवध कहलाता है ।

७—तामसिक

क्रोध आदि कषाय संवधी, मोह आदि विकार सवधी और हिंसा आदि दुष्कृत सवधी विचार और क्रियाऐं "तामसिक" कही जाती है ।

८— तिर्यंच-गति

जलचर प्राणी, आकाश मे उडने वाले प्राणी, पशु, पक्षी आदि पंचेन्द्रिय और एकेन्द्रिय से लगाकर चतुरिन्द्रिय प्राणी-तिर्यंच गति के जीव कहे जाते हैं।

९—तृष्णा

विस्तृत पैमाने वाली इच्छाऐ, अति लोभ मय दुर्भावनाऐ, अतृप्त महान् आकाक्षाऐ।

१०—तीर्थ

एक प्रकार का धर्म–मार्ग, जो कि तीर्थंकरो द्वारा स्थापित किया जाता है। साधु-साध्वी सस्था और श्रावक-श्राविका-सस्था भी कही जाती है। तीर्थ पवित्र स्थान को भी कहा जाता है।

तीर्थ एक प्रकार का उच्च धार्मिक मार्ग, जिसका अवलम्बन लेकर आत्मा अपना विकास कर सकती है।

११—तीर्थंकर

केवल ज्ञान, केवल दर्शन सम्पन्न वे महापुरुष जो कि साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप तीर्थ की स्थापना करते है। जैन-शासन और जैन-धर्म का विस्तृत रूप से सचालन करनेवाले। प्रत्येक उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल मे २४-२४ तीर्थंकर हुआ करते है। ऐसे आज दिन तक अनन्तानन्त तीर्थंकर हो चुके है और भविष्य मे भी होगे।

द

१—दर्शन

१ दार्शनिक सिद्धान्तो पर, धार्मिक आचरणो पर, और नैतिक बातो पर पूरा पूरा विश्वास करना "दर्शन" है। आत्मा, ईश्वर, पाप, पुण्य आदि के प्रति पूरा पूरा आस्तिक रहना "दर्शन" है।

२ किसी वस्तु का पूरा पूरा ज्ञान होने के पहले उस वस्तु सम्बन्धी साधारण आभास होना भी 'दर्शन कहा जाता है।

३ धर्म-विशेष के साथ भी जोड़कर इसके द्वारा विशेषता बतलाई जाती है, जैसे कि जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन, वैदिक दर्शन आदि।

४ "आदरपूर्वक देखने" के अर्थ मे भी दर्शन का उपयोग किया जाता है।

२—दर्शन मोहनीय

यह एक महान् अनिष्ट और घातक कर्म है, जो कि आत्मा के धार्मिक विश्वास को और सिद्धान्तो के प्रति आस्तिकता को उत्पन्न नहीं होने देता है। अच्छी और उच्च वातो के प्रति उत्पन्न होनेवाले विश्वास का यह कर्म नाश करनेवाला है। इसके तीन भेद हैं —१ सम्यक्त्व मोहनीय, २ मिश्र मोहनीय, ३ मिथ्यात्वमोहनीय।

आत्मा के उच्च विकास के लिये, याने परमात्मपद की ओर बढने के लिये सब से पहले इसी कर्म का नाश करना पडता है, इसका नाश हो जाने पर ही चारित्र की प्रगति होना और गुणो का विकास होना शुरू हो जाता है।

३—दुर्भावना

खराब विचार, अनिष्ट चिन्तन। भय, चिन्ता, शोक, तृष्णा, क्रोध, झूरना आदि सभी दुर्भावनाऐं ही हैं।

४—दुर्वृत्ति

खराब आदतें, हल्का और तुच्छ स्वभाव, अनिष्ट व्यवहार, निन्दा योग्य आचरण, तथा धिक्कारने योग्य जीवन का वर्ताव, ये सब दुर्वृत्तियाँ ही हैं।

५—देवाधिदेव

देवताओ के भी पूजनीय, इन्द्रो के भी आराधनीय महापुरुष। ईश्वर का एक विशेषण। देवताओ के भी देवता याने अरिहत अथवा तीर्थंकर।

६—द्रव्य

जिसमें नई नई पर्यायें उत्पन्न होती रहती है, तथा फिर भी जिसकी मूल-सत्ता अथवा ध्रौव्यत्व तीनो काल में सदैव बना रहे, पर्यायो के उत्पन्न और नाश होने पर भी जिसकी मूलसत्ता का कभी भी नाश नही हो, वही द्रव्य है।

ऐसे द्रव्य कुल मिला कर सारे ब्रह्माड में केवल ६ ही हे, न अधिक हे और न कम हैं। पाच अरूपी हे और केवल एक ही रूपी है। वे छ. इस प्रकार हैं —१ जीवास्तिकाय, २ धर्मास्तिकाय, ३ अधर्मास्तिकाय ४ पुद्गलास्तिकाय, ५ आकाशास्तिकाय और ६ काल।

७—द्रव्य-आश्रव

कर्मो का आत्मा के साथ दूध-पानी की तरह मिलने के लिये आत्मा की ओर आकर्पित होना ही आश्रव हैं। यह आश्रव दो प्रकार का है — १ भाव-आश्रव, २ द्रव्य आश्रव। क्रोध आदि १६ कपाय और रति अरति आदि ९ नो कपाय—ये २५ तो भाव-आश्रव हैं, इन्ही भाव-आश्रवो के कारण जो रूपी, अति सूक्ष्म से अति सूक्ष्म पुद्गल-परमाणु आत्मा के साथ सम्मिलित होने के लिये आते हैं, वे ही परमाणु द्रव्य-आश्रव कहलाते हैं। इन्हा द्रव्य-आश्रव रूप परमाणुओ में भाव-आश्रव के अनुसार सुख-दुःख देने की शक्ति तथा आत्मा के साथ अमुक समय तक रहकर गुणो को ढँक रखने की शक्ति पैदा हुआ करती है।

८—द्रव्य-शाति

जो शान्ति वाह्यकारणो पर निर्भर रहती है, जो अस्थायी होती है और जिसका सम्वन्ध आत्मा के गुणो के साथ नही रह कर केवल पुद्गलो के साथ ही रहे, भौतिक-सुखो के साथ ही जिसका सम्वन्ध रहे, वह द्रव्य शान्ति है।

९—द्वेप

अप्रिय और अरुचि वाले पदार्थो के प्रति क्रोध होना, नफरत होना, घिक्कार वुद्धि होना, अमान्य वुद्धि होना ही द्वेप है।

ध

१—ध्यान

मन, वचन और काया की प्रवृत्तियो को नियन्त्रण करके, कावू में ले करके, किसी एक वस्तु पर उनको जमाना, किसी एक पदार्थ पर उन्हे स्थिर करना ध्यान है। ध्यान दो प्रकार का है —१ अशुभ ध्यान

और २ शुभ ध्यान। अशुभ ध्यान के भी दो भेद है :—१ आर्त्त ध्यान और २ रौद्र ध्यान। शुभ ध्यान के भी दो भेद है —१ धर्म ध्यान और २ शुक्ल ध्यान। रोने, चिल्लाने, स्व को अथवा पर को दुःखी करने, शोक करने, हिंसा आदि के विचार करने, इत्यादि अशुभ प्रवृत्तियो की ओर मन, वचन, काया की शक्ति को स्थिर करना अशुभ ध्यान है। आत्म-चिन्तन, ईश्वर-भजन, पर-सेवा, सुसिद्धान्त विचारना, अनिष्ट-हिंसक विचारो से निवृत्ति आदि सात्विक और श्रेष्ठ विचारधारा की ओर शरीर, वचन और मन की वृत्तियो को सुस्थिर करना ही शुभ ध्यान है।

२—धर्म

जो क्रियाएँ आत्मा को पाप से बचावे और आत्मा के गुणो का विकास करें, वे ही धर्म है। अहिंसा, सयम, तप, सत्य, ब्रह्मचर्य, अचौर्य, परिग्रह की मर्यादा और अममत्व एव रात्रि में खान-पान का त्याग आदि सत्क्रियाएँ धर्म की ही अग है।

३—धर्म-ध्यान

शरीर की और वचन की प्रवृत्ति को रोक कर चित्त की वृत्ति को धार्मिक चिन्तन में, सिद्धान्तो के विचारणा में और दार्शनिक बातो के मनन में एव ईश्वरीय स्तुति में सुस्थिर करना, दृढ़ करना ही धर्म-ध्यान है।

४—धर्मास्तिकाय

जो द्रव्य जीवो को और पुद्गलो को इधर उधर घूमने फिरने के समय में सहायता करता है और जिसकी सहायता होने पर ही जीव अथवा पुद्गल चल फिर सकते हैं, वह द्रव्य धर्मास्तिकाय है। यह द्रव्य संपूर्ण लोकाकाश में फैला हुआ है, अरूपी है और शक्ति का पुज रूप है। असख्यात प्रदेशी है। "जल जैसे मछली को तैरने में सहायक है" वैसे ही जीव और पुद्गल की गति में यह द्रव्य सहायक होता है। "रेडियो में शब्द-प्रवाह" के प्रवाहित होने में अनेक कारणो में से एक कारण यह द्रव्य भी है।

न

१—नरकगति

महान् पापी, घोर दुष्कर्मी, महा आरंभी और महा परिग्रही जीव के लिये पाप कर्मों का फल भोगने का स्थान-विशेष। ऐसे स्थान सात कहे गये हैं। जहाँ अनंत भूख-प्यास के साथ अनन्त सर्दी गरमी के दुःख, एवं दूसरे नाना-प्रकार के दुःख भोगे जाते हैं।

२—नवतत्व

तत्त्व की व्याख्या पहले लिखी जा चुकी है। ये तत्त्व नौ होते हैं, वे इस प्रकार है — १ जीव, २, अजीव, ३ पुण्य, ४ पाप, ५ आश्रव, ६ संवर, ७, निर्जरा ८, बंध और ९ मोक्ष।

३—नाम कर्म

जिस कर्म के कारण से, शरीर, इन्द्रियाँ, गति, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, शरीर, बनावट, चाल, स्वर, आदि शारीरिक संपूर्ण व्यवस्था का योग प्राप्त होता है वह नाम कर्म है। जैसे चित्रकार संपूर्ण चित्र का निर्माण करता है, वैसे ही यह कर्म सभी प्रकार की शारीरिक बनावट का सयोग प्राप्त कराता है। इसके १०३ भेद कहे गये हैं।

४—नियाणा

अपनी की हुई धर्म-क्रियाओं का, अपनी तपस्या का, अपने पुण्य का इच्छानुसार फल माँगना अथवा मनोनुकूल फल की वांछा करना नियाणा है। नियाणा करना पाप माना गया है।

५—निर्ग्रंथ

जिसके न तो आन्तरिक रूप से मोह, कषाय आदि की गाँठ है और न बाह्य रूप से किसी भी प्रकार का परिग्रह जिसके पास है, अर्थात् जो बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रकार से गांठ रहित है, वह साधु निर्ग्रंथ कहलाता है। दीर्घ तपस्वी भगवान महावीर स्वामी का यह एक विशेषण भी है।

६—निर्जरा

ऐसे पवित्र और सात्विक तथा धार्मिक काम, जिनसे आत्मा के साथ बंधे हुए पुराने कर्म दूर हो जाते हैं और आत्मा पवित्र हो जाती है। निर्जरा के १२ भेद कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं — १ अनशन, २ ऊनोदरता ३ वृत्तिसक्षेप, ४ रस त्याग, ५ काय-क्लेश, ६ सलीनता, ७ प्रायश्चित, ८ विनय, ९ वैयावृत्य, १० स्वाध्याय, ११ ध्यान और १२ उत्सर्ग।

७—निर्द्वंद्व

वाह्य और आभ्यतर दोनो प्रकार के झगडो, क्लेशो, और मोह-ममता से रहित होना। हर प्रकार से अनासक्त और मस्त रहना।

८—निर्वेद

स्त्री-पुरुष सबन्धी भोगो की इच्छा का नही होना। पूर्ण ब्रह्मचर्य-भावना ही निर्वेद है।

९—निरवद्य-योग

मन की, वचन की और काया की ऐसी प्रवृत्ति, जो कि निर्दोष हो। मन द्वारा, वचन द्वारा, और काया द्वारा ऐसे काम करना, जिनसे कि व्रतो में; सम्यक्त्व में, चारित्र में दोष नही आवे, वह निरवद्य योग है।

१०—निष्काम भावना

जिन सुन्दर विचारो में किसी भी प्रकार के फल की आकाक्षा नही होती है, जो विचार-धारा मोह-ममता के कीचड से रहित होती है, जिस विचार-प्रवाह में एकान्त रूप से विश्व-हित की भावना ही प्रवाहित होती रहती है, उसे निष्काम-भावना कहते हैं।

११—नो कषाय

जो स्वय क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय की श्रेणी में तो नहीं है, किन्तु जो कषाय की श्रेणी को उत्तेजित करता है, कषाय की श्रेणी को वेग देता है और इस प्रकार कषाय का जो छोटा भाई है, वही नोकषाय

है। नोकषाय के ९ भेद है, वे इस प्रकार है:—१ हास्य २ रति ३ अरति ४ भय ५ शोक ६ जुगुप्सा ७ स्त्री वेद ८ पुरुष वेद ९ नपुसक वेद।

प

१—प्रकृति

(१) स्वभाव (२) संसार।

२—प्रकृति बध

कषाय और योग के कारण से आत्मा के साथ दूध-पानी की तरह मिलने के लिये आने वाले कर्म-पुद्गलो का जो तरह तरह का स्वभाव भावनानुसार बनता है, वह प्रकृति बध है।

प्रकृति बध के आठ भेद कहे गये है, वे इस प्रकार है १ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तराय।

३—प्रत्यभिज्ञान

स्मृति के बल पर किसी प्रत्यक्ष पदार्थ के सम्बन्ध में जो जोड़ रूप ज्ञान होता है, वह प्रत्यभिज्ञान है। जैसे-यह वही तालाव है, जिसको कल देखा था, यह आदमी तो उस मनुष्य के समान है, इत्यादि।

४—प्रतिक्रमण

जो व्रत, त्याग-प्रत्याख्यान, नियम, सयम ग्रहण किये हो, उनमें जो कुछ भी दोप अथवा त्रुटी मूर्खता वश या प्रमाद वश आ गई हो तो व्रत आदि को निर्मल करने के लिये उन दोषो को खेद पूर्वक प्रकट करते हुए, पाप से निवृत्त होना और पुन दोष अथवा त्रुटी को नहा पैदा होने देने की भावना का पोपण करना ही प्रतिक्रमण है।

५—प्रदेश-बंध

योग और कषाय के कारण से जब कर्म-परमाणु आत्मा की ओर दूध-पानी के समान मिलने के लिए आते है, उस समय आने वाले कर्म-परमाणुओ की जो तादाद अथवा समूह होता है, उसे ही प्रदेश बध कहते है।

मन, वचन और काया की शुभ अथवा अशुभ प्रवृत्ति प्रत्येक क्षण होती रहती है। निद्रा लेना भी एक प्रवृत्ति ही है, अतएव भावनानुसार कर्म-परमाणुओ का आगमन आत्मा की ओर प्रत्येक क्षण होता ही रहता है, और प्रत्येक क्षण- इनकी तादाद अनतानत की सख्या में हा होती है। इसी प्रकार जिन कर्म परमाणुओ का कार्य-काल समाप्त हो जाता है और प्रत्येक क्षण ऐसा होता ही रहता है, इनकी भी तादाद अनतानत रूप से ही होती है।

इन प्रदेश बध के परमाणुओ का आठ कर्मो के भिन्न २ स्वभाव के रूप में विभाजन भावनानुसार आत्मा के प्रदेशो के साथ मिलने के समय ही हो जाया करता है। इसी प्रकार इनकी कार्य-काल की अवधि और इनकी भावनानुसार फल देने की शक्ति, दोनो का निर्माण भी उसी समय आत्म-प्रदेशों के साथ मिलने के वक्त ही हो जाया करता है।

६—प्रमाद

धार्मिक कार्यों के करने मे यानी पर-सेवा के कामो में और अपने नैतिक उत्थान के कामो में बेपर्वाही करना, आलस्य करना और उन्हें निश्चित किये हुए समय मे पूरा नही करना, "प्रमाद" कहलाता है।

७—प्रशम

चित्त के विकारो पर नियत्रण रखना, क्रोध, मान, माया और लोभ को काबू में करना, विषयो को दबाना तथा नैतिकता का जीवन में विकास करना ही "प्रशम" अवस्था है। सम्यक्त्व के मूल पाँच लक्षणो में से यह पहला लक्षण है।

८—प्रायश्चित

लिए हुए व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान, सयम में जो कोई दोष अथवा त्रुटा प्रमाद वश अथवा मूर्खता वश आ गई हो तो उसको स्पष्ट तौर पर गुरु

जन के आगे विनय पूर्वक निवेदन करके उसके लिए क्षमा मागना और व्रत नियम आदि को पुन पवित्र करने के लिए वे जो कुछ भी दड दे, उसका सहर्ष पालन करना और आगे भविष्य मे वैसा दोष पुन नही करने की भावना करना ही प्रायश्चित है।

९—पदार्थ

शब्दो द्वारा कही जा सकने वाली विस्तु, जसका शब्दो द्वारा वयान किया जा सके। "तत्त्व" शब्द का पर्यायवाची शब्द।

१०—परमाणु

रूपवाला, रस वाला, गध वाला, स्पर्श वाला आर पुद्गल का एक अश। यह पुद्गल का इतना सूक्ष्म से सूक्ष्म अश है, कि जिसके यदि किसी भी प्रकार से टुकड़े करना चाहे, ता त्रिकाल में भी जिसके दो टकडे नही हो सके—ऐसा अति सूक्ष्म तम, स्वतत्र पुद्गल का अ श परमाणु है।

एक से अधिक परमाणुओ का समूह "देश" पुद्गल कहलाता है। एटम बम, और हाइड्रो एलेक्ट्रिक वम "देश" पुद्गलो के वने हुए होते है। देश-पुद्गलो से "परमाणु" पुद्गल को अलग करके केवल "परमाणु" पुद्गल से काम लेने की शक्ति वर्त्तमान विज्ञान को नही प्राप्त हुई है।

सभी "देश-पुद्गलो" का सम्मिलित नाम "स्कध" पुद्गल समूह है। यह समस्त लोकाकाश मे फैला हुआ है।

११—पर्याय

प्रत्येक द्रव्य में प्रत्येक क्षण मे उत्पन्न होने वाली नई नई अवस्था अथवा नया नया रूप ही "पर्याय" कहलाता है। छ ही द्रव्यो मे प्रत्येक क्षण—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से कुछ न कुछ फर्क पडता ही रहता है, कोई भी क्षण ऐसा नही होता कि जिस में कुछ न कुछ फर्क नही पडे, इस प्रकार हर द्रव्य मे उत्पन्न होने वाली हर अवस्था ही "पर्याय" है। सिद्धो मे भी ज्ञान की पर्यायो में परिवर्तन होता ही रहता है। इसी लिये जगत् को "संसार याने परिवर्तन होते रहने वाला" यह सज्ञा दी गई है।

१२—परिग्रह

इस के दो भेद है—१ भाव परिग्रह है, और दूसरा द्रव्य परिग्रह।

ममता अथवा मूर्च्छा तो भाव परिग्रह है, और धन-धान्य, पशु—पक्षी; मोटर, मकान, दास-दासी, स्त्री—पुत्र, भाई बन्धु, सोना—चादी, और विभिन्न वैभव सामग्री द्रव्य परिग्रह है।

१३—परिणाम

फल अथवा नतीजा।

१४—परिषह

इच्छा पूर्वक लिये हुए व्रतो की रक्षा के लिये, नियम, तप, संयम की रक्षा के लिए और त्याग—प्रत्याख्यान का पवित्रता के साथ पालन करने के लिये जो कष्ट अथवा दुख आकर पडे उन्हे शाति के साथ और निर्मलता पूर्वक दृढता के साथ सहन करना ही परिषह है। परिषहो का उत्पत्ति कुद-रती कारणो से, मनुष्यो से, पशुओ से और देवताओ से हुआ करती है। परिषह के कुल २२ भेद शास्त्रो में बतलाये गये है।

१५—पल्योपम

काल का माप विशेप जा कि असंख्यात वर्षों का होता है।

१६—पाप

बुरी बात, जिन बुरे कामों के करने से आत्मा मर कर तिर्यंच गति में अथवा नरक गनि में एव दुर्गति मे जाता हो। पाप के मुख्य १८ भेद कहे गये है और इनका फल ८२ प्रकार से-अशुभ रीति से भागा जाता है।

१७—पांच इन्द्रियाँ

शरीर, मुख, नाक आँख, और कान—ये पाच इन्द्रिया कहलाती है।

१८—पुण्य

भले काम, नैतिकता पूर्ण काम। जिन कामो को करने से आत्मा को अच्छी गति मिले, सुख—सुविधा, यश, सन्मान आदि की प्राप्ति हो; वे काम

पुण्य कहलाते है। सक्षेप मे पुण्य के ९ भेद किये गये है और उनका फल ४२ प्रकार से भोगा जाता है।

१९—पुद्गल

जो द्रव्य अजीव याने जड रूप होता हुआ रूप वाला, रस वाला, गध वाला और वर्ण वाला हो, तथा जो मिलने बिखरने, सटने गलने वाला हो, ऐसा पदार्थ–पुद्गल कहलाता है।

हमे नेत्रो द्वारा जो कुछ भी दिखलाई पड रहा है, वह सब पुद्गल का ही रूपान्तर है। सूर्य, चन्द्र, तारा, धूप, प्रकाश, छाया, चादनी, शब्द, जल, पृथ्वी, हवा, वनस्पति, पहाड, जीवो के शरीर, लोहा, सोना, चादी, मिट्टी, सभी पुद्गल के हा विभिन्न रूप है। सारा स्थूल ब्रह्माड पुद्गलो का ही बना हुआ है। उपरोक्त पदार्थों में विभिन्न जीव–समूह इन्ही को शरीर बना कर रहते है। दृश्यमान सारा ससार पुद्गलो का ही बना हुआ है। पुद्गल तत्त्व को मुख्य रूप से चार भागो मे बाटा है। १ स्कध, २ देश, ३ प्रदेश, और ४ परमाणु।

विश्व–व्यापी पुद्गलो का सपूर्ण समूह "स्कध" कहलाता है।

स्कध के हिस्से "देश" कहलाते है। परमाणु का स्वरूप पहले लिखा जा चुका है। देश अथवा स्कध में मिला हुआ "परमाणु" जितना ही अश "प्रदेश" के नाम से बोला जाता है। स्वतत्र अवस्था मे जो परमाणु है, वही सम्मिलित अवस्था मे "प्रदेश" के नाम से पुकारा जाता है।

२०—पूर्वधर

ऐसे ज्ञानी महात्मा और सत ऋषि, जो कि महान् ज्ञान के धारक हो। तीर्थंकरो और अरिहतो द्वारा फरमाये हुए विशाल और विस्तृत ज्ञान के धारक "पूर्वधर" कहलाते है।

ब

१ बंध

योग और कषाय के कारण से आत्मा के प्रदेशो के साथ कर्म-परमाणुओ का दूध पानी की तरह मिल जाना ही "बंध" कहलाता है। बध के चार

भेद कहे गये है :—१ प्रकृति-बंध, २-प्रदेश-बंध, ३ स्थिति-बंध और ४ अनु-भाग-बंध, इनकी व्याख्या इसी कोष मे यथास्थान पर दी जा चुकी है ।

२ वहुश्रुत

जिस ज्ञानी पुरुष का, शास्त्रो का वाचन, मनन, चिन्तन और विचारणा खूब ही गहरी, विस्तृत और प्रामाणिक हो, वह "वहुश्रुत" कहलाता है।

३ वाल

विवेक और व्यवहार से हीन पुरुष, मूर्ख बुद्धि वाला और अनभिज्ञ पुरुष ।

४ वाल तप

"उपरोक्त स्थिति वाले वाल पुरुष" की तपस्या वाल तप कहलाती है। अज्ञान, अविवेक और मिथ्यात्व के आधार से वाल पुरुष की तपस्या "वाल-तप" ही है । वाल-तप शरीर को कष्ट देने वाला मात्र है, इससे आत्म-गुणों का विकास नही हो सकता है और न कर्मों की निर्जरा ही हो सकती है, अत-एव शास्त्रो मे इसे हेय, जघन्य और व्यर्थ कष्ट मात्र ही कहा गया है ।

भ

१ भव्य

जो जीव कभी भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र का आराधन कर के मोक्ष जाने की स्वाभाविक शक्ति रखता हो, वह भव्य कहलाता है । भव्य प्राणी के लिये कभी न कभी एक दिन ऐसा अवश्य आता है, जब कि वह पूर्ण सम्य-क्त्वी वन कर अवश्य ही मोक्ष में जाता है ।

किन्तु शास्त्रो मे ऐसा भी उल्लेख है कि कई एक भव्य आत्माऐं ऐसी भी है, जो कि भव्य-गुण वाली होती हुई भी सम्यक्त्व-प्राप्ति का सयोग उन्हे नहीं मिलेगा, और इसलिये वे मुक्त भी नही हो सकेगी ।

२ भाव

आत्मा मे समय-समय पर होने वाली विभिन्न प्रकार की विचार-धारा ही "भाव" है। भाव के ५ भेद कहे गये है :—१ औपशमिक-भाव, २ क्षायिक-

भाव, ३ क्षायोपशमिक-भाव, ४ औदयिक-भाव और ५ पारिणामिक-भाव।

१ कर्मो के शान्त रहने की हालत में आत्मा में पैदा होने वाले विचार "औपशमिक-भाव" है।

२ कर्मो के क्षय हो जाने पर अथवा निर्जरा होने पर आत्मा में पैदा होने वाले विचार "क्षायिक-भाव" है।

३ कुछ कर्मों के तो उपशम होने पर और कुछ के क्षय होने पर, इस प्रकार मिश्र स्थिति होने पर आत्मा मे पैदा होने वाले विचार "क्षायोपशमिक-भाव" है।

४ कर्मो के उदय होने पर, कर्मो द्वारा अपना फल दिये जाने के समय मे आत्मा मे पैदा होन वाले विचार "औदयिक-भाव" हैं।

५ आत्मा की स्वाभाविक विचारधारा ही "पारिणामिक"-भाव है।

३ भावाश्रव

आत्मा में उत्पन्न होने वाले अच्छे अथवा बुरे विचार ही, शुभ-अशुभ अध्यवसाय ही, इष्ट-अनिष्ट भावना ही "भावाश्रव है।

सात्विक, पवित्र और निर्दोप भावना से तो शुभ-भावाश्रव होता है और कषाय से, नो कपाय से, एव अनिष्ट विचार-धारा से अशुभ-भावाश्रव होता है।

भावाश्रव के बल पर ही कर्म-परमाणु आत्मा की ओर आकर्षित होते है और यही द्रव्याश्रव कहलाता है। शुभ द्रव्याश्रव से सुख-सामग्री और वैभव-विपुलता की प्राप्ति होती है, जब कि अशुभ द्रव्याश्रव से दु:ख-दरिद्रता एवं वियोग-विपत्ति आदि की प्राप्ति हाती है।

४ भावना

आत्मा के सुन्दर, सेवामय, अनासक्ति वाले और पविश्र विचार ही भावना कहलाते है। शुभ-ध्यान, शुभ-लेश्या, शुभ-अध्यवसाय, ममता-रहित परिणाम, अविचल ईश्वर-भक्ति आदि "भावना" के हा अन्तर्गत समझे जाते है।

स्थूल रूप से भावना के ४ भेद और १२ भद किये गये है, वे इस प्रकार है —१ मैत्री-भावना, २ प्रमोद-भावना, ३ करुणा-भावना और ४ माध्यस्थ-भावना।

१ अनित्य, २ अशरण, ३ संसार, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६ अशुचित्व, ७ आस्रव, ८ संवर, ९ निर्जरा, १० लोक-स्वभाव, ११ बोधि-दुर्लभ और १२ धर्म-भावना।

५—भाव-शांति

अपनी आत्मा के गुणो में ही आनद अनुभव करना, आत्मा के विकास में ही प्रफूल्लता की अनुभूति होना एवं सांसारिक सुख-सामग्री को हेय, तुच्छ अनुभव करते हुए उसमें दुःख ही दुःख समझना भाव-शांति है। सासारिक सुख-शांति द्रव्य-शांति है।

६—भोग

जो वस्तु एक ही बार भोगी जा सके; जैसे—खाने पीने के पदार्थ, आदि।

७—भौतिक-सुख

पुद्गलो सबंधी सुख, इन्द्रियो सबंधी सुख, और सब प्रकार का सांसारिक सुख, भौतिक-सुख के ही अन्तर्गत है।

म

१—मति ज्ञान

पाचो इन्द्रियोंका सहायता से और बुद्धि की सहायता से जो ज्ञान पैदा होता है, वह मतिज्ञान है। आज कल जितना भी सब प्रकार का साहित्यिक-ज्ञान उत्पन्न हुआ है, और हो रहा है तथा होगा; वह सब मति ज्ञान के ही अन्तर्गत समझा जाता है। मति ज्ञान के भेदानुभेद मे ३६४ भेद किये गये है।

२—मधुकरी

जैसे भवरा-प्रत्येक फूल से विना उसे किसी भी प्रकार का कष्ट पहुँचाये थोडा सा शहद (फूल का अन्श) लेता है और इस प्रकार अनेकानेक फूलो से—सहज रीति से ही अपनी इच्छा पूरी कर लेता है, वैसे ही अपने जीवन को व्रतमय और आदर्श बनाने के लिये जो व्यक्ति थोड़ा थोडा आहार-पानी,

वस्त्र आदि सहज भाव से सुविधा पूर्वक गृहस्थो से ग्रहण करता रहता है, इसें ही "मधुकरी" कहते हैं।

३—मन. पर्याय

आत्मा की शक्ति के आधार से ही विना इन्द्रियो और मन की मदद लिए ही दूसरो के विचारो को जान लेना, दूसरो के मन की भावनाओ को समझ लेना ही मन· पर्याय ज्ञान है। यह ज्ञान सिर्फ उच्च चारित्र वाले और दृढ सम्यक्त्वी–मुनिराजो मे से किसी किसी को ही उत्पन्न हुआ करता है। आज कल तो इतना उच्च कोटि का ज्ञान किसी को भी नही हो सकता है। इसके दो भेद है;—१–ऋजुमति मन पर्याय और २ विपुलमति मनः पर्याय।

४ मनो-गुप्ति

मन की चचलता को, अस्त-व्यस्तता को और बुरे विचार-प्रवाह को रोकना, एव इनके स्थान पर सद् विचारो के प्रवाह को प्रवाहित करना "मनोगुप्ति है।"

५ ममता

किसी पदार्थ के प्रति मेरापन रखना, कुटुम्बी-जनो के मोह में अंधा हो जाना, वाह्य आदर-प्रतिष्ठा-यश-सन्मान-पद की इच्छा रखना और अपने स्वार्थ को ही सब कुछ समझना "ममता" है।

६ महात्मा

जिसकी आत्मा बुराइयो से और पापो से रहित हो गई हो और जिसके सारे जीवन का समय, प्रत्येक क्षण, परोपकार में, पर-कल्याण मे, पवित्र विचारो में तथा ईश्वर की भक्ति में ही व्यतीत होता हो, वही महात्मा है।

७ महाव्रत

जीवन भर के लिये जिस व्रत का परिपालन मन, वचन और काया की पूरी-पूरी सलग्नता के साथ किया जाता हो, कराया जाता हो और कराने की अनुमोदना की जाती हो, ऐसा व्रत "महाव्रत" कहलाता है।

महाव्रत के पालक "साधु-अथवा साध्वी" ही होते हैं। महाव्रत की साधना तीन करण और तीन योग (मन, वचन, काया से पालना, पलवाना और ऐसी ही अनुमोदना करना) से की जाती है। महाव्रत 'सर्वविरति' रूप होता है। इसके पाच भेद है — १ पूर्ण अहिंसा २ पूर्ण सत्य ३ पूर्ण-अचौर्य ४ पूर्ण ब्रह्मचर्य और ५ पूर्ण अनासक्त याने निष्परिग्रह।

८—माया

कपट, कपाय के चार भेदो में से तीसरा भेद अधिक व्याज लेना, अधिक मुनाफा खोरी 'माया' के ही अन्तर्गत है। माया से अक्सर तिर्यंचगति की प्राप्ति हुआ करती है।

९—मिथ्यात्व

"आत्मा, ईश्वर, पुण्य, पाप" आदि मूलभूत सिद्धान्तो पर जिसका विश्वास बिलकुल ही न हो, जो इनको केवल ढकोसला समझता हो तथा जिसका ध्येय एक मात्र ससार-सुख को ही भोगना हो वह मिथ्यात्वी कहलाता है और उसकी विचार-धारा मिथ्यात्व कही जाती है।

१०—मिथ्या दृष्टि

जिस आत्माका दृष्टि कोण ऊपर लिखे गये "मिथ्यात्व" की ओर सलग्न हो वह 'मिथ्या दृष्टि" कहलाता है।

११—मुक्त

जो आत्मा आठो कर्मो से रहित हो गई हो, जिसमें परिपूर्ण रीति से आत्मा के सभी गुणो का पूरा पूरा विकास हो गया हो और जैन मान्यतानुसार जो स्वय ईश्वर रूप हो गई हो वह आत्मा "मुक्त" कही जाती है।

मुक्त आत्मामें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त निर्मलता, निराकारता अनन्त आत्मिक सुख, अखड अमरत्व, सर्वोच्च विशेषता और निराबाध स्थिति की उत्पत्ति हो जाती है यही ईश्वरत्व है। इस स्थिति को प्राप्त करना हर सांसारिक आत्मा का अंतिम ध्येय है।

१२—मुनि

जो परमार्थी पुरुष अपनी इन्द्रियों और मन पर पूरा पूरा नियंत्रण रखता हुआ, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और निष्परिग्रह धर्म का परिपूर्ण रीति से पालन करता हो, वही "मुनि" है। 'ईश्वर-प्राप्ति" नामक साधना का साधक महापुरुष ही मुनि कहलाता है।

१३—मुमुक्षु

मोक्ष की इच्छा करने वाला और मोक्ष-पथ का पथिक ही मुमुक्षु है। कषाय-भावना से छुटकारा चाहने वाला "ममुक्ष" कहा जाता है।

१४—मूढ

जो पुरुष मन ही मन मे विषयो का चिन्तन करता रहता है, चित्त द्वारा भोगो की प्राप्ति की इच्छा करता रहता है, वह मूढ है।

१५—मूर्च्छा

विषयो के प्रति अन्धा हो जाना, मोह में डूब जाना, यही "मूर्च्छा" का लक्षण है।

१६—मोह

आत्मा में रहे हुए मुख्य और मूल गुणो को जो कषाय नष्ट कर देता है, वही "मोह" है। सभी कषायो का और विषय-विकारो का सम्मिलित नाम "मोह" ही है।

१७—मोहनीय कर्म

जैसे मदिरा मनुष्य को बेभान कर देती है, स्थान भ्रष्ट करके इधर उधर लुढका देती है, वैसे ही यह कर्म भी हर आत्मा को विषयो में, विकारो में और कषायो में जकड देता है। इस कर्म के कारण से आत्मा का चारित्र और आत्मा की भावनाऐं पाप पूर्ण हो जाती हैं। इसके बलपर आत्मा भोगो में फँस जाती है। इसके मुख्य दो भेद है—१ दर्शन मोहनीय और २ चारित्र

मोहनीय।

दर्शन मोहनीय के तीन भेद पहले लिखे जा चुके हैं। चारित्र मोहनीय के "१६ प्रकार के कषाय और ९ प्रकार के नो कषाय" इस प्रकार कुल २५ भेद होते हैं।

१८--मोक्ष

आत्मा का आठो कर्मो से छूट जाना ही और पुन कर्मो से लिप्त नहीं होना ही मोक्ष है। आठो कर्मों के क्षय से आत्मा में सभी प्रकार के मूल गुण अपने सर्वोच्च रूप में विकसित हो जाते हैं। तथा सभी प्रकार के सांसारिक झझट और सभी प्रकार के दुर्गुण हमेशा के लिये आत्मा से अलग हो जाते हैं। पूर्ण ईश्वरत्व-प्राप्ति ही "मोक्ष-अवस्था" है।

मोक्ष-प्राप्ति अथवा ईश्वरत्व-प्राप्ति प्रत्येक आत्मा का स्वाभाविक अधिकार है; तदनुसार हर आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन, चारित्र द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकती है।

य

१--यतना

विवेक पूर्वक और सावधानी के साथ जीवन-व्यवहार चलाना, यतना है। अपने कर्त्तव्य का ध्यान रखते हुए, अपने उत्तरदायित्व को स्मृति में रखते हुए और अपनी पद-मर्यादा का ख्याल रखते हुए जीवन-व्यवहार चलाना "यतना" है।

२--यथाख्यात चारित्र

क्रोध, मान, माया और लोभ; इन चारो कषायो के सर्वथा उपशम होने पर जिस सर्वोच्च चारित्र की प्राप्ति होती है, वह यथाख्यात चारित्र है! ग्यारहवे गुणस्थान में वर्त्तमान आत्मा को औपशमिक यथाख्यात चारित्र होता है; और १२ वे, १३ वे; तथा १४ वे गुणस्थान में वर्त्तमान आत्मा का क्षायिक यथाख्यात चारित्र होता है। पाचो चारित्रो में से यही चारित्र सर्वोच्च और श्रेष्ठ है।

३—योग-प्रवृत्ति

मन, वचन और काया की प्रवृत्तियो का सम्मिलित नाम "योग-प्रवृत्ति" है। इनकी शुभ-प्रवृत्ति हो तो "शुभ-योग-प्रवृत्ति" और इनकी अशुभ-प्रवृत्ति हो तो "अशुभ योग-प्रवृत्ति" कही जाती है।

योग के मुख्य तीन भेद है.—१ मनो योग, २ वचन योग और ३ काया योग। इनके पुन उपभेद १५ होते है। (१) सत्य मन योग; (२) असत्य मन योग, (३) मिश्र मन योग; (४) व्यवहार मन-योग। (१) सत्य भाषा, (२) असत्य भाषा, (३) मिश्र भाषा, और (४) व्यवहार भाषा (१)औदारिक योग, (२) औदारिक मिश्र योग, (३) वैक्रिय योग (४) वैक्रिय मिश्र योग (५) आहारक योग, (६) आहारक मिश्र योग (७) कार्मण योग।

र

१—रत्न त्रय

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् चारित्र का सम्मिलित नाम "रत्न-त्रय" है।

"आत्मा, ईश्वर, पुण्य पाप" आदि मूल भूत सिद्धातो पर पूरा पूरा विश्वास करना और सासारिक-सामग्री को अनित्य और अत में दुख देने वाली विश्वास करना सम्यक् दर्शन है।

"सम्यक्-दर्शन" के अनुसार ही जगत् का तथा आत्मिक-सिद्धान्तो का ज्ञान करना अथवा स्वरूप समझना "सम्यक् ज्ञान" है।

"सम्यक् दर्शन" और "सम्यक् ज्ञान" के अनुसार ही अपने जीवन का व्यवहार रखना; जीवन का आचरण रखना, तथा इन्ही सिद्धान्तो के अनुसार अपने आचरण का क्रमिक विकास करते हुए सर्वोच्च स्थिति को पहुँचना ही "सम्यक् चारित्र" है।

सम्यक् दर्शन होने पर ही "ज्ञान और चारित्र" की गणना सम्यक् रूप से होती है; अन्यथा-सम्यक् दर्शन के अभाव में "मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र" समझा जाता है।

इन तीनो का सम्मिलित रूप से विकास होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हुआ करती है, किसी भी एक के अभाव में मोक्ष नही प्राप्त हो सकता है।

२—रति

मोह के वश से इष्ट पदार्थो में; प्रिय पदार्थों में प्रेम रखना, उनकी वाछा करना, रति है। विषयो से सवधित भौतिक-सुख में उत्सुकता रखना "रति" है। यह नोकषाय का एक भेद है।

३—रस

इन्द्रियो और मन द्वारा भोगे जाने वाले सासारिक-सुख में जो "एक सुख रूप अनुभूति" होती है, वह रस है। खाने, पीने, देखने, सूंघने, के पदार्थों में तथा स्त्री-पुरुष को परस्पर में और सासारिक विचार-धारा में,- इन्द्रियो द्वारा तथा मन द्वारा जो सुख अथवा आनद का अनुभव होता है, उसे ही "रस" कहते हैं। स्थूल रूप से "रस" के पाच भेद दूसरे भी कहे गये है, वे ये हैं—(१) तीखा (२) कडुआ (३) कषायला (४) खट्टा और (५) मीठा।

४—राग

माया और लोभ के सम्मिलित सयोग से आत्मा में जो विचार-धारा उत्पन्न होती है, वही "राग" है। इन्द्रियो के तथा मन के इष्ट एव प्रिय पदार्थों मे जो एक प्रकार का मोह-भाव, अथवा उत्सुकता भाव या वाछा-भाव पैदा होता है, वही "राग" भाव है।

राग-भाव में कपट और लालच का समिश्रण रहता है।

५—राजस्

गृहस्थाश्रम और राज्य-व्यवस्था को चलाने के समय में जिस ढग की मनोवृत्ति होती है, तथा जैसा जीवन का आचरण होता है, एव जैसी जैसी कषाय की प्रवृत्ति होती है, वह सब "राजस्" भावना के अन्तर्गत समझा जाता है। प्रकृति से सम्बन्धित सासारिक-आत्मा के वैदिक साहित्य में तान गुण बताये गये हैं:—१ तामस्, २ राजस् और (३) सात्विक।

कृष्ण लेश्या वाला और नील लेश्या वाला "तामस्" प्रकृति का होता है। कापोत लेश्या वाला और कुछ कुछ तेजो लेश्या वाला "राजस्" प्रकृति का होता है। इसी प्रकार कुछ कुछ तेजो लेश्या वाला और पद्म लेश्या वाला "सात्विक" प्रकृति का होता है।

जो आत्मा "राजस्, तामस् और सात्विक" तीनो गुणो अतीत हो जाता है, इनसे रहित हो जाता है, वह जैन-परिभाषा में "शुक्ल लेश्या" वाला कहा जाता है, जिसे वैदान्त मे "परब्रह्म" कहते है।

६—राजू

दूरी और विस्तीर्णता मापने का एक माप दड, जो कि करोडो और अरबों माइलो वाला होता है। खगोल विज्ञान वाले जैसे आलोक-वर्ष" नामक दूरीका माप-दड निर्धारित करते है, वैसा ही किन्तु उससे ज्यादा बडा यह माप-दंड है। विशेष उल्लेख इसी पुस्तक की भूमिका में देखे।

७—रूप

(१) सौन्दर्य.

(२) पुद्गलो का एक धर्म, जो कि आखो आदि इन्द्रियो द्वारा अथवा ज्ञान द्वारा देखा जाता है और जाना जाता है।

(३) रूप के ५ भेद किये गये है :—

(१) काला, (२) नीला, (३) लाल, (४) पीला और (५) सफेद।

इन पाचो के समिश्रण से सैकडो प्रकार का रूप-रग तैयार किया जा सकता है।

८—रूपी

रूप वाला, केवल पुद्गल ही रूपी होता है, बाकी के सब द्रव्य रूप रहित ही होते है। रूपी दो प्रकार के होते है —

१ स्थूल रूपी २ सूक्ष्म रूपी।

जो पुद्गल आखो आदि इन्द्रियो द्वारा देखा जा सके, वह तो स्थूल रूपी है, और जो पुद्गल आखो आदि इन्द्रियों द्वारा नही देखा जाकर केवल आत्मा की

शक्ति से ही याने अवधि ज्ञान, मन पर्याय ज्ञान, और केवल ज्ञान द्वारा जाना जा सकता हो, वह सूक्ष्म रूपी होता है।

पहाड, नदी, सूर्य, चन्द्, तारे, वृक्ष, जल,अग्नि, हवा, वनस्पति, शब्द, गंध, खाने पीने की वस्तुए, मिट्टी, छाया धूप, आदि तो स्थूल रूपी पुद्गल है, और कर्म परमाणु, आहारक शरीर परमाणु, तैजस शरीर परमाणु इत्यादि विभिन्न प्रकार के परमाणु सूक्ष्म रूपी पुद्गल कहलाते है।

९—रौद्र ध्यान

हिंसा, निर्दयता, जुल्म, अत्याचार, शोषण, भयकरता आदि दुष्ट आचरणों और नीच कृत्यो का ध्यान करना, इनका विचार करना रौद्र ध्यान है!

ल

१—लक्षण

जिस विशेष चिह्न के आधार से किसी की पहिचान की जाय, जो विशेष चिन्ह उसी पदार्थ में पाया जाय तथा अन्य मे नही पाया जाय, ऐसे असाधारण धर्म को—विशेष चिह्न को "लक्षण" कहा जाता है, जैसे कि आत्मा का लक्षण ज्ञान, पुद्गल का लक्षण रूप, अग्नि का लक्षण उष्णता आदि।

२—लालसा

तीव्र इच्छा। ऐसी महती अभिलाषा कि जिसकी पूर्त्ति करने के लिये व्यग्र हो जाना। ऐसी असाधारण कामना कि जिसको परिपूर्ण करने के लिये अधीर हो जाना।

३—लेश्या

योग और कषाय के सयोग से आत्मा मे जो विचारों की विशेष-विशेष तरगें उत्पन्न हुआ करती है उन्हे ही लेश्या कहते हैं। यदि कषाय की कलुषित अवस्था बहुत ही तीव्र और भयानक हुई तो लेश्या की तरगें भी बहुत ही अनिष्ट और निकृष्ट होगी इसके विपरीत यदि कषाय की स्थिति सर्वथा नहीं

रही और केवल योग की सर्वोच्च अवस्था ही रही तो उस समय लेश्या की तरगें अत्यत विशुद्ध और प्रशस्त ही होगी । योग और कषाय के अभाव में लेश्या का भी अभाव हो जाता है ।

लेश्या के ६ भेद है —१ कृष्ण २ नील ३ कापोत ४ तेजो ५ पद्म और ६ शुक्ल ।

१ कृष्ण लेश्या मे हिंसा, क्रोध, द्वेष, निर्दयता, वैर और दुष्टाचरण की प्रधानता होती है ।

२ नील में आलस्य, मद बुद्धि, माया, भोग-भावना, कायरता और अह-कार की प्रधानता होती है ।

३ कापोत में शोक, पर निन्दा एव कषाय की स्थिति बराबर बनी रहती है । कषाय का दबाव अपेक्षाकृत कम हो जाता है ।

४ तेजो लेश्या में विद्या, प्रेम, दया, विवेक, हिताहित की समझ और सहानुभूति की भावना रहती है ।

५ पद्मलेश्या में क्षमा, त्याग, देव-गुरु-धर्म में भक्ति, निष्कपटता और सदैव प्रसन्न भावना बनी रहती है ।

६ शुक्ल लेश्या में राग द्वेष का सर्वथा विनाश हो जाता है, शोक और निन्दा से परे स्थिति हो जाती है एव परमात्म-भाव के दर्शन हो जाते है ।

प्रथम तीन लेश्याओं में कषाय की स्थिति न्यूनाधिक रूप से बराबर बनी रहती है जबकि चौथी और पाचवी लेश्या में कषाय का क्षय और उपशम अच्छी मात्रा में प्रारम्भ हो जाता है

छट्ठी लेश्या में कषाय का सर्वथा क्षय हो जाता है ।

४—लोक

जहाँ तक छ द्रव्यो की स्थिति है, वह सारा क्षेत्र लोक कहलाता है । लोक की लबाई में ऊँचे से नीचे तक १४ राजू तक की मर्यादा कही गई है, जबकि चौडाई में केवल सात राजू तक की मर्यादा बतलाई है । इस क्षेत्र-फल के अतिरिक्त शेप आकाश में छ द्रव्यो का अभाव है अतएव उसे लोक

नहीं कहकर अलोकाकाश की संज्ञा दी गई है जो कि शून्य रूप ही है और जिसके क्षेत्रफल की मर्यादा का माप कोई भी यहाँ तक कि ईश्वर भी नहीं निकाल सकते हैं उसका क्षेत्रफल अनंतानंत राजू प्रमाण है ।

लोक के तीन भाग किये गये है :—उच्च लोक, मध्य लोक आर नीचा-लोक ।

५—लोकाकाश

आकाश लोक और अलोक दोनो स्थानो पर है ! लोक मर्यादित आकाश को अथवा छः द्रव्यो से संयुक्त आकाश को लोकाकाश कहते है और छः द्रव्यों से रहित आकाश को अलोकाकाश कहा जाता है । लोकाकाश के द्रव्यो का एक भी परमाणु अथवा प्रदेश अलोकाकाश मे नही जा सकता है, क्योंकि धर्मास्तिकाय का वहाँ पर अभाव होने से किसी भी दशा मे गति अथवा स्थिति नहीं हो सकती है ।

व

१—व्यामोह

कषाय और मोह के उदय से जीव की ऐसी मूर्च्छित अवस्था जिसमें कि केवल भोगो का ही ध्यान रहे, पुद्गल-सबधी सुखो का ही ख्याल रहे और आत्मा के हिताहित का विचार सर्वथा ही नही रहे ।

२—वचन गुप्ति

भाषा के ऊपर नियन्त्रण रखना, घातक और अनिष्ट भाषा का परित्याग करते हुए शिष्ट, मधुर और सत्य एव आवश्यक भाषा ही बोलना, वचन-गुप्ति है ।

३—वाचाल

बहुत बोलने वाला । आवश्यकता और अन-आवश्यकता का ख्याल नहीं रखते हुए बहुत अधिक बोलने वाला ।

४—वासना

कषाय के कारण से आत्मा में जो अनिष्ट और नीच आदतों की जड़ जम

जाती है, आत्मा में जो कुसंस्कार दृढीभूत हो जाते हैं, उन्हे ही "वासना" शब्द द्वारा पुकारा जाता है।

५—विकथा

जो कथा नैतिकता, चारित्र, और उच्च आचरण के विरुद्ध हो, जिस कथा के कहने से नैतिकता, चारित्र और उच्च आचरण में दोष आता हो अथवा पतन की शुरुआत होती हो, उसे "विकथा" कहते है। "विकथा" विपरीत कथा, घातक कथा।

विकथा के चार भेद कहे गये हैं :— १ स्त्री विकथा, २ भोजन विकथा ३ देश विकथा और ४ राजविकथा।

६—विकार

अच्छी बात में बुरी बात का पैदा हो जाना ही "विकार" कहलाता है। सम्यक् दर्शन का विकार "मिथ्या दर्शन" है, सम्यक्-ज्ञान का विकार "मिथ्या-ज्ञान" है और सम्यक् चारित्र का विकार "इन्द्रिय-भोग, कषाय का उदय, और सासारिक सामग्री में ही शक्ति का अपव्यय करना" है। इन्द्रियो के भोग पदार्थो के लिहाज से विकारो के भेद २४० कहे गये है।

७—विपाक-शक्ति

कषाय के कारण से कर्मों में जो फल देने की शक्ति पैदा होती है, उसे ही विपाक शक्ति कहते है।

जिस तरह कोई लड्डू ज्यादा मीठा होता है और कोई थोडा, कोई अधिक कडुआ होता है तो कोई कम, इसी प्रकार कोई ज्यादा तीखा होता है तो कोई अल्प, इत्यादि अनेक प्रकार के रस वाले होते है, उसी तरह से बधे हुए कर्म-परमाणुओ में भी अनेक तरह का फल अथवा रस देखा जाता है, किसी का रस-फल ज्यादा शुभ देखा जाता है, तो किसी का कम, किसी का रस-फल अधिक अशुभ देखा जाता है, तो किसी का अल्प। इत्यादि रूप से कर्मों की जो फल-शक्ति है, वही "विपाक-शक्ति" के नाम से पुकारी जाती है। कर्मों के मूल भेद आठ कहे गये है, तदनुसार "विपाक-शक्ति" भी आठ प्रकार की ही है।

८—विरक्त

जो आत्मा-इन्द्रियो के भोगो से, और सासारिक सुखो से, तथा मोह को पैदा करने वाली वातो से अथवा वातावरण से दूर ही रहे, वह "विरक्त" कहलाता है।

९—वियोग

किसी भी वस्तु का एक वार अथवा अधिक वार सयोग होकर, तत्पश्चात् उसका सवध छूट जाना, "वियोग" कहलाता है सबध-विच्छेद ही "वियोग" है।

१०—विराधना

तीर्थंकर, गणधर, स्थविर, आचार्य, बहुश्रुत आदि की आज्ञा के विपरीत चलना, शास्त्र-मर्यादा के खिलाफ आचरण का रखना "विराधना" है।

विराधना मिथ्यात्व का ही रूप है, जो कि आत्मा के लिये अहितकर है।

११—विवेक

हित और अहित का भान होना, अच्छे और बुरे की पहचान होना, व्यवहार योग्य और अव्यवहार योग्य वातो का ज्ञान होना।

१२—विषय

इन्द्रियों के भोग और परिभोग पदार्थ ही विषय कहलाते है। मन द्वारा भोग और परिभोग पदार्थों की जो मधुर कल्पना और भोग-कल्पना की जाती है, वही इस सबंध में "मन का विषय" कहा जा सकता है इन्द्रियो के विषय इस प्रकार है —

१—कान के लिये :—जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द।

२—आंख के लिये :—देखी जाने वाली वस्तुओं का रूप—काला, पीला, नीला, लाल और सफेद। नाटक आदि का अन्तर्गत इसीमें हो गया है।

३—नाक के लिये :—सुगंध और दुर्गंध।

४—जिह्वा इन्द्रिय के लिये :—खट्टा, मीठा; कडुआ, कषायला और तीखा ।

५—शरीर के लिये :—ठडा, गरम, रूखा, चिकना; भारी, हलका, खरदरा और सुंहाला । इस प्रकार पाचो इन्दियो के कुल २३ विषय है ।

१३—वीतरागता

वीतरागता के दो भेद है; १ औपशमिक वीतरागता और २ क्षायिक वीतरागता ।

जहाँ मोहनीय कर्म के २८ ही भेद, याने दर्शन मोहनीय के ३, कषाय के १६ और नो कषाय के ९, इस प्रकार कुल २८ ही प्रकृतियाँ पूर्ण रूप से शात हो जाय; उस अवस्था को औपशमिक वीतरागता कहते है, और यह अवस्था ११ वे गुणस्थान की मानी जाती है ।

जहाँ उपरोक्त २८ ही प्रवृत्तियो का जड़ मूल से आत्यतिक क्षय हो जाता है, जो फिर कभी भी पुन: उत्पन्न होने वाली नही है, ऐसी क्षायिक अवस्था को "क्षायिक वीतरागता" कहते है । यह अवस्था बारहवे गुणस्थान से प्रारभ हो जाती है जो कि मोक्ष-प्राप्ति के बाद भी बराबर कायम रहती है । क्षायिक वीतरागता ही अरिहत अवस्था है, जो कि सिद्ध अवस्था के रूप मे परिणित हुआ करती है । औपशमिक-वीतरागता अस्थायी होती है; जो कि शीघ्र ही पुन. कर्मों के उदय होते ही अवीतरागता के रूप मे परिणित हो जाती है ।

राग और द्वेप पर विजय प्राप्त करना ही वीतरागता है । माया और लोभ से राग की उत्पत्ति होती है; तथा क्रोध और मान से द्वेष की उत्पत्ति हुआ करती है ।

१४—वीतराग सयम

ग्यारहवे गुणस्थान में रहे हुए आत्मा का संयम औपशमिक वीतराग सयम है । तथा बारहवे, तेरहवे और चौदहवें गुणस्थान में रहे हुए आत्माओ

का संयम क्षायिक वीतराग सयम है। वीतराग-सयम का ही दूसरा नाम "यथाख्यात चारित्र" है।

१५—वृत्ति

व्यवहार अथवा स्वभाव।

१६—वैतरणी नदी

नरक से संबधित नदी; जिसके लिये उल्लेख है कि, जिसमें खून, पीप, हड्डी, मास आदि दुर्गंधित और वीभत्स पदार्थ ही भरे पड़े हैं, जिसके जलचर प्राणी बहुत ही तीक्ष्ण पीड़ा पहुचाने वाले हैं! और जिसको पार करते समय पापी जीव को नाना विधि घोर कष्ट एव तीक्ष्ण पीडाऐं सहन करनी पड़ती है।

१७—वेदनीय-कर्म

जिस कर्म के कारण से ससार में जीव को सुख-अनुभव करने का अथवा दु ख-अनुभव करने का प्रसग प्राप्त हो, वह वेदनीय कर्म है।

इसके दो भेद है, १ साता वेदनीय और २ असाता वेदनीय।

१८—वैभव

सभी प्रकार की विशाल और विस्तृत पैमाने पर सासारिक सुख-सामग्री धन, मकान, यश आदि वैभव के ही अन्तर्गत है।

श

१—शब्द

कान इन्द्रिय का विषय है, यह शुभ और अशुभ दो प्रकार का होता है। यह पौद्गलिक है, रूपी है, अनित्य है। क्षण भर में सम्पूर्ण लोक में फैल जाने की शक्ति रखने वाला है।

२—श्रद्धा

"विश्वास" के अर्थ में प्रयुक्त होता है। सम्यक् दर्शन और श्रद्धा का एक ही अर्थ होता है। "आत्मा, ईश्वर, पाप, पुण्य" आदि मूल-भूत आस्तिक सिद्धान्तो पर पूर्ण विश्वास करना श्रद्धा है।

श्रद्धा के पाच लक्षण हैं—१ प्रशम, २ सवेग, ३ निर्वेद, ४ अनुकपा, और ५ आस्तिकता।

३—श्रावक

जो मनुष्य श्रद्धा के साथ जिन वचनो को सुनता हो, उन पर विश्वास करता हो तथा शक्ति के अनुसार व्रत-नियमो की परिपालना करता हो, और अपनी श्रद्धा को निर्दोष रखता हो, वही श्रावक कहलाता है। श्रावक के १२ व्रत और २१ गुण होते है।

४—श्राविका

"श्रावक" शब्द मे उल्लिखित गुणो वाली और वैसी ही श्रद्धा वाली तथा तदनुसार आचरण करने वाली, महिला, "श्राविका" है।

५—शील

"ब्रह्मचर्य धर्म" शील कहलाता है। मन, वचन, और काया से, शुद्ध और निर्दोष ब्रह्मचर्य पालना ही शील है।

६—श्रुत-ज्ञान

शास्त्रों के सुनने से, विविध साहित्य के पढने से, चिन्तन से मनन से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह श्रुत ज्ञान है। चौदह पूर्वों का ज्ञान भी श्रुत ज्ञान के ही अन्तर्गत है। आज कल का उपलब्ध सपूर्ण ज्ञान, मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान के ही अन्तर्गत आता है।

७—शुक्ल-ध्यान

सर्व श्रेष्ठ ध्यान, इस ध्यान में केवल विशुद्ध आत्म तत्त्व का और ईश्वर तत्त्व का एव तटस्थ भाव से लोक का गभीर, अनुभव एव चिन्तन मनन होता है। स्थितप्रज्ञ रूप से और अनासक्त भाव से असाधारण सुन्दर विचारो का प्रवाह चलता रहता है। उच्च कोटि के महात्मा का ही इस ध्यान का प्राप्ति हो सकती है। इसके ४ भेद कहे गये है—१—पृथक्त्व

वितर्क सविचार, २ एकत्व वितर्क अविचार, ३ सूक्ष्म क्रिया-अप्रतिपाति और ४ व्युपरत क्रिया अनिवृत्ति।

८—शुभ-ध्यान

श्रेष्ठ, आदर्श, सात्विक विचार-प्रवाह को शुभ-ध्यान कहते हैं। धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान को "शुभ-ध्यान" के अन्तर्गत गिना जा सकता है।

९—शुभ-योग

मन, वचन, और काया की अच्छी प्रवृत्ति को, निर्दोष भाषा-शैली को और सात्विक विचारो को ही शुभ योग कहते है। मन शुभ योग, वचन शुभ योग, और काया शुभ-योग, ये तीन इसके भेद कहे जाते है! शुभ-योग का विस्तृत और विकसित रूप ही पाच समिति एव तीन गुप्ति है।

१०—शुभ-लेश्या

"लेश्या" का स्वरूप पहले लिखा जा चुका है। छः लेश्याओ में से कृष्ण, नील और कापोत ये तीन लेंश्याऐं तो अशुभ है और तेजो, पद्म और शुक्ल ये तीन शुभ लेश्याऐं कही जाती है।

ष

१—षट्-काय

पृथ्वी काय, अप काय, तेउ काय, वायु काय, वनस्पति काय और त्रस काय, ये षट्-काय कहलाते हैं। प्रथम से पाँचवें तक एकेन्द्रिय जीव ही हैं। इनके केवल शरीर ही होता है। त्रस काय में दो इन्द्रिय जीव से पांच इन्द्रिय वाले जीवो की तथा मन सज्ञा वाले जीवो की गणना की जाती है।

२—षट् द्रव्य

१ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय,

३ आकाशास्तिकाय, ४ काल द्रव्य,

५ जीवास्तिकाय, और ६ पुद्गलास्तिकाय।

इन छ: ही द्रव्यों का समूह "षट्–द्रव्य" कहलाता है। इन छ: ही द्रव्यो की सामान्य परिभाषा यथास्थान पर इसी कोश में दे दी गई है।

स

१—सम्यक्त्व

नव तत्त्वो पर, षट्–द्रव्यों पर, जिन-वचनो पर, एवं "आत्मा, ईश्वर, पुण्य, पाप" आदि आस्तिक सिद्धान्तों पर पूरा पूरा विश्वास करना ही सम्यक्त्व है !

सम्यक्त्व के साधारण तौर पर दो भेद है.—

१. व्यवहार सम्यक्त्व (२) निश्चय सम्यक्त्व ! निश्चय सम्यक्त्व के पाच भेद है:—

१ सास्वादन सम्यक्त्व, २ औपशयिक—सम्यक्त्व, ३ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, ४ वेदक सम्यक्त्व और ५ क्षायिकसम्यक्त्व।

(१) वाह्य लक्षणों को देखकर याने किसी के देव, गुरु और धर्म के प्रति विश्वास को देख कर उसके विश्वास को सम्यक्त्व के नाम से कहना—व्यवहार सम्यक्त्व है !

(२) निश्चित और निश्शक रूप से देव, गुरु और धर्म पर विश्वास होना; अचल और अडोल श्रद्धा होना—निश्चय सम्यक्त्व है।

(३) उपशम सम्यक्त्व से गिरते समय एव मिथ्यात्व का ओर आते समय; जब तक मिथ्यात्व नही प्राप्त हो जाय, तब तक मध्य वर्ती समय में जीव के जो परिणाम होते है—उसे ही सास्वादन सम्यक्त्व कहते है।

(४) अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ, सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय, इन सात मोहनीय प्रकृतियों के उपशम से होने वाले जीव के परिणाम को औपशमिक सम्यक्त्व कहते है।

(५) उपरोक्त सातों प्रकृतियो में से कुछ के उपशम होने पर एव कुछ के क्षय होने पर जो परिणाम जीव के होते है, उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

(६) क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के पूर्व क्षण में जो परिणाम जीव के होते हैं; उसे वेदक सम्यक्त्व कहते हैं।

(७) उपरोक्त सातो प्रकृतियो का जड मूल से नाश होने पर याने आत्यंतिक क्षय होने पर, जो परिणाम जीव के होते हैं, उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते है।

२—सम्यक् दर्शन

जो सम्यक्त्व की व्याख्या है, वही व्याख्या सम्यक् दर्शन की भी समझना चाहिये। सम्यक् दर्शन दो प्रकार से पैदा होता है —(१) स्वभाव से (२) परनिमित्त से !

(१) अनन्त काल से यह जीव नाना जीव–योनियो में भटक रहा है और अनन्त दुःख उठाता रहा है, तदनुसार भटकने से और दुःख उठाने से कर्मो की निर्जरा होती रहती है, और इस कारण से दैव–योग से मोहनीय कर्म के हल्का पड जानें पर जीव को विना प्रयत्न के ही धर्म–मार्ग की रुचि और श्रद्धा पैदा हो जाया करती है, यही स्वभाव जनित सम्यक् दर्शन है।

(२) पर के उपदेश से, पर–प्रेरणा से; सासारिक अनित्य पदार्थों को देख कर उन द्वारा उत्पन्न वैराग्य से, आदि कारणो से जो सम्यक् दर्शन पैदा होता है, वह पर-निमित्त जनित सम्यक् दर्शन है।

३—सम्यक् ज्ञान

सम्यक् दर्शन उत्पन्न होने के बाद जीव का ज्ञान "सम्यक् ज्ञान" कहलाता है।

सम्यक् ज्ञान के पाचो भेदो का "मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्याय और केवल" का स्वरूप यथास्थान पर लिखा जा चुका है। ज्ञान ही आत्मा का असाधारण और अभिन्न मूल लक्षण है। ज्ञान की विकृति को मिथ्या ज्ञान अथवा अज्ञान कहा जाता है। ज्ञान में विकृति मोह और कषाय से पैदा हुआ करती है।

४—समाधि

मन, वचन और काया की प्रवृत्तिमय चंचलता को हटा कर इन्हे

१२—साध्वी

वह आदर्श महिला, जो कि पाच समिति और तीन गुप्ति का निर्दोष रीति से परिपालना करती हुई अपने जीवन में ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करती हो।

१३ साधु

वह आदर्श पुरुष; जो कि पाच समिति और तीन गुप्ति का निर्दोष रीति से परिपालना करता हुआ अपने जीवन मे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करता हो।

१४—सामायिक

अमुक समय के लिये अथवा जीवन पर्यन्त के लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करते हुए सदोष प्रवृत्ति का त्याग करके निर्दोष व्यवहार का आराधना ही "सामायिक" है। सामायिक दो प्रकार की कही गई है—

(१) अमुक समय तक के लिये मर्यादित समय की; यह सामायिक गृहस्थो के लिये कही गई है। इसमें दो करण और तीन योग से पाप की निवृत्ति की जाती है।

(२) जो सामायिक जीवन पर्यन्त के लिये ग्रहण की जाती है; वह साधु-सामायिक कहलाती है और यह तीन करण और तीन योग द्वारा ग्रहण की जाती है।

१५—सावद्य-योग

मन, वचन और काया की दोष वाली प्रवृत्ति; एव पापमय व्यवहार ही सावद्य-योग है।

(१) मन द्वारा अनिष्ट विचार किया जाना और पर के लिये हानिकारक विचारो को ही सोचते रहना "मन-सावद्य-योग" है।

(२) पर को हानि पहुंचानेवाली भाषा बोलना, झूठ बोलना, मर्म घातक शब्द बोलना; अनीतिपूर्ण बोलना, "वचन-सावद्य-योग" है।

(३) शरीर द्वारा पर को हानि पहुंचानेवाली प्रवृत्ति करना, हिंसा, चोरी, मैथुन, परिग्रह सग्रह आदि ढंग की पापपूर्ण प्रवृत्ति करना, गरीबो का

शोषण करना; गैर-जबावदारी के साथ अविवेकपूर्ण कार्य करना, "काय सावद्य-योग" है।

१६—सिद्ध

जो महापुरुष "संवर और निर्जरा" की आराधना करके आठों ही कर्मों का परिपूर्ण क्षय कर देते हैं और यथाख्यात चारित्र के बल पर अरिहंत होकर मोक्ष में जाते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं। इन्हे ही ईश्वर और परमात्मा कहा जाता है।

पन्द्रह प्रकार से सिद्ध होते हैं, और वे इस प्रकार हैं —

(१) तीर्थंकर होकर जा सिद्ध होते हैं; वे तीर्थंकर सिद्ध हैं; जैसे कि—ऋषभ, महावीर आदि।

(२) सामान्य केवली होकर जो सिद्ध होते हैं; वे अतीर्थंकर सिद्ध हैं .—जैसे कि–जबू स्वामी आदि।

(३) चतुर्विध सघ की स्थापना होने के बाद जो सिद्ध होते हैं, वे तीर्थ सिद्ध है। जैसे कि —गौतम आदि गणधर।

(४) चतुर्विध सघ की स्थापना से पूर्व ही जो सिद्ध होते हैं, वे अतीर्थ सिद्ध हैं; जैसे कि "मरुदेवी" आदि।

(५) गृहस्थ के वेष में ही जिन्होने सिद्धि पाई है, वे "गृहस्थलिंग सिद्ध" है, जैसे कि भरत चक्रवर्ती आदि।

(६) सन्यासी आदि अन्य वेष द्वारा मुक्ति पानेवाले "अन्यलिंग-सिद्ध" कहलाते है। जैसे कि "वल्कल चीरी–साधु" आदि।

(७) जैन-परम्परा के अनुसार वेष धारण करते हुए मोक्ष पाने वाले "स्वलिंग सिद्ध" है, जैसे कि—गजसुकुमार आदि !

(८) "स्त्रीलिंग" में सिद्ध होने वाले 'स्त्रीलिंग सिद्ध" है, जैसे कि चन्दन वाला आदि।

(९) "पुरुषलिंग" मे सिद्ध होने वाले "पुरुषलिंग सिद्ध" हैं, जैसे कि गौतम आदि !

(१०) "नपुन्सक लिंग" में सिद्ध होने वाले "नपुन्सक लिंग-सिद्ध" है; जैसे कि भीष्म आदि ।

(११) किसी भा अनित्य पदार्थ को देख कर विचार करते करते ज्ञान प्राप्त हुआ और तत्पश्चात् केवल ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त हुए हो; ऐसे "प्रत्येक बुद्ध" सिद्ध कहलाते है, जैसे करकडु राजा ।

(१२) स्वयमेव ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त किया हो, ऐसे "स्वयबुद्ध सिद्ध" कहलाते है जैसे कपिल आदि ।

(१३) गुरु उपदेश से ज्ञानी होकर सिद्ध हुए, वे "बुद्ध-बोधित सिद्ध" कहलाते हैं, जैसे अर्जुन माली आदि ।

(१४) एक समय मे एक ही मोक्ष जाने वाले "एक सिद्ध" कहलाते है, जैसे महावीर स्वामी आदि ।

(१५) एक समय में अनेक मुक्त होने वाले "अनेक सिद्ध" कहलाते हैं, जैसे ऋषभदेव स्वामी आदि । ये उपरोक्त भेद ससारी स्थिति तक ही है, सिद्ध होने के पश्चात मोक्ष मे पहुँच जाने के बाद किसी भी प्रकार का भेद वा अन्तर नहा रह जाता है ।

१७—सूत्र

अनेक शब्दो द्वारा कहे जाने वाले, विस्तृत और गभीर अर्थवाले वाक्यों को बुद्धिमाना के साथ उसके सपूर्ण अर्थ की रक्षा करते हुए अति थोड़े शब्दों में ही, न्यून से न्यून शब्दो में ही गूथ देना अथवा सग्रथित कर देना "सूत्र-रचना" है। ऐसी शब्द रचना सूत्र कहलाती है, जो कि अति थोडे शब्दो वाली होती हुई भी विस्तृत और गभीर अर्थ रखती हो ।

सपूर्ण जैन-आगम शब्द-रचना की शैली से अति सूक्ष्म होते हुए भी अर्थ के दृष्टिकोण से विस्तृत और गभीर है, इसीलिए इनका एक सज्ञा सूत्र भी समाज में प्रसिद्ध और रूढ हो गई है ।

१८—संत

महती शाति को धारण करने वाला ऋषि-मुनि संत कहलाता है

१९—-सयति

पाचों इन्द्रियो और मन के विकारो पर पूरी तरह से विजय प्राप्त करने वाला मुनि अथवा आदर्श पुरुष 'सयति' कहलाता है।

२०—सयम

पांचो इन्द्रियो और मन के विकारो पर पूरी तरह से अथवा अच्छी तरह से विजय प्राप्त कर लेना ही सयम है। अथवा हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह, का त्याग करना भी 'सयम' ही कहलाता है।

२१—सयमासयम

श्रावक और श्राविकाओ का चारित्र 'सयमासयम' ही कहलाता है।

२२—संयोग

पुण्य के उदय से प्राप्त होनेवाला योग अथवा अच्छा प्रसग।

२३—संलेखना

यह एक विशेष प्रकार की जीवन-पर्यंत की पाप-दोषों की स्पष्ट और खुली आलोचना और प्रायश्चित है। जब जीवन का अत अति निकट आया जान लिया जाता है, तव इसका आचरण किया जाता है। इसमे सभी प्रकार के आहार, ममता और परिग्रह से पूर्णतया सबध विच्छेद कर लिया जाता है, निर्दोष स्थान पर विधि अनुसार शैय्या विछाकर शेष जीवन पर्यन्त के लिये आहार आदि का त्याग कर गुरु आदि के सम्मुख जीवन भर के पापों का साफ साफ बयान किया जाता है, उनके लिए क्षमा और पूरा पूरा खेद प्रकट किया जाता है। जीव-मात्र के साथ क्षमा मांगते हुए उनमे मैत्री संबंध जोड़ा जाता है। तीन कारण और तीन योग से आहार आदि सभी प्रवृत्तियों का त्याग करके शेष जीवन में ईश्वर-भजन और आत्म-चितन मे पूरी पूरी तरह से सलग्न हो जाना पडता है। मृत्यु के प्रति सर्वथा अनासक्त और निरपेक्ष भावना रखते हुए समय व्यतीत करना पडता है। यही सलेखना व्रत है। इसके पाच दोष है जो कि जानने योग्य है किन्तु आचरण योग्य नहीं है। वे इस प्रकार है —

(१) सलेखना के जीवन मे न तो इस लोक सबधी सुख-धन, राज्य और ऋद्धि की कामना करे।

(२) और न परलोक सबधी देवता आदि से सबधित सुख की भावना करे।

(३) यश आदि के लिये विशेष जीवित रहने की भावना भी नही रखे।

(४) सलेखना से जनित कष्ट उपसर्ग आदि से छुटकारा पाने के लिये शीघ्र मृत्यु की कामना भी नही करे।

(५) मेरी संलेखना तपस्या सच्ची हो तो मुझे आगे पाचो इन्द्रियो के भोगो की और सुख की प्राप्ति होवे ऐसा नियाणा भी नही करे।

२४—सवर

आते हुए नवीन कर्म को रोकने वाले आत्मा के परिणाम को "भाव-सवर" कहते है और कर्म-पुद्गलो की रुकावट को "द्रव्य संवर" कहते है !

सवर के सत्तावन भेद कहे गये है; वे इस प्रकार है:—

पाच समिति, तीन गुप्ति, बाइस परिषह, दस प्रकार का यति धर्म, बारह भावना, और पाच प्रकार का चारित्र, इस प्रकार ५७ भेद है।

२५—सवेग

सासारिक भोग, सुख-सामग्री के प्रति उनके घातक परिणामो पर विश्वास करते हुए मोक्ष की अभिलाषा रखना "सवेग" है।

२६—सस्कृति

देशगत, अथवा जाति गत, अथवा धर्म गत सपूर्ण व्यवहार, विचार, जीवन-प्रणालि, और सभी प्रकार की प्रवृत्तियो का सम्मिलित नाम ही "संस्कृति" है। जैसे कि भारतीय सस्कृति, जैन सस्कृति आदि।

२७—स्थविर

दीर्घ कालीन दीक्षित एव वृद्ध, अनुभवी और योग्य साधु "स्थविर" कहलाते है।

२८—स्थावर

जो जीव एकेन्द्रिय है और केवल शरीर नामक इन्द्रिय से ही अपना सारा जीवन-व्यवहार चला लेते है, वे जीव स्थावर कहलाते है। स्थावर के ५ भेद हैं;—१पृथ्वी काय, २ अप काय, ३ तेज काय, ४ वायु, काय, ५ वनस्पति काय, ।

२९—स्थित प्रज्ञ

जिसकी बुद्धि, मन, और इन्द्रियाँ चचल नहा होती हो, जो विषय और विकार द्वारा आकर्षित नही होता हो, जो सदैव विना यश-कीर्ति, और सन्मान की इच्छा रक्खे ही अनासक्त भाव से स्व-पर-हित में सलग्न रहता हो, वही स्थित प्रज्ञ कहलाता है।

३०—स्थिति वंध

आत्मा के प्रदेशो के साथ दूध पानी की तरह मिले हुए कर्म-प्रदेशों का आत्मा के साथ अमुक समय तक वने रहना, आत्म-प्रदेशो के साथ मर्यादित समय तक घुले मिले रहना अथवा वधे रहना ही स्थिति वध है। जैसे औषधि का वना हुआ लड्डू कई महिने तक रह सकता है; कोई छः महीने तक और कोई साल भर तक; वैसे ही कोई कर्म अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, तो कोई ७० करोडाकरोड़ी सागरोपम तक रहता है; तो कोई वर्ष तक। इसी को स्थिति वध कहते है।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय की, चारो की उत्कृष्ट स्थिति तीस करोड़ाकरोडी सागरोपम की है। मोहनीय की ७० करोड़ाकरोडी सागरोपम की है। नाम, गोत्र कर्म की वीस करोड़ाकरोडी सागरोपम की है और आयु की तेतीस सागरोपम की है।

जघन्य स्थिति इस प्रकार की हैः—वेदनीय की वारह मुहूर्त्त की; नाम-गोत्र की आठ मुहूर्त्त की और शेप पाँच कर्मों की अन्तर्मुहूर्त्त का है।

३१—स्पर्श

शरीर इन्द्रिय का धर्म और सुख, स्पर्श कहलाता है, और उसके आठ भेद हैं, वे इस प्रकार है—१ गुरु, २ लघु, ३ मृदु, ४ खर, ५ शीत, ६ उष्ण, ७ स्निग्ध, और ८ रूक्ष।

३२—स्मृति

पाचो इन्द्रियो और मन द्वारा जाने हुए एवं अनुभव किये हुए पदार्थ का याद आ जाना ही "स्मृति" कहलाती है । स्मृति मतिज्ञान का ही भेद है ।

३३—स्याद्वाद

एकान्त एक दृष्टि कोण से ही पदार्थो का विवेचन, ज्ञान और अनुभव नही करते हुए अनेक दृष्टि कोणो से पदार्थों का, और द्रव्यो का विवेचन करना, उनका ज्ञान करना और उनका अनुभव करना ही "स्याद्वाद" है ।

स्याद्वाद को अपेक्षा वाद, अनेकान्त वाद भी कहते है । इसके सात भागे "अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य" इन तीन शब्दो के आधार से बनते है । ज्ञान और नय का सम्मिलित नाम ही स्याद्वाद है । स्याद्वाद के सबध में विशेष इसी पुस्तक की भूमिका से समझना चाहिये ।

क्ष

१—क्षेत्र

क्षेत्र के दो भेद है:—१ द्व्य क्षेत्र और २ भाव क्षेत्र ।

(१) भौतिक पदार्थों और जड द्रव्यो की पृष्ठ-भूमि को ख्याल में रखकर कहा जाने वाला विवेचन प्रणालि "द्रव्य-क्षेत्र" से सबधित मानी जाती है ।

(२) आत्मा से सबधित पृष्ठ भूमि को ख्याल मे रखकर कही जाने वाली विवेचन प्रणाली "भाव-क्षेत्र" के नाम से बोली जाती है ।

त्र

१—त्रस

जो जीव भूख, प्यास, सर्दी, गरमी आदि से अपनी रक्षा करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकता हो, वह त्रस कहलाता है ।

त्रस के ४ भेद है—१ दो इन्द्रिय जीव-२ तीन इन्द्रिय जीव, ३ चार इन्द्रिय जीव और ४ पाच इन्द्रिय जीव !

शरीर और जीभ वाले जीव दो इन्द्रिय जीव हैं, जैसे केंचुआ, जोक और शख आदि। शरीर, जीभ और नाक वाले जीव तीन इन्द्रिय जीव है, जैसे कि चींटी, खटमल, जूं आदि। शरीर, जीभ, नाक और आँख वाले जीव चार इन्द्रिय हैं, जैसे कि बिच्छू, भौंरा, मक्खी, मच्छर आदि। पचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं, एक तो मन वाले; जो कि सज्ञी कहलाते है और दूसरे विना मन वाले, जो कि असज्ञी कहलाते हैं।

पचेन्द्रिय जीव के शरीर, जीभ, नाक, आख और कान-ये पांचो इन्द्रियाँ होती है।

संज्ञी जीवो में नारकीय जीव, देवता, मनुष्य, और पशु पक्षी, तथा जलचर पंचेन्द्रिय जीव माने जाते हैं।

ज्ञ

१—ज्ञान

जिस शक्ति द्वारा पदार्थों का स्वरूप जाना जाता हो, पदार्थो का निश्चय किया जाता है, वह ज्ञान है। ज्ञान आत्मा का मूल और अभिन्न लक्षण है।

मिथ्या दृष्टि का ज्ञान "अज्ञान" कहा जाता है और सम्यक्-दृष्टि का ज्ञान "सम्यक् ज्ञान" बोला जाता है।

ज्ञान के पाँच भेद हैं—१ मति ज्ञान, २ श्रुति ज्ञान ३ अवधि ज्ञान, ४ मन. पर्याय ज्ञान और ५ केवल ज्ञान। इनका स्वरूप यथा स्थान पर लिखा जा चुका है।

अज्ञान के ३ भेद हैं—१ मति अज्ञान, २ श्रुति-अज्ञान और ३ कुअवधि अथवा विपरीत अवधि ज्ञान।

सम्यक् ज्ञान का ही नाम–प्रमाण है। प्रमाण के दो भेद किये हैं:—१ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष।

उपरोक्त पाँचो भेद प्रत्यक्ष के ही समझना चाहिये। इसी प्रकार परोक्ष के भी जो पाँच भेद-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम किये जाते हैं उनका भी मति ज्ञान और श्रुति ज्ञान में अन्तर्भाव समझ लेना चाहिए।